प्रथम-संस्करण
सन् १९५३

मूल्य—५)

मुद्रक
श्री मणिशंकर लाल
श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड
पटना

समर्पण

परमपूज्य पिताजी को—

जिनसे भक्ति-साहित्य

की पहली शिक्षा मिली।

—*सिद्धिनाथ*

पति विनु पत नहीं पति विनु गति नहीं,
सुन्दर सकल विधि एक प्रतिव्रत है ॥[1]

एक राम को पति मानकर दिन बितानेवाली आत्मा दान का प्रतिदान नहीं चाहती। वह सदा एकरस रहती है। पति ने यदि सुख दिया तब तो सुख ही सुख है और यदि दुःख भी दिया तो मौज में कमी नहीं होती।

सुन्दर पतिव्रत राम सो सदा रहै इक तार।
सुख देवै तो अति सुखी दुख तो सखी अपार॥

इस पति से अलग रहकर आत्मा तड़पती रहती है—सारी जिन्दगी मिलने की आशा लगाए बैठी रहती है। दिन भर राह देखना और रात भर सिसकना यही उसकी दिनचर्या है। हृदय उसका जलता रहता है, मन की पीर वह दबाए कैसे और नहीं दबाये तो कहे कैसे ? अधजली लकड़ी की तरह न जल्दी-जल्दी स्फुलिंग निकालकर अपने को जला ही सकती है, न बुझाकर तड़प से किनारे हट सकती है ! घुल-घुलकर मोमबत्ती की तरह जलना उसकी किस्मत में बदा है।

सुंदर बिरहिनी अधजरी दुःख कहै मख रोइ।
जरि वरि कै भस्मी भई धुँवा न निकसै कोइ॥

इस अध्यात्म प्रणयिनी ने विरह की ठगमूरि खा ली है—प्रेम की पीर कुछ ऐसी चीज है कि कड़ुवापन के कारण न उसे रखते बनता है न मिठास के कारण छोड़ते। इस कटु रस को पीकर वह सुधबुध खो बैठी है। उसके मुँह पर ताला लग गया है—इसका स्वाद कहते नहीं बनता।

---

१ कल्याण—'योगाङ्क' पृ० ८१९.

दर्शनों की छानबीन करने के बाद जब सुन्दरदास के सामने ब्रह्म के अस्तित्व-अनस्तित्व का प्रश्न आता है तो वे बड़ी उलझन में पड़ जाते हैं। वे समझ नहीं पाते कि उसे 'है' कहा जाय अथवा 'नहीं'। यह वही धरातल है जहाँ ब्रह्म की सूक्ष्मातिसूक्ष्म मीमांसा करने के बाद वेदों को चिल्ला-चिल्लाकर 'नेति-नेति' कहना पड़ा था। सुन्दरदास ने न तो उसे बिल्कुल 'हाँ' ही कहा न बिल्कुल 'ना' ही—समाधान के लिए उसे 'है' और 'नहीं' के बीच में माना। वह है भी और नहीं भी है। कहना नहीं होगा, यह स्पष्टतया उपनिषदों का ही स्वर है जो सुन्दरदास की रचनाओं में साफ-साफ उतर आया है। वे कहते हैं—

'नाहीं-नाहीं' कर कहै '-है' करे बखानि।
'नाहीं' 'है' के मध्य है सो अनुभव की जानि॥

और, ठीक-ठीक सोचा जाय तो बात यथार्थ दीखती है। जिसे देखा नहीं जा सकता उसे 'है' कैसे कहा जाय और सूक्ष्म शक्तियों को अनुभव करते हुए 'नहीं' कैसे कहा जाय! उसे निर्विशेष कहा जाय तब भी झंझट है, सविशेष कहा जाय तो भी। वास्तव में वह तो जैसा है वैसा ही रहेगा—किसी के कहने-सुनने से तो कुछ दूसरा होता नहीं—'जो कहूँ सो तो है नहिं सुन्दर, है तो वही पर जैसे को तैसो!' इसलिए अच्छा यही है कि—

सुन्दर अंदर पैठ करि दिल में गोता मारि।
जो दिल ही में पाइए साँई सिरजनहारि॥

इसके लिए हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव की तनिक आवश्यकता नहीं है—

प्राक्कथन

निर्गुण संत 'सत्' (सत्य) के उपासक थे और 'सत्य' में पूरी आस्था रखते हुए इसी के अनुसंधान में अपने जीवन को लीन कर चुके थे। सत्य की व्यापक अनुभूति ने उनमें उसके प्रति तादात्म्य का भाव उत्पन्न कर दिया था जिसके फलस्वरूप परोक्ष सत्ता का रहस्य सम्यक् दर्शन बन कर उनके जीवन में उतर आया था। इन संतो का व्यक्तित्व इतना निष्कपट एवं निर्द्वन्द्वपूर्ण था कि संकुचित या संकीर्ण भावनाओं के लिए वहाँ कोई स्थान ही नहीं था। इस सत्य की उपलब्धि के लिए कबीर ने खुली आँखों से विश्व को परखने की सलाह दी है और यह भी कहा है कि 'किसी ने कुछ कह दिया उसे उसी रूप में ग्रहण मत करो, अपने निजी अनुभव की कसौटी पर जांचकर देख लो कि वह चीज कैसी है।' अपनी साखियों में इसी 'सत्य' का दिग्दर्शन संतों ने कराया है। साखी, वास्तव में, 'साक्षी' का तद्भव रूप है जिसका तात्पर्य किसी वस्तु को अपनी आँखों से जांचकर, जब आवश्यकता हो, प्रमाण-स्वरूप पेश करना है। संतों की साखियों में मुख्यतः उन्हीं बातों का समावेश है जो लोक-जीवन में बिखरी पड़ी थीं; जिन्हें उन्होंने दैनिक जीवन में

और शिव को प्रसन्न कर तेजस्वी पुत्र पाने का वरदान प्राप्त करता है। कालक्रम से सुजान की उत्पत्ति होती है। बड़े होने पर शिकार खेलते हुए एक दिन जंगल में सुजान राह भूलकर देवों की मढ़ी में पहुँच जाता है। रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली के जन्मोत्सव में जानेवाले देव राजकुमार को भी सोते ही उठाकर रूपनगर पहुँचा देते हैं और चित्रसारी में छोड़कर जन्मोत्सव देखने जाते हैं। सुजान की नींद टूटती है और अपने को स्वर्ग में समझकर वह चित्रसारी में घूमने लगता है। चित्रावली का चित्र देखकर वह लोटपोट हो जाता है, दीवाना बन जाता है। अपना चित्र उसके पास बनाकर वह पुनः सो जाता है। देव उत्सव से लौटते हैं और सुजान को सोता उठाकर पूर्वोक्त मढ़ी में पहुँचा देते हैं। नींद टूटने पर वह व्याकुल हो जाता है। उसे खोजने के लिए निकले हुए चर उसे राजमहल पहुँचाते हैं। वहाँ वह सर्वदा विरह से उद्विग्न रहता है। उधर राजकुमारी चित्रावली की भी यही दशा होती है। एक योगी के परिश्रम से रूपनगर में दोनों की भेंट होती है, पर तुरत ही सुजान अंधा बनाकर कंदरा में डाल दिया जाता है—वहाँ एक अजगर निकलता है, पर एक दैत्य उसे चक्षुदान देता है। एक हाथी उसे पकड़ता है, फिर उस हाथी को एक पक्षिराज ले उड़ता है। गिरकर वह समुद्रतट पर पहुँचता है जहाँ सागरगढ़ की राजकुमारी कँवलावती से भेंट होती है। अपना शौर्य दिखलाकर सुजान उस युवती से शादी कर लेता है। चित्रावली का अनुसंधान पुनः प्रारंभ होता है। वह घूमता-घूमता रूपनगर जाता है। राजा शादी करने में आनाकानी

पूर्णतः अनुभव किया था और जिन्हें वे साधिकार सबके सामने रख सकते थे।

संतों की मूलभूत भावना अपने युग की परिस्थिति-विशेष से आविर्भूत थी। न तो दर्शन-संबन्धी विवाद करना उनका काम था, न रस-ध्वनि समझाना उनका पेशा था और न नीति के आदेश सुनाना उनका रोजगार था। वे मस्त फकीर थे, बहुश्रुत एवं पारखी। स्वतः आँखों से जो कुछ देखा उसे आत्मा की तुला पर तौलकर ईमानदारी से लोगों के सामने रख दिया। ये दार्शनिक नहीं थे—कहीं भी दार्शनिक होने का इन्होंने दावा नहीं किया। ये साधक थे, ब्रह्म के उपासक और सच्चे आराधक। उपासना करते-करते जो बातें मुँह से निकलीं; उन्हें कोई दर्शन मान ले तो, पिंगल मान ले तो—संतों को इससे कोई बहस नहीं। 'निर्गुण काव्यदर्शन' के लेखक ने संतों की वाणियों का मूल्यांकन इसी भावभूमि पर रखकर किया है। संतकाव्य में काव्य का स्वरूप गौण है, कम से कम उसके सृष्टाओं ने उसके काव्यपक्ष पर बल नहीं दिया था। श्री सिद्धिनाथजी ने कबीर के 'लोग कहैं यह गीतु है यह निज ब्रह्म विचार रे' इस उक्ति को आधार मानकर कबीर की साहित्यिक देन पर विचार किया है और यह सिद्ध किया है कि 'मसि कागद' नहीं छूनेवाला भी अनायास ही जो कुछ बोल उठता है, उसमें रस-अलंकारादि नहीं है, ऐसी बात नहीं। हृदय से निःसृत होनेवाली बातों में स्वतः हृदय को छूने की शक्ति रहती है और इन मर्मी कवियों में मर्म-स्पर्श करने की शक्ति किसी भी रस-पिंगल के जानकार से कम नहीं थी।

प्रतीकों को लेकर खड़े होते हैं जिनका निराकरण करना तबतक आसान नहीं होता जबतक इन प्रतीकों को ही गलत न मान लिया जाय।

नूर मुहम्मद ने आत्मा और परमात्मा संबन्ध को व्याप्त करने के लिए एक नवीन प्रतीक की उद्भावना की है। उसकी कहानी में माली और वाटिका के आधार पर रूपक बाँधा गया है। इस रूपक में वाटिका हृदय है, माली गुरु है जिसकी चेष्टा से आराध्य का दर्शन हो सकता है। इस प्रतीक में सारे आध्यात्मिक अंग स्पष्ट नहीं हैं अतः दूर तक इस खींचकर रूपक का निर्वाह संभव नहीं हो सका है।

नारद—सूफी काव्य में 'नारद' शैतान का प्रतीक है। यह नारद हिन्दू देवता नारद की तरह ही भगवान का कृपा पात्र है, पर हिन्दू देवता नारद के सद्गुण उसके पास नहीं हैं। सूफियों का नारद धर्मी लोगों को पापमार्ग पर ले जाता है—'धरमिहिं धरि पापी जेर कीन्हा' यह सत्कर्मियों से दूर रहता है और जो कुरान पढ़ते हैं उनके पास नहीं फटकता—

सुनत ताहि नारद उठि भागै।
छूटे पाप पुन्नि मुनि लागै।।

प्रस्तुत पुस्तक बीस परिच्छेदों में है। निर्गुनमत का क्षेत्र बहुत ही विशाल और विस्तीर्ण हैं। उसके संबन्ध की प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण बातें इतनी सीमित पटभूमि में एकत्रित कर देना कठिन है। इस प्रयास में विद्वान लेखक को जो सफलता मिली है, उसके लिए वह हमारी बधाई के पात्र हैं। ज्ञानमार्गी संतों में कबीर की प्रमुखता तो स्पष्ट ही है, दादू, नानक, रैदास और मलूकदास की काव्यकला के साथ-साथ उनकी दार्शनिक विचारधारा को सरल-रोचक शैली में प्रस्तुत करके लेखक ने इस पुस्तक की उपादेयता बढ़ा दी है। प्रेममार्गी संतों में जायसी पर बहुत कुछ लिखा मिलता है, पर मंझन, कुतुबन, उसमान और नूरमुहम्मद पर एक ही जगह दर्शन तथा काव्य-संबन्धी इतना ठोस अध्ययन कहीं नहीं मिलता। 'कबीर और आधुनिक निरगुनिए' शीर्षक स्तंभ सर्वथा मौलिक चीज है। लेखक ने इस दिशा में एक नया कदम बढ़ाया है। संत-साहित्य में बिखरी सामग्रियों का एकत्रीकरण उन्होंने बड़े परिश्रम एवं मनोयोग से किया है। सूफी और ज्ञानाश्रयी साहित्य की समवेत आलोचना प्रौढ़ रूप म प्रस्तुत करने में इस पुस्तक का विशेष महत्त्व है।

हमें लेखक के इस प्रयत्न से अत्यन्त संतोष है और भविष्य की प्रगति के प्रति विश्वास भी। आलोचना क्षेत्र में आपकी कृतियों का अपना विशेष स्थान हो, हमारी यह शुभकामना है।

विश्वनाथ प्रसाद
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
पटना विश्वविद्यालय

मेष-संक्रांति, सं० २०१०

निवेदन

संत-साहित्य में कबीर और जायसी प्रमुख हैं। इनके संबन्ध में गत दस वर्षों से अनेकानेक छोटे-बड़े ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। 'निर्गुण काव्य-दर्शन' इसी परंपरा की एक कड़ी है। निर्गुण-साहित्य साधारणतः जटिल होता है और परीक्षा के लिए कोई इसे जबरन भले ही पढ़े सामान्यतः इसे कम ही लोग पढ़ते-समझते हैं। दर्शन की जटिलता विषय को बोधगम्य बनाने में सदैव बाधक रहती है। प्रस्तुत पुस्तक में निर्गुणमत के दार्शनिक पहलू के साथ-साथ उसके काव्य पक्ष पर भी विचार किया गया है। संतकाव्य में कोई विषय एकान्ततः एकांगी रूप में शायद ही कहीं मिलता है—संतों की विचार-भूमि में उनका जीवन दर्शन भी है, काव्यादर्श भी है। इन सब की समष्टि ने संत-काव्य के साहित्यिक आकलन को दार्शनिक प्रौढ़ता दी है। इन्हीं तत्वों से ऐतिहासिक अनुशीलन की सीमाएँ भी बँधी हैं। पुस्तक में प्रसंगवश कुछ ऐतिहासिक तथ्यों का भी निरूपण किया गया है किन्तु विषय को अधिकाधिक उपयोगी और समवेत रूप से

ज्ञानवर्द्धन के लिए वैसा किया गया है। यहाँ हमारा उद्देश्य मूलतः यही रहा है कि निर्गुण-साहित्य को सरल से सरल एवं रोचक से रोचक रूप में स्पष्ट किया जाय और इस विषय की सभी ज्ञातव्य बातें समाहित हो जांय।

संतों ने अपनी प्रेरणा जीवन की उर्वर-भूमि से स्वतः प्राप्त की थी अतः उनका ज्ञान महज रूखा-सूखा न होकर सरस, सजल एवं प्राञ्जल है। इन परफूंकों ने अपनी प्रतिभा को किसी साहित्यिक या दार्शनिक मतवाद की खूंटी में जकड़ नहीं दिया। अतः इनकी विचार-धारा में स्वातंत्र्य है, व्यापक मान्यताओं को ग्रहण करने की क्षमता है। हमने इन सभी दृष्टियों से संत-काव्य को परखने का प्रयास किया है।

परंपरागत निर्गुण काव्यालोचन पद्धति पर ध्यान नहीं देते हुए अपनी निजी विचारधारा का आश्रय लेकर संतकाव्य का अध्ययन यहाँ अभिप्रेत है। इस दिशा में चौथे और पांचवे परिच्छेद दर्शनीय हैं। हमारे विचार से कबीर का व्यक्तित्व मध्ययुग में ही लुप्त न होकर बीसवीं शताब्दी में भी भिन्न-भिन्न रूपों में अवतरित हुआ है। हमने 'कबीर और आधुनिक निरगुनिए' शीर्षक स्तंभ में कबीर की परंपरा को गांधी और महादेवी तक खींचने की चेष्टा की है और संतों की पृष्ठभूमि में आधुनिक निरगुनियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। आरंभिक परिच्छेदों में संत-दर्शन को वैदिक अथवा औपनिषदिक दर्शन के सामानान्तर रखा गया है। हमारा विश्वास है कि जिस तत्त्वज्ञान की प्राप्ति पढ़लिखकर वैदिक ऋषियों ने शास्त्रार्थादि द्वारा

की थी उसकी उपलब्धि निरक्षर संतों ने 'खुले नयन पहिचानों हँसि-हँसि' जागृत आत्मा के प्रकाश में की। इसलिए संतवाणी के समानान्तर-अध्ययन के लिए हमने फुटनोट में उपनिषदों की वाणियाँ उद्धृत की हैं जिनसे सबल-निर्बल सभी सीमा-रेखाओं का अतिक्रमण करनेवाली संतों की प्रतिभा के दार्शनिक चिंतन की उच्चता का रहस्य स्पष्टतया समझ में आ जाय। 'पंडित मुल्ला जो लिख दिया छाँड़ि चले हम कछु न लिया' की टंकार से दिशाओं को गुंजरित करनेवाला अक्खड संत बिना 'मसि-कागद' स्पर्श किये स्वयं सोच-विचारकर क्या बोलता है, इसे दिखलाना हमारा कर्त्तव्य रहा है। संतों ने झोंके-झँकोरे खा-खाकर रुक्षस्वर में जो भी कहा उसमें भाषा के आभिजात्य और उसकी अर्थसत्ता का कम, जीती-जागती लोक-व्यवहृत प्रवहमान भाषा का रूप ही अधिक मूर्तिमान रहा। हमने संतों की बौद्धिकता के साथ उनके प्रखर-तीक्ष्ण व्यक्तित्व को भी सदा ध्यान में रखा है।

कबीर और जायसी हमारे अध्ययन के मुख्य बिन्दु रहे हैं पर उनके साथ ज्ञानमार्ग के पाँच और प्रेममार्ग के चार प्रमुख संतों की काव्य चेतना और दार्शनिकता की विवेचना भी की गई है। इस अध्ययन में पूर्वापर परंपरा का पालन दिखलाकर मध्ययुगीन धर्म साधना की व्यापक पट-भूमि का चित्र प्रस्तुत करना हमारा लक्ष्य है। सामान्यतः 'विषय-क्रम' को देखने से कुछ परिच्छेदों की विषयगत कमी महसूस की जा सकती है, जिससे इन पंक्तियों का लेखक पूर्णतया अवगत है, किन्तु एक ही ग्रंथ में समग्र संतकाव्य के सभी पहलुओं पर विचार भी तो संभव नहीं है!

'निर्गुण काव्यदर्शन' में निर्गुणमत संबन्धी बिखरी सामग्रियों को एकत्रित करने का प्रयत्न तो है ही साथ ही प्रत्येक परिच्छेद में मौलिक ढंग से विषय पर विचार करने की भी चेष्टा की गई है। 'हिन्दी साहित्य को जायसी की देन' 'निर्गुण-सगुण भावना', 'निर्गुण काव्य का व्यवहार पक्ष' तथा 'कबीर और आधुनिक निरगुनिए' प्रभृति स्तंभ नितान्त मौलिक परिच्छेद हैं। विविध संतों की जीवनी, काव्य तथा दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना भी मौलिक ही है। पुस्तक में स्नातकोत्तर विद्वानों के लाभार्थ अंत में परिशिष्ट जोड़ दिया गया है जिसमें संतों की पारिभाषिक शब्दावली और प्रतीकों पर सविस्तर टिप्पणियाँ लिखी गई हैं। आठवें परिच्छेद के लिए हम स्वर्गीय डा० बड़थ्वाल के ऋणी हैं और पुस्तक को सर्वाधिक उपयोगी बनाने के लिए हमने वह अंश छाया-स्वरूप ग्रहण कर लिया है।

जिन मित्रों को इस पुस्तक के प्रकाशन के कारण प्रतीक्षा करनी पड़ी उनसे हम क्षमाप्रार्थी हैं। इसका प्रणयन सन् १९४८ में ही हो चुका था और तब से यह प्रेस में दुबकी पड़ी रही। इस बीच नये अनुसंधान भी हुए हैं जिनसे लाभ नहीं उठाया जा सका है और न हमें मुद्रण के पूर्व पुस्तक को फिर से दुहराने का ही अवकाश मिला है, फिर भी इसकी उपादेयता में लेखक को पूर्ण विश्वास है और अपने प्रयत्न पर आस्था भी।

'संतमत की दार्शनिक पृष्ठभूमि' का निदेश श्रद्धेय डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी से प्राप्त हुआ है, और तीसरे परिच्छेद के भी मंत्रदाता वे ही हैं। श्रद्धेय नलिनजी को तो मैं अपने साहित्यिक-जीवन का

सूत्रधार ही मानता हूँ—यदि वे उत्साहित नहीं करें, तो मैं कुछ लिखूँ ही नहीं। उनका ऋण हम पर इतना अधिक है कि उऋण होने की सोच ही नहीं सकता, और ऐसा चाहता भी नहीं हूँ। और श्रद्धेय डा० विश्वनाथ प्रसाद जी के मार्गदर्शन के प्रति कृतज्ञताज्ञापन तो हमारी जबरदस्त हिमाकत ही होगी--उनसे जब मिला कुछ सदैव पाया। हम पर उनका सदा स्नेह रहा है, तभी तो कार्यव्यस्तता के कारण अवकाश नहीं रहने पर भी उनसे 'प्राक्कथन' लिखवा सका !

अंत में, मित्रद्वय ललित मोहन और सीताराम शर्मा को धन्यवाद देकर उन्हें सहायता पहुँचाने के लिए शाब्दिक शाबाशी देता हूँ। श्रीमती तिवारी से भी मुझे कम सहायता नहीं मिली है, पर यह तो उनकी ही चीज है, फिर धन्यवाद कैसा ? मणिशंकरजी ने पुस्तक को प्रकाशित करने में सचेष्टता दिखलाई, एतदर्थ वे अवश्य धन्यवाद के पात्र हैं।

पुस्तक में जिन विद्वानों की पुस्तकों से सहायता ली गई है उन सबके प्रति लेखक कृतज्ञता प्रकट करता है।

लोहानीपुर
पटना-३

—सिद्धिनाथ तिवारी

विषय-क्रम

ज्ञानमार्ग पृष्ठ-संख्या

ज्ञान-मार्ग

पूर्वाभास

अरब, मिस्र, ग्रीस आदि देशों से भारत का व्यापार-संबन्ध बहुत पुराना है। फ़ोनेशियन और ग्रीकों के बाद फारस और अरब-वालों का व्यापार बढ़ा और भारत ही उनका मुख्य बाजार हो गया। इतिहासज्ञों का कहना है कि भारतीय समुद्र में ईसा की ७ वीं शताब्दी में खलीफा उमर का भेजा हुआ अरबों का प्रथम व्यापारी जहाज आया था। तब से लेकर लगातार १४वीं-१५वीं शताब्दी तक उनका व्यापार भारत के साथ चलता रहा। भारत की धन-राशि उन्हें बार-बार जोरों से खींचती रही। दक्षिणी भारत के तटों पर ही उनके पोत उतरते थे और मालाबार में उनकी संख्या दिनों-दिन बढ़ती गई, यहाँ तक कि वे वहाँ बसने लगे और पड़ोसी हिन्दुओं से शादी-विवाह भी करने लगे। हज्जाज और कासिम ने यहाँ मुसल-मानों की बस्तियाँ बसाई थीं इसके ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं।

हिन्दुओं ने इन बसे हुए व्यापारियों के प्रति काफी सहानुभूति दिखलाई और धर्मप्रचार में सहायता भी दी।[१]

इन दिनों दक्षिणी भारत में बौद्ध और जैन धर्मों के साथ नए हिन्दू धर्म का काफी संघर्ष था। राजनीतिक दृष्टि से भी यह युग हलचल-पूर्ण था। चेर-वंश समाप्तप्राय था, नई-नई शक्तियाँ उठ रही थीं जिनमें संतुलन रखना असंभव हो गया। इस परिस्थिति में, स्वाभाविक है, लोग ऊब गए थे और किसी भी नए विचार को, चाहे वह किसी भी दिशा से आये; स्वीकार करने के लिए बिल्कुल तैयार थे। इसी समय विश्वास और समत्व की भावना लिए इस्लाम का प्रवेश होता है और मालावार में राज्य करनेवाले चेरवंशीय परमाल सम्राट् द्वारा यह धर्म आतुरता से स्वीकार कर लिया जाता है। इस प्रकार के राजाश्रय से इस्लाम की वृद्धि का सुनहला मौका मिला और जहाँ-जहाँ भी कुछ मुसलमान बसे थे वहाँ-वहाँ जोर-शोर से धर्मप्रचार शुरू कर दिया गया। १२ वीं शताब्दी में मुसलमानों की संख्या काफी बड़ी हो गई और उनकी प्रतिष्ठा भी धीरे-धीरे बढ़ती गई। ऐतिहासिकों का कहना है कि पांड्यवंश के राजत्वकाल में अनेक मुसलमान सुंदर पांड्य के मंत्री तक थे। इन लोंडरों ने स्थान-स्थान पर मस्जिदें बनवाईं और मज़ारों का सिलसिला शुरू हुआ।

उत्तरी भारत में अभी तक मुसलमानों की बस्तियाँ नहीं बसी थीं। व्यापार तो पश्चिम से चालू था, पर किसी मुसलमान ने बसने

---

१ Historical sketches of Deccan—Iyer.

की घोषणा नहीं की थी। खलीफा वलिद के समय काफी अधिक संख्या में अरब आये और वे पहलेपहल मुल्तान तथा सिंधप्रांतों में बस गए। इनका विस्तार काठियावाड़, गुजरात और कोकनतट तक हुआ। इस प्रकार महमूद गजनवी के आक्रमण के बहुत पहले ही पश्चिमी भारत में मुसलमान जम गए थे और ऐतिहासिक प्रमाणों ने इसे स्पष्ट कर दिया है कि हिन्दुओं का उनके प्रति काफी सुन्दर व्यवहार होता था।

इन दिनों उत्तरी भारत के धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक क्षितिज पर परिवर्तन के चिह्न दिखलाई पड़ने लगे थे। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में समुद्रगुप्त के राज्यों का जो नाम लिया है वे सभी बदल गए थे। अब न तो लाट और पंचाल देश था; न मालव, कोशल और वत्स ही था। विदेह, कुरु, मत्स्य और चेदिराज्य उजड़ चुके थे। इनके स्थान पर गुर्जर, राष्ट्रकूट, गहरवार, चंदेल, चौहान, परिहार, तोमर, पँवार और सोलंकी राजवंश स्थापित हो गए थे। चक्रवर्ती बनने की लालसा अब समाप्त हो चुकी थी और एक केन्द्र पर इकट्ठा होकर भारत के कल्याण की बात सोचना कोई महत्त्वपूर्ण विषय नहीं रह गया था। परस्पर कलह और फूट का साम्राज्य था। मगध का राजनीति मंडल अब दिल्ली, अजमेर और कन्नौज की ओर खिसक गया था। धार्मिक क्षेत्र में भी काफी विशृंखलता थी। इसी अवसर पर मुसलमानों के आक्रमण प्रारंभ होते हैं। सुबुक्तगीन और गजनवी की वार्षिक चढ़ाइयों से हिन्दू जनता काँप उठी। कला की ओर उन्मुख साम्राज्य फिर से तलवार लेकर

दौड़ा। जिस तलवार ने पहले अपने पक्के पानी का परिचय देकर कितनों को खदेड़ा था उसमें अब जंग लग गया था और पारस्परिक द्वेष ने उसकी शक्ति और भी कम कर दी थी। सोचने की बात है कि सोमनाथ का प्रसिद्ध मंदिर तोड़ा गया और किसी हिन्दू राजा ने करवट नहीं बदली !! अब हिन्दुस्तान का दरवाजा विदेशियों के लिए खुल गया था और यह नया जोश तलवार के अतिरिक्त किसी दूसरे पर विश्वास करने को तैयार नहीं था। फौज बढ़ती गई और सारा उत्तरी भारत बहुत कम दिनों में ही इस्लामी झंडे के नीचे आ गया। आक्रमणकारियों को काफी आश्चर्य हुआ कि कहीं भी उन्हें विरोध मिला ही नहीं !!

मुस्लिम सत्ता के कारण अब सारा रंग बदल गया। ये इस्लाम के बंदे व्यापार करने नहीं आये थे, पनाह माँगने नहीं आए थे; बल्कि विजेता बनकर शासन करने आए थे। अतः स्वाभाविक था कि इनमें वे सारे दंभमय दुर्गुण पाये जायँ जो धार्मिक विजेताओं की वंशगत सम्पत्ति है। इन्होंने हिन्दू-धर्म को जोरों का ठोकर दिया। मंदिर नष्ट किए जाने लगे, मूर्त्तियाँ तोड़ी जाने लगीं और धर्मग्रंथ जलाए जाने लगे। ऊँचे पदों से हिन्दुओं को हटाकर मुसलमानों को प्रश्रय दिया गया और साधारण जनता पर जजिया-कर लगाकर उसे काफी नियंत्रण में रखने की चेष्टा की गई। हिन्दुओं के प्राचीन आदर्शों एवं सिद्धान्तों पर कुठाराघात होने लगा और मुसलमानों की नृशंस एवं असहिष्णु नीति ने जनता के हृदय में असंतोष और विद्रोह की आग भड़का

दी[1] पर वे करते क्या! इतनी शक्ति थी नहीं कि युद्ध करते और ऐसा कोई न्यायालय नहीं था जहाँ उनकी फरियाद सुनी जाती!

इस ने चाहते हुए भी हिन्दू विरोध नहीं कर सके, मन मसोस कर रह गए। कहीं किसी ने छिट-पुट गोलमाल मचाया तो उसे शांत करने में शासक-वर्ग को देर नहीं लगी; राजनीति का हलचल, इस प्रकार, शांत हो चुका था। लेकिन वह कटुता ज्यों-की-त्यों रह गई। जब मुसलमानों ने युद्ध की खुमारी के बाद पास-पड़ोस के लोगों ने बातें

---

१ *अलबरूनी ने साफ़ ईमानदारी के साथ गजनवी की चढ़ाई के परिणामों का उल्लेख किया है*—'Mahamud utterly ruined the prosperity of the country and performed those wonderful exploits by which the Hindus became like atoms of dust scattered in all directions, and like a tale of old in the mouths of the people. Their scattered remains cherish, of course, the inveterate aversion towards the Muslims. This is the reason, too, why the Hindus— sciences have retired far away from those parts of the country which have been conquered by us, and have fled to places to which our hands cannot yet reach—to Kashmir, to Benares and to other places.'

—श्री एम० प्रोथेरो द्वारा 'The Medieval period of Indian History' *(पृ० ५) से उद्धृत।*

करनी चाहीं तो सभी जगह उन्हें हार्दिक उपेक्षा भाव ही दिखलाई पड़ा; ऊरर से भले ही कोई दो बात बोल ले, पर दिल में भभी ज्वाला छिपाए बैठे थे। इस्लामी तलवार अब म्यान में छिप गई थी। राजनीति का अंगार समाज में शोले उगलने लगा। यह कटुता इतनी बढ़ी कि हिन्दू और मुसलमान आपस में आए दिन उलझने लगे—सांस्कृतिक वैषम्य ने दोनों को दो दृष्टिकोणों से सोचने के लिए विवश किया और कोई हार मानने को तैयार नहीं था।

स्वतंत्र चिंतकों ने यह सब देखा। हिन्दुओं का हृदय सदा से सहिष्णु रहा है इसलिए इस कटुता को दूर कर साम्प्रदायिक सीमा से बाहर निकलकर मानव को मानवरूप में समझने की उन्होंने चेष्टा की। यह बात नहीं थी कि जितने भी मुसलमान आए थे वे सभी बर्बर और लुटेरे ही थे—इस्लामी पीरों और दरवेशों ने बहुत पहले से ही लोगों में प्रेम-भाव भरने का सचेष्ट प्रयत्न आरंभ कर दिया था। इस प्रकार काफी दिनों के बाद लोग समझने लगे कि जब साथ-साथ, पास-पास रहना है तो झगड़ा फसाद जहाँ तक कम हो, उतना ही अच्छा है। पाकिस्तान बनने के पहले जो हालत आधुनिक भारत की थी, कुछ-कुछ यही दशा उन दिनों भी थी। संतों का अभ्युदय इसी संघर्षकाल में होता है। पथ-भ्रष्ट जनता को सच्चे मार्ग पर लाने के लिए इन संतों ने घूम-घूमकर अपना ईश्वरीय संदेश सुनाना आरम्भ किया। इनकी वाणियों को पढ़ने से ऐसा मालूम होता है जैसे वे बहुत परिश्रम से लगातार कितने दिनों तक कोई बात समझाना चाहते हों, पर कोई सुनता नहीं, कोई ध्यान

नहीं देखा। संतो की वाणी में इसीलिए अधिक खीझ सुनाई पड़ती है।

इस्लाम में कुछ ऐसी बातें थीं जिनकी ओर हिन्दू जनता बड़े वेग से दौड़ पड़ी थी। हिन्दू-धर्म के जातिभेद, वर्गभेद या श्रेणीभेद ने नीच-ऊँच की भावना का इतना कटु जाल फैला रखा था कि इन सबने शून्य इस्लाम की ओर झुकने में किसी ने कुछ विचार करने की भी आवश्यकता नहीं समझी। इधर हिन्दू-धर्म की बातों ने भी कुरानपंथियों को कम आकर्षित नहीं किया। नतीजा यह हुआ कि दोनों मिलने के लिए व्याकुल हो गए। हर आदमी यह सोचने लगा कि यह रस्साकशी अधिक दिनों तक नहीं चल सकती। लेकिन सवाल था—इस मैत्री के लिए कौन आगे बढ़े? हिन्दू अपने स्वाभिमान में डूबे थे, मुसलमान अपने घमंड में चूर थे। एक ने दूसरे को म्लेच्छ कह-कर हटाया, दूसरे ने काफिर कहकर दुत्कारा—किसी को सांस्कृतिक श्रेष्ठता का गौरव था तो किसी को विजेता बनने का अभिमान। रामानंद के स्कूल ने पहली बार कुछ वीतराग सुधारकों को शिक्षा देना शुरू किया और इस प्रकार दोनों जातियों के कलुष को मिटाने का संकल्प किया। इन्हीं संतों की उदार बुद्धि के फलस्वरूप देश में समन्वयवाद का प्रचार शुरू हुआ और भक्ति की सूक्ष्म धारा का प्रवाह आरंभ हुआ।

प्रेम-भाव फैलाने का यह काम मुस्लिम आक्रमण के ठीक बाद ही शुरू नहीं हुआ। यह कहा जा सकता है कि इस्लामी झंडा यदि भारत में नहीं भी गड़ता तब भी संघर्ष होता और समत्व की माँग

होने पर सुधारक और संत समाज के उन्नयन के लिए मैदान में आते ही। परकीय आक्रमण के बहुत पहले से सूफी संत भारत में मौजूद थे। जब व्यापारी यहाँ माल बेचने आया करते थे तो उन्हीं के साथ धर्मप्रचार की दृष्टि से सूफी और दूसरे-दूसरे संत भी आते थे। ईरान और फारस की धर्मान्धता ने स्वतंत्र विचारवालों को उन देशों से हटने के लिए विवश कर दिया था। भारत की प्रसिद्धि काफी दूर-दूर तक थी, अतः वैसे विचारकों का ध्यान भारत ने आकृष्ट किया हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। ये संत भारत में आकर भारतीय बन गए और यहाँ के संतों में घुलमिल गए। मुस्लिम आततायियों के विक्षोभ से ये बहुत दुखित हुए और दोनों दलों में मेल कराने का इन लोगों ने काफी प्रयत्न किया।

मुसलमानों के आने के पहले हिन्दू-धर्म की स्थिति भी अपने में सर्वांगपूर्ण इकाई के साथ संतुलित नहीं थी। इसमें अनेकानेक मत-मतांतर थे। कोई ब्रह्मवादी है, कोई कर्मकांडी, कोई वैष्णव है, कोई शैव, कोई स्मार्त है, कोई शाक्त। इन मतों के पीछे ग्रंथों का भीषण जंगल था। इन सम्प्रदायों की आचारभावना ने लोगों को वेग से झकझोरा। सामाजिक दृष्टिकोण से ये आचार इन मतों के विकास में व्यवधान बन गए। जबतक मुसलमान आए तबतक सारा का सारा हिन्दू-धर्म आचारमय बन गया था। तीर्थ, व्रत, उपवासादि धर्म के व्यापक और प्रत्यक्ष अंग बन गए थे। कर्मकांडियों ने धर्म को और भी शिकंजे में बाँध दिया। नई सभ्यता और संस्कृति के आगमन से जिन लोगों का झुकाव उस तरफ तनिक भी हुआ उन्हें

संदिग्ध करने में हिन्दू-धर्म ने अपनी इयत्ता समझ ली। इनको आश्रम भ्रष्ट मानकर हिन्दुओं ने अपना दरवाजा बंद कर लिया। इस प्रकार की अज्ञात परिस्थिति में कबीर आदि संतों का आविर्भाव होता है।

इन संतों का वातावरण संध्या की तरह अनेक पक्षियों के रावों से मुखरित है—और इसीलिए सभी बातें यहाँ सम्बद्ध हैं। संतों की भक्ति-भावना या समाज-भावना में हमेशा अनेक धाराओं का संयोग दिखलाई पड़ता है। भीड़ के कोलाहल में एक स्वर सुनना मुश्किल था भी! दक्षिण की वैष्णव-भावना ने देश में भक्ति की एक व्यापक लहर फैला दी जिसके प्रत्येक हिल्लन पर लोग थिरक उठे। वैष्णवों के अलावे नाथपंथी योगियों का भी देश में काफी बोलवाला था। इनकी गुह्य बातें लोगों को बराबर चुनौती देती रहती थीं। इन योगियों की शाखा अब विकृत हो चली थी और षट्चक्रभेदन आदि प्रक्रियाएँ सिर्फ परम्परापालन के लिए ही प्रयुक्त होती थीं। लोगों का विश्वास इन पाखंडी योगियों पर इतना जम गया था कि लाख दोषदर्शन और फटकार के बाद भी लोग हटने का नाम नहीं लेते थे। हठयोग की धारा के अतिरिक्त सूफियों की प्रेम-भावना का भी प्रभाव समाज में बढ़ रहा था। एकेश्वरवादी इस्लामी धारा ने संतों पर जो प्रभाव डाला था इससे कम प्रभाव सूफी-धारा का नहीं पड़ा। इन प्रेम के पुजारियों का निर्द्वन्द्व और निर्भीक अंतःकरण कबीर आदि संतों को प्राप्त था और इसी का यह परिणाम था कि ये संत बेफिक्री और फक्कड़पन के साथ जो जी में आया, बोल सके।

निर्गुण-काव्य को ध्यान से देखने पर इन सभी धाराओं का कल-कल सुनाई पड़ता है। दर्शन के क्षेत्र में निर्गुण-मार्गी कवियों ने वैष्णव मत को भी अपनाया है, हठयोग को भी सराहा है, इस्लाम से भी कुछ लिया है, सूफियों की भी बातें सुनी हैं। यही कारण है कि प्रपत्तिवाद, अहिंसावाद और साम्यवाद के साथ-साथ प्राणायाम, षट्चक्र और कुंडलिनी की चर्चा वहाँ मिलती है एवं मूर्तिपूजा-विरोध, जातिपाँतिखंडन और मद्यनिषेध के साथ-साथ प्रेम की मधुर कल्पना, विरहिणी की तड़प, प्रकृति-पुरुष की केलि और बेहद देश का संगीत भी सुनाई पड़ता है। यह निर्गुण-दर्शन सिर्फ वेदान्त की बोली में ही नहीं बोलता — इसमें विदेशी राग भी है।

संतमत की दार्शनिक पृष्ठभूमि

संतों ने जिस ब्रह्म की उपासना की उसके निर्गुणत्व के लिए उन्हें श्रेय नहीं दिया जा सकता। निर्गुण ब्रह्म की उद्भावना उनके मतिष्क से नहीं हुई और न सूक्ष्म ब्रह्म का पता उन्होंने ही प्रथम-प्रथम लगाया। बहुत दिनों से चली आती हुई ब्रह्म-चिंतन की सूक्ष्म धारा को इनके यहाँ भी प्रश्रय दिया गया, बस। यह धारा वेदों से निकली और उपनिषदों एवं परवर्ती युगों के तट का स्पर्श करती हुई जैन और बौद्ध काल में विस्तृत होती हुई चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में इन संतों के ज्ञानक्षेत्र में सिमट गई। अतः संतमत को ठीक-ठीक समझने के लिए हमें पिछले इतिहास के पृष्ठों को उलटना पड़ेगा। वेदों और उपनिषदों में ज्ञानमार्गी निर्गुण ब्रह्म की खोज करते हुए संतों के ब्रह्म से साक्षात्कार होता है और आश्चर्यजनक साम्य देखकर अनपढ़ 'निरगुनियों' की प्रतिभा पर मुग्ध होना पड़ता है। अलख-निरंजन का विवेचन तो वहाँ पूर्णरूपेण

मिलता ही है, योग की धारा का भी मूल स्रोत यहीं दीखता है।

ऋग्वेद का नासदीय सूक्त सृष्टि की प्रथमावस्था का चित्र बारीकी से खींचता है। इसके अनुसार उस समय न तो सत् की स्थिति थी, न असत् की। सर्वत्र जलराशि का घटाटोप अँधियाला था। इसी वातावरण में व्यक्त सृष्टि की उत्पत्ति हुई। यहीं एक 'पुरुष' आता है जो सृष्टि का नियंता है। पुरुषसूक्त में इस पुरुष की सर्वव्यापकता एवं सर्वशक्तिमत्ता का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसकी व्यापकता इतनी अधिक है कि जो कुछ भूत में था और भविष्य में होगा सभी को 'पुरुष' संज्ञा ही दी गई है[1]। यही पुरुष इस विश्व का उत्पादक तत्त्व है।[2] इसे विश्वकर्त्ता भी कहा गया है। सारा जगत सत्, रज और तम इन तीन गुणों से ओतप्रोत है।[3] लेकिन यह पुरुष त्रिगुणातीत है। यही कारण है कि संसार से वह निर्लिप्त रहता है। वैदिक ऋषि इस 'एक' के संबन्ध में पर्याप्त चिंतन करता है और 'किमपि स्विदेकं' से पूछताछ करना आरम्भ करता है। निर्णय के लिए सूर्य, अग्नि, वरुण और इन्द्र के स्वरूपों पर मनन किया जाता है और इन प्राकृतिक तत्त्वों की पूजा का विधान किया

---

१ 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्' ऋग्वेद १०।९०।२.

२ 'स जातो अत्यरिच्यत् पश्चाद्भूमिमथो पुरः' ऋग्वेद १०।९०।५.

३ 'असच्च यत्र सच्चान्त स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।' अथर्ववेद १०।७।१०.

जाता है। तुरत ही इन्द्र की सत्ता में स्थूलता दिखाई पड़ती है और संदेह किया जाने लगता है 'कुह सेति' 'नैषो अस्तीत्येनं'! और पुनः हिरण्यगर्भ की ओर लौटने की प्रेरणा मिलती है। बहुदेववाद की इस भावना का त्याग कर ऋषि खुले शब्दों में प्रजापति का आह्वान करने लगता है—

यो देवेष्वधिदेव एक आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम।[१]

और यहीं उसे ज्ञात हो जाता है कि वह तो वस्तुतः एक ही है[२] जिसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है—

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।'[३]

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद की इन भावनाओं को व्यक्त करनेवाली भाषा पर भी विचार कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा। पुरुषसूक्त और नासदीय सूक्त की अधिक बातें वचपच शैली में लिखी हुई हैं। ऐसा लगता है, कोई जिज्ञासु संसार और ब्रह्म के रहस्य की गहनता से अवाक् होकर दनादन प्रश्न पर प्रश्न किए जा रहा है[४] और बीच-

---

१ ऋग्वेद १। १६४। ४६

२ यूनानी दार्शनिक एपिकतेतु ने भी कहा है कि क्षुद्र से क्षुद्र वस्तुएँ भी भगवान के अंग हैं। वह एक और सब है। प्रकृति और ईश्वर एक ही है—दोनों में कोई भेद नहीं।

३ ऋग्वेद १०। १२१। ८.

४ को अद्धा वेद क इह प्रवोचत कुत आयाता कुत इयं विसृष्टिः।' ऋगवेद १०। ६.

बीच में समस्याओं का समाधान भी करता जा रहा है। ऐसी परिस्थिति में कुछ सूक्तों की भाषा का रहस्यमय होना स्वाभाविक है। ऐसी भाषा (यथा, नासदासीन्नोसदासीन्नाधिद्रजो नो व्योमा परोयत्) तथा काव्यगत पहेलियों[1] का ऐतिहासिक महत्त्व और भी बढ़ जाता है जब हम उपनिषदों[2] में भी इस प्रकार की शैली का प्रयोग पाते हैं और कबीर के रहस्यवाद एवं आधुनिक छायावाद के मूल अग्रेसरों के रूप में उन्हें देखते हैं।

संतों के ज्ञानमार्ग का आदिरूप अथर्ववेद में वर्णित व्रात्यों[3] की सभ्यता में मिलता है। ये व्रात्य अयाज्ञिक थे और तपस्या के पक्षपाती थे। इनका विशद परिचय पंचविंशब्राह्मण में मिलता है। इनकी व्रतप्रियता के कारण ही इनका व्रात्य नाम पड़ा। शरीर को तपा-तपाकर, घुला-घुलाकर ये अयाज्ञिक तपस्वी ब्रह्मचिंतन में तल्लीन रहते थे। ब्राह्मणों से इनका विरोध रहता था और उनकी दृष्टि में ये हीन माने जाते थे। इनकी ध्यान तप-प्रियता वृद्धि पाती गई और क्रमशः यज्ञकर्म के विरोध में ज्ञानप्रियता की ओर अग्रसर होती गई। इन्हीं में कुछ ऐसे भी हुए जिन्होंने मोक्ष की प्राप्ति को अपना लक्ष्य न मानकर मानव के दुःखनाश की विधि का चिंतन करना आरंभ

---

१ कस्मै देवाय हविषा विधेम। ऋ. १।१६४।४७.

२ नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेत वेद च।
यो नस्तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥ केनोपनिषद् २। १०

३ 'व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत्।'
अथर्ववेद १५।१।१

किया। इन्होंने ज्ञान का ही पल्ला पकड़ा और इसी के माध्यम से दुःखनिवृत्ति की भावना का प्रचार किया। इस ज्ञानवाद में ध्यान, वैराग्य और अभ्यास के तत्त्व सन्निहित थे और इस कारण सांख्य-दर्शन के सिद्धान्तों में भी ये खूब चले आए।

व्रात्य को अथर्ववेद में काफी महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है और उसे 'महादेव' भी कहा गया है—'सोऽवर्धत स महानभवत् स महादेवोऽभवत्।'[1] इस महादेव का आविर्भाव प्रजापति से होता है और ब्रह्म, सूर्य, चन्द्र आदि अनेक तत्त्वों का स्रष्टा बनने का सौभाग्य व्रात्य को ही प्राप्त होता है। व्रात्यकाण्ड की इन विचारधाराओं की ऋग्वेद के पुरुषसूक्त से तुलना करने पर दोनों भावनाएँ अभिन्न मालूम पड़ती हैं। और विद्वानों का कहना है कि अथर्ववेद का यह 'व्रात्य' वस्तुतः ऋग्वेद का 'पुरुष' ही है जो उपनिषदों और सांख्य से होता हुआ संतों के यहाँ 'सत्पुरुष' के रूप में ग्रहण कर लिया गया है।

उपनिषद्-युग में आने पर ब्रह्मचिंतन की शैली में काफी विकास मिलता है। नासदीय सूक्त के 'नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजो नोव्योमा परोयत्' की पेंचीदी बातों को स्पष्ट करने की चेष्टा यहाँ साफ-साफ झलकती है और अनेक स्थलों पर सत् और असत् के पार्थक्य को हटाकर 'पुरुष' को इन दोनों से परे बताया गया है। सूक्ष्म ब्रह्म के 'निर्गुण'[2] विशेषण का भी प्रयोग प्रथमतः यहीं मिलता

---

१ अथर्ववेद १५।१।३

२ इस्लामी दार्शनिक जहम-बिन-सफवान का कहना था कि अल्लाह सभी गुणों या विशेषणों से रहित है। वह 'तौहीद'

है। यह 'एक' ब्रह्म सर्वव्यापी और संसार के सभी प्राणियों में निवास करनेवाला 'निर्गुण' ब्रह्म है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासी साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥[1]

यह ब्रह्म अति सूक्ष्म है और इन्द्रियों के परे है—

अव्यक्तस्तु परः पुरुषो व्यापको लिंग एव च।[2]

इस ब्रह्म को किसी प्रकार नहीं जाना जा सकता, न मन से, न वचन से, न आँखों से—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।[3]

केनोपनिषद् में बार-बार इस बात पर जोर दिया गया है कि ब्रह्म इतना सूक्ष्म है कि उसके पास न आँखें पहुँच सकती हैं, न वाणी की गति है। मन भी उसे नहीं जान सकता अर्थात् इन्द्रियों की पहुँच के बाहर की वह चीज है।[4] अनेक स्थल ऐसे मिलेंगे

का पक्षपाती था। इसकी ही तरह मोतजली भी ईश्वर को निर्गुण ही मानते हैं।

१ *श्वेताश्वतरोपनिषद् ६। ४*

२ *कठोपनिषद् ८। १०६.*

३ *,, १२। ११३.*

४ *न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। केनोपनिषद् १। ३*

जहाँ श्वेताश्वतर में ब्रह्म के मूर्त्त-रूप का निषेध कर उसे एकमात्र मन में ही ध्यान करने योग्य बताया गया है।[1] यहाँ भगवान के सर्वात्मवाद की भावना का भी सुन्दर विकास मिलता है। यह सत्य है कि यह ब्रह्म न मोटा है न पतला; न वायु-सदृश, न आकाश-सदृश; न छायावान, न अंधकारवान;[2] परन्तु संसार की सभी वस्तुओं में यह व्याप्त है और कोई भी जड़-चेतन पदार्थ ऐसा नहीं है जो इसके अभाव में स्थित हो।[3] वस्तुतः वह है तो एक ही, लेकिन सब जीवों में अनेक रूप धारण कर व्यक्त है, ठीक उसी प्रकार जैसे एक ही चन्द्र जल में 'भूते भूते व्यवस्थितः' रहता है।[4] ऐसे ब्रह्म का ज्ञान भला इन्द्रियाँ कैसे प्राप्त कर सकती हैं? यही कारण है कि ऋषि कहता है कि जो यह कहता है कि ब्रह्म को मन से नहीं जाना जा सकता वही वास्तव में उसे जानता है और जो यह विचार

---

*१ अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥
श्वेताश्वतर ३।१८*

२ वृहदारण्यक ब्राह्मण ८।७

३ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्याम् जगत्।—ईशोपनिषद् १।१

*४ एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥ अमृतबिन्दूपनिषद्, मंत्र १२*

करता है कि उसे इन्द्रियों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है वह उसे कदापि नहीं जान सकता ।[१] कठोपनिषद् के अनुसार भी अन्तरात्मा एक ही है उसी से बहुत्व होता है ।[२]

वृहदारण्यक ने आत्मा और ब्रह्म के संबन्ध को और आगे बढ़ाया और दोनों को वस्तुतः एक ही माना ।[३] उसने इस बात पर भी काफी जोर दिया कि ब्रह्म को बाहर से न प्राप्त कर भीतर (आत्मा) से ही प्राप्त किया जा सकता है ।[४] छान्दोग्योपनिषद् ने विश्वपुरुष के रूप में सर्वव्याप्त ब्रह्म का सादृश्य आत्मा में ही प्रदर्शित किया और तैत्तिरीय ने शरीर की उष्णता को सूर्य की उष्णता के समान मानकर यह अनुभव किया कि 'वह जो शरीर में है और सूर्य में प्रकाशित है दोनों ही एक है ।[५] छान्दोग्योपनिषद्

---

१ यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानताम् विज्ञातं अविजानताम् ॥ केनोपनिषद् २ ।११

२ एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
कठोपनिषद् ५ । १२

३ स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवत्यात्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति ॥ वृहदारण्यक १ । ४

४ वृहदारण्यक २ । १

५ स यश्चायं पुरुषे । यश्चासावादित्ये । स एकः ।—तैत्तिरीयोपनिषद् २ । ८

ने यह स्वीकार किया कि पुरुष के भीतर और बाहर निश्चय ही एक आकाश है[1] और पुरुष तथा जीव एक ही है अतः उसके भीतर-बाहर भी एक आकाश है।[2] बृहदारण्यक ने अंत में यजुर्वेद के 'सोऽसावहम्' को ध्यान में रखते हुए घोषणा की 'जो पुरुष है वही मैं हूँ'—'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।' बृहदारण्यक ने पीछे चलकर यह जोरदार शब्दों में कहा कि पहले जो ब्रह्म था वही मैं हूँ। जिन देवों ने उस ब्रह्म को जानने की चेष्टा की वे सभी सर्वात्मक ब्रह्म हो गये।[3]

इन्हीं विवेचनों में ब्रह्म की सूक्ष्म स्थिति को व्यक्त करने के लिए नेति-नेति शैली का प्रयोग मिलता है और साथ ही 'है भी, नहीं भी' की अस्पष्ट वाणी भी मिलती है। याज्ञवल्क्य और गार्गी (बृहदारण्यक) के संवाद की शैली तो प्रसिद्ध ही है; कठोपनिषद् ने भी भगवान को अरूप, अस्पृश्य, अरस, नित्य, अनादि, अनन्त, महान, अगन्ध और अशब्द कहा है।[4] मुण्डकोपनिषद् ने उसे अदृश्य, अग्राह्य,

---

१ यद्वै तद्ब्रह्मेतीदं वाव तद्योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः।—छान्दोग्योपनिषद् ३। १२

२ संतों ने 'घटहि खोजो भाई' कहकर जिसकी ओर संकेत किया है उसका बीज यही है। षटदर्शन की यह प्रवृत्ति सिद्ध और नाथपंथ में योग के रूप में परिलक्षित होती है।

३ बृहदारण्यकोपनिषद् १। ४। ६, १०, ११

४ कठोपनिषद् ३। १५

अगोत्र, अवर्ण, अचक्षु और अश्रोत्र कहा।[1] छान्दोग्य ने यह दिखलाया कि ब्रह्म विश्व के अणु-अणु में व्याप्त है और उससे भिन्न कोई दूसरी सत्ता नहीं है—यही भावना 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के सूत्र से विख्यात है जो ब्रह्मशक्ति के मूलमंत्र के रूप में विद्वानों द्वारा ग्रहण की गई है। बृहदारण्यक ने इसे ही 'अयमात्मा' कहा है, मुण्डक ने 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठं' कहकर उसका जयघोष किया और मण्डूक ने उसे इस प्रकार दुहराया है— 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्।' वस्तुतः ब्रह्म इतना सूक्ष्म है कि ऋषि 'वह क्या है?' इसे स्पष्टतया व्यक्त नहीं कर सकता। यही कारण है कि उसे दोरंगी शैली अपनानी पड़ती है। वह लाचार होकर कहता है—'वह चलता है और नहीं भी चलता। वह दूर भी है, समीप भी। वह इस जगत के भीतर भी है, बाहर भी।'

तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्व्वस्य तदुसर्व्वस्यास्य बाह्यतः॥[2]

कठोपनिषद् ने भी इसी तरह कहा—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।[3]

इसके अतिरिक्त कुछ उपनिषदों में ब्रह्म के लिए 'निरंजन' शब्द

---

१ मुण्डकोपनिषद् १।१।४

२ ईशोपनिषद्, मंत्र ५

३ कठोपनिषद् २।२१

का प्रयोग भी मिलता है। यही 'निरंजन' नाथपंथियों का साध्य-विषय था और संतों ने भी बराबर इसका स्मरण किया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् का एक मंत्र देखिए—

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परं सेतु दग्धेन्धनमिवानलम्॥

यह निरंजन निर्गुण है और योगमार्ग में विशिष्ट स्थान घेर-कर बैठा हुआ है। सिद्ध और नाथपंथ के योगाचार की धारा का उद्भव वेदों और उपनिषदों से ही हुआ है—इस प्रसंग की चर्चा आगे की जायगी।

सांख्यदर्शन में प्रकृति और पुरुष दोनों की सत्ता स्वीकार की गई है और इस संबन्ध में सांख्यकों ने पचीस तत्त्व गिनाए हैं।[1] इन तत्त्वों का पूर्णरूपेण ज्ञान प्राप्त हो जाने पर सुख-दुःख दोनों दूर हो जाते हैं और एक ऐसे ज्ञान की उपलब्धि होती है जिससे समत्व का बोध होता है और संशयात्मक भावना का नाश होकर मुक्ति सुलभ हो जाती है। सांख्य प्रवचनसूत्र ने प्रकृति को त्रिगुणात्मक, जड़, दृश्य और विषय माना है तथा पुरुष को निर्गुण, निर्विकार, द्रष्टा, विषयी और उदासीन माना है। प्रकृति से ही सभी कर्म सम्पादित होते हैं, पुरुष उनका कर्त्ता नहीं होता। यह विश्व दोनों के संतुलन

---

१ *'सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकार-अहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गुणाः।' सांख्यप्रवचनसूत्र १। १०७*

से चलता है। प्रकृति स्वभावतः अचेतन है पर गुणसमन्वित होने के कारण सक्रिय है और इसीलिए चेतन बनती है। यही निष्क्रिय पुरुष के लिए कार्य करती है। अचेतन प्रकृति के कर्म चेतन पुरुष के लिए उसी तरह किये जाते हैं जिस प्रकार निःस्वार्थी दास स्वार्थ त्याग कर अपने स्वामी की सेवा करता है अथवा गाय के थन से बछड़े के लिए अनजान में ही दूध निकलता रहता है।[1] प्रकृति को अविनाशी मानने के प्रसंग में सांख्य का मत है कि असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती और सत् का विनाश नहीं हो सकता (नासदुत्पद्यते न सद् विनश्यति) अतः समग्र विश्व में दो ही तत्त्व नित्य हैं—एक प्रकृति और दूसरा पुरुष, शेष सभी नश्वर और अस्थायी हैं। इस प्रकार सांख्यदर्शन ने ब्रह्म को निर्गुण मानते हुए भी द्वैतभावना को स्वीकार किया।

उपनिषदों के निर्गुण ब्रह्मवाद का विकसित रूप श्रीमद्भागवत और गीता में साफ-साफ झलकता है। आरंभ में ही कृष्ण अर्जुन को यह परामर्श देते हैं कि सारा विश्व त्रिगुणात्मक है। तुम इससे परे हो जाओ—'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।' स्वयं अपने को भी कृष्ण ने इस त्रिगुणात्मक प्रकृति से अलग ही माना है—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥[2]

---

१ 'वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।' सांख्य-कारिका ५७

२ गीता ७। १३

गीता ने स्पष्ट वाणी में परमात्मा की स्वतंत्रता और प्रकृति की परतंत्रता का प्रतिपादन किया है और उसका 'पुरुष' सांख्य के पुरुष की तरह एकदम निष्क्रिय और उदासीन नहीं है। ब्रह्म एक है और उसी से सारे विश्व का प्रवर्तन हुआ है।[१] सारे जगत-विस्तार के भीतर मूल रूप में ब्रह्म ही स्थित है—'बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।' परमात्मा स्वेच्छा से अपनी परा-प्रकृति द्वारा व्यष्टि-भावापन्न नाना जीव के रूप में होकर अपनी परिवर्तनशील त्रिगुणात्मक अपरा प्रकृति के विस्ताररूप स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरों तथा सामूहिक रूप से जगत को धारण करता है। तात्पर्य यह कि व्यष्टि भावरूप जीव और समष्टि भावरूप परमेश्वर ब्रह्म से भिन्न नहीं है।[२] फर्क इतना ही होता है कि जीवात्मा व्यक्तित्व के अहंकार और रागद्वेषादि द्वन्द्वों को स्वीकार करने से अपने वास्तविक रूप का परित्याग कर दुःखी, परतंत्र और अल्पशक्तिमान बन जाती है; लेकिन परमात्मा अपने सर्वात्मभाव का यथार्थ अनुभव रखता हुआ स्वतंत्र, सर्वज्ञ एवं नित्य आनंदस्वरूप रहता है। जीवात्मा अपने राग-द्वेषादि के परदे को फाड़कर जब सर्वात्मभाव से समष्टि का अनुभव करने लगती है तो ब्रह्मरूप हो जाती है।[३] ऐसा इसलिए होता है कि आत्मा वस्तुतः

---

१ अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। गीता १०।८

२ उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ गीता १३।२२

३ वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ गीता ४।१०

परमात्मा ही है। जिस प्रकार सूत के ताने और बाने से भांति-भाँति के कपड़ों का निर्माण होता है परन्तु तत्त्वतः देखा जाय तो वह सूत ही सूत होता है उसी तरह जड़ और चेतन, व्यष्टि और समष्टि, जीव और ईश्वर, ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है, वह सब एक ही है।[1] यहाँ यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि न एक है, न अनेक; न सत् है न असत्—जो कुछ है सब 'अपना आप' ही है, वर्णनातीत, स्वयंवेद्य।[2]

गीता में कृष्ण ने अपने को बिल्कुल निर्गुण कहा है। वे अज, अविनाशी, सर्वव्यापी, निर्विकार और इन्द्रियातीत हैं।[3] गीता का ब्रह्म प्रकट नहीं होता इसलिए कि वह अपनी योगमाया से ढँका हुआ है—अपनी इच्छाशक्ति से निर्मित आधिभौतिक, आधिदैविक जगत के नामरूपात्मक आवरणों से वह आच्छादित है।[4] ऐसे ब्रह्म के सूक्ष्म रूप को मानस-प्रत्यक्ष करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। गीत

---

१ यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ गीता १०।३९

२ परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ गीता १०।१२
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ गीता ७।२४

४ नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोकोमामजमव्ययम् ॥ गीता ७। २५

ने बार-बार ज्ञान की महत्ता स्वीकार की है[1] इसलिए संतों का सूक्ष्म ब्रह्म निर्विकार और इन्द्रियातीत होने के कारण ही ज्ञानगम्य माना गया है।

जैन तीर्थंकरों ने ज्ञान की भावना को और भी आगे बढ़ाया और शुद्धाचार-पालन तथा तपोमय जीवन को ही मोक्ष का सोपान माना। ये तपस्वी साधारण जीवों से श्रेष्ठ माने जाने लगे और तीर्थंकर के रूप में ईश्वर के पद पर आसीन हो गये। ये तीर्थंकर अविद्यारहित, निरंजन, सर्वदर्शी, अमर और सदानन्द माने जाते थे। जैनियों के सिद्धान्त के अनुसार यह जगत अनादि और अनन्त है और इसके प्राणी कर्मपाशवश जन्म लेते और मरते हैं। जैनमत में जगत-कर्त्ता ईश्वर की कल्पना नहीं है। वे आत्मा की दो कोटियाँ मानते हैं—व्यवहारनय और शुद्धनय। व्यावहारनय आत्मा अशुद्ध रूप में है और शुद्धनय आत्मा उस अशुचिपूर्ण क्षेत्र में प्रकाश डालती है जो ज्ञानमय, अतिसूक्ष्म, विकारशून्य, निरंजन और अजन्मा है। तीर्थंकर ध्यान द्वारा बुद्धि को स्थिर कर उसी आत्मा को आत्मा द्वारा आत्मा में देखते हैं और उसकी प्राप्ति कर संसार से पार हो जाते हैं। वह आत्मा सांसारिक व्यवहार से दूर है। ज्ञानमय है, नित्य है और ज्ञानी उसे ज्ञान द्वारा प्राप्त कर लेता है।

जैन साधुओं ने ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार कर मनुष्य को ही आचार-विचार से श्रेष्ठ बनाकर संसार के कल्याणार्थ ईश्वर-पद का अधिकारी बनाया। यज्ञ की बलि ने प्रतिक्रियास्वरूप इन्हें अहिंसा-

---

१ नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। गीता ४।३८

वादी बना दिया। महावीर के बाद जैन सिद्धान्तों में और चाहे किस का पालन हुआ हो या नहीं; अहिंसा का पालन तो खूब किया गया और जमकर किया गया। 'अहिंसा परमोधर्मः' की यह गूँज संतकाव्य में साफ सुनाई पड़ती है। जैनियों के यहाँ ब्राह्मणधर्म की जातिप्रथा को हीन दृष्टि से देखा जाता है और संतों में यह भाव ठीक-ठीक उतर आया है।

गौतमबुद्ध ने अपनी शिक्षाओं के द्वारा अनात्मवाद का विस्तार किया। यह वस्तुतः ज्ञानवाद था और इसके द्वारा साधक अपने को अनित्य दुःखरूप इन्द्रियादि से भिन्न समझते हुए प्रज्ञा के ज्ञानदान में तत्पर रखकर मोक्षपद का अधिकारी बनाने में समर्थ हो सकता था। संसार को अनित्य मानकर गौतम ने निर्वाण को ही नित्य कहा और शुद्ध आत्मा से ही उसकी उपलब्धि स्वीकार की। बौद्धों के निर्वाण-पद की स्थिति वही है जो औपनिषदिक पुरुष की सूक्ष्म स्थिति है। निर्वाण-पद के अधिकारी के सामने न जन्म है, न मरण, न उपाधि, न उपादान, न जल, न आकाश—वह बिलकुल शून्य में रहता है, निर्गुण, निराकार।

बौद्धों के संघ में जातिभेद का नाम नहीं था। बुद्ध ने शिक्षा दी कि जिस प्रकार गंगा-जमुना-सरयू-प्रभृति महानदियाँ सागर में मिलकर पार्थक्य मिटा देती हैं उसी प्रकार संघ में आकर श्रमण संघमय बन जाते हैं। समत्व की इस भूमि पर बुद्ध ने सारे भारत के दलितों को एकत्र किया था। भारत ही क्या, सारा विश्व एक साथ 'बुद्धं शरणं गच्छामि' कह उठा, एक आवाज में। यहाँ ऊँच-नीच,

शासक-शोषित का प्रश्न कैसा ? निर्गुण संतों ने यहीं पर खड़ा हो-कर कहा था—'जातपाँत पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि को होई '

निर्गुणमार्ग में योग और तंत्र का उल्लेख प्रचुर मात्रा में मिलता है। निर्गुणियों ने योग का पथ अस्वीकार करते हुए भी उसकी प्रणाली को ठुकराया नहीं। इस योग का इतिहास वेदों से ही आरंभ होता है। तंत्र में अप्राप्त वस्तुओं को अलौकिक शक्ति के माध्यम से प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है। ऋग्वेद और उसके समकालीन अथर्ववेद में चामत्कारिक प्रार्थनाएँ मिलती हैं और मन को नियंत्रित कर ज्ञानार्जन द्वारा मोक्षप्राप्ति का परामर्श दिया गया है। उपनिषदों ने ब्रह्मज्ञानी के लिए सारी इच्छाओं को त्याग कर एकान्तिक जीवन व्यतीत करने की आदत डालने का निदान स्थिर किया। मैत्री ने साफ-साफ समझाया कि ब्रह्म से तल्लीनता प्राप्त करने के लिए, उससे एकाकार होने के लिए योगसाधन करना परमावश्यक है—

तथा तत्प्रयोगकल्पः प्राणायामः प्रत्याहारः ध्यानं धारणा तर्कः समाधिः षडङ्गा इत्युच्यते योगः।[१]

इस प्रकार उनिषदों का झुकाव क्रमशः आचारपालन, संन्यास और योगाचार की ओर बढ़ता गया। यहाँ तक कि कठोपनिषद् ने खुले शब्दों में ब्रह्मप्राप्ति के पथ की छानबीन करते समय इच्छानाश, मनोनिग्रह, बुद्धि-दृढ़ता आदि पर जोर देकर योगमार्ग की वकालत की—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥

---

१ मैत्री ६ । १८.

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥'

छान्दोग्योपनिषद् में संन्यास-जीवन को श्रद्धा की दृष्टि से देखा गया है और ब्रह्मविद्या की महत्ता बतलाकर तप एवं साधना से परमात्मा को पाने का विधान प्रस्तुत किया गया है। गीता में कृष्ण ने समत्व-योग पर ही आदि से अंत तक भाषण दिया है और स्पष्ट कहा कि जो इन्द्रियों का मन से नियंत्रण करके जीवनपथ पर समत्व भावना लिये चलता है वही श्रेष्ठ साधक है—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुनः ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ३ । ७

गीता में बार-बार इन्द्रियदमन का उल्लेख मिलता है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३ । ३४

बौद्धधर्म और जैनधर्म में मानमारण और इन्द्रियदमन का सिद्धान्त काफी सबल है और सभी सिद्धान्तों के बीच प्रमुख स्थान रखता है। यह सत्य है कि गौतम ने योग को अपने धर्म में स्थान नहीं दिया और न महावीर ने ही उसे अपनाया, पर साधना की प्राथमिक बातें प्रायः वे ही हैं जो योगियों ने बतलाई हैं। गौतम ने प्रत्यक्ष रूप से योग को तो नहीं अपनाया; पर वह विकृत होकर तंत्र के रूप में उनके यहाँ भी डटकर बैठा दिखलाई पड़ता है। जनता में

१ क.उ० ६ । १०, ११.

उन दिनों तंत्र का काफी प्रभाव था और अनिच्छापूर्वक ही सही, गौतम को भी अपने मत को जनता में फैलाने के लिए अपनी वाणी में उसके चमत्कारों का समावेश करना पड़ा। जातक-कथाओं की चामत्कारिक घटनाओं पर कम आश्चर्य नहीं होता!

योग का मार्ग कुछ ऐसा टेढ़ा है कि उसपर अकेले-अकेले नहीं चला जा सकता। एक अत्यन्त अनुभवी गुरु की पग-पग पर आवश्यकता पड़ती है। गुरु के अभाव में योग की प्राथमिक शर्तें भी पूरी नहीं हो सकतीं। यही कारण है कि योगियों के यहाँ गुरु का स्थान काफी ऊँचा है। छान्दोग्योपनिषद् ने 'एवमेवेहाऽऽचार्य-वान्पुरुषो वेद' कहकर गुरु की महत्ता स्वीकार की है। गीता ने भी ज्ञान के लिए गुरु की खोज करने में सावधानी रखने की सलाह दी है। गुरु का महत्त्व फिर सिद्धों के यहाँ माना जाता है और उसमें नाथपंथी और बल देकर संतों तक बढ़ा देते हैं। इन प्रसंगों की चर्चा अगले परिच्छेद में सविस्तर की जायगी।

इस प्रकार हमने देखा कि जिन भावनाओं को संतों ने अपने निर्गुणमार्ग में प्रश्रय दिया वे शृंखला की अंतिम कड़ी के रूप में संतमत में प्रतिष्ठित हैं—हाँ, बहुत समय बाद भी उन संतों द्वारा वे मूलभूत भावनाएँ ज्यों-की-त्यों सँजोई हुई रह गईं, यह देखकर विस्मय होता है। पहली कड़ी के रूप में ऋग्वेद आता है और उसकी झंकार १५ वीं शताब्दी के संतों की बानियों में साफ-साफ सुनाई पड़ती है। निर्गुण-धारा का सारा जीवन-दर्शन एक विकासशील, परंपरा पर अवलंबित है जिसका उद्‌गमस्थल जान लेने के पश्चात् ही हम उसके भीतर प्रवेश करने के अधिकारी बन सकते हैं।

———

सिद्धपंथ और नाथपंथ के साथ निर्गुणमत का सम्बन्ध

गौतम बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् बौद्ध धर्म के संयम में विकार आने लगा। साधकों की साधना के बीच धीरे से कामिनी की पायल बज उठी। भारत के पूर्वी प्रदेशों में वज्रयानियों के मठ काफी प्रतिष्ठा पा रहे थे। यशसौरभ ने मोटी थैलीवालों को अपनी ओर खींचा और मठ के खर्च के लिए अपार धनराशि दान के रूप में इकट्ठी होने लगी। भिक्षुक के रूप में सादे कपड़े पहनकर मालदार मठों में ऐश-आराम करने के लिए परिव्राजकों की संख्या बढ़ चली।[1] संघ-

1 '....Personally the bhikshu has taken the vow of proverty and lives on alms; but the order has possessions, it is rich and the origin of its wealth is of very ancient date, it, as its traditions, which has in no way improbable, allege, it is true some of the donations in

जीवन का आदर्श नष्ट होता गया और ऊपरी तपस्या का ढोंग रचे रहना साधारण बात हो गई। काम या तृष्णा का त्याग बुद्ध की शिक्षाओं का प्रमुख विषय था और स्वयं उनके जीवन में 'मार' से विशेष संग्राम करने की घटना काफी महत्त्व के साथ बौद्ध ग्रंथों में वर्णित है जिससे परिव्राजक आदर्श ग्रहण कर सकें और तदनुरूप आचरण कर सकें। विहारों में भिक्षुओं का जीवन तपोनिष्ठ माना जाता था; पर कालक्रम से (बुद्ध की मृत्यु के पश्चात्) उन्हीं विहारों में भिक्षुओं के साथ भिक्षुणियाँ भी परिव्रजित की जाने लगीं और ईंधन और आग के समीप रहने के कारण भिक्षुओं का विषयोपभोग में कालयापन करना स्वाभाविक ही हुआ।[2] उनके त्याग की शक्ति लुप्त हो गई और उनका धार्मिक जीवन शृंगार की ओर प्रगतिशील हुआ। ऐसा मालूम होता है जैसे बौद्धधर्म के संयम-नियम से मुक्ति पाने के लिए वे विकल-से थे और मौका मिलते ही जंजीरें झटके से तोड़ दी गईं। 'विनयपिटक' की एक घटना के अनुसार जब बुद्ध

---

land were made to it as far back as the time of Budha.'—A. Barth : 'The Religions of India, P. 127.

2 'The abuse of Tantric practices ended in moral degenaration; and there was an absolute lack of any check or restraint upon the free play of passions. All this ended to the overthrow of the dignity of Budhism.'—*'तंत्रवर्तिका की भूमिका (पृ० ७)—डा० गंगानाथ झा।*

का निर्वाण हो गया और सारे भिक्षु रो-कलप रहे थे उस समय सुभद्र नामक वृद्ध साधु ने रोनेवालों से कहा था—'शोक मत करो, मत रोओ, हम आज सनाथ हो गये। क्या तुम्हें ज्ञात नहीं है कि हम उस महाश्रमण से पीड़ित रहा करते थे। हम अब निश्चिन्त हो गये, जो चाहेंगे, करेंगे; जो नहीं चाहेंगे, नहीं करेंगे।'

जब इन साधकों ने यह देखा कि बुद्ध के उपदेशों से हम दूर चले ही आये हैं और लोग श्रद्धा से अंधे ही हैं, साथ ही सारे भोग चरणों में लोट रहे हैं तब क्यों न इनका समुचित उपभोग किया जाय! कहीं ऐसा न हो कि 'राम' भी जाय और द्विविधा में रहने से 'माया' भी हाथ से निकल भागे! अतः श्रेय नहीं तो प्रेय ही सही। और, इस प्रकार मदिरा से तो हृदय की जलन मिटने लगी और कामिनियों के गुदगुदे स्पर्श से शरीर की थकान मिटाई जाने लगी। कल्पनालोक का वासी आदर्शों के अरण्य से वास्तविकता के केलि-मंदिर में विहार करने लगा। फिर तो यहाँ आनन्द ही आनन्द था, रस-ही-रस था। और मजा यह कि ऐसा करने में भी साधना पर तनिक आँच नहीं। शक्ति की पूजा करते समय त्रिपुरसुन्दरी को प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए भैरवीचक्र का विधान किया गया जिसमें शिव की गोद में बैठी देवी का ध्यान किया जाता था और कालक्रम से ये प्रतीक यथार्थ लोक की व्यंजना करने लगे और शिव और पार्वती के रूप में सशरीरी भिक्षु और भिक्षुणी के कार्यकलाप चलने लगे। इन वज्रयानियों ने गौतम द्वारा विवर्जित मद्य मांस मैथुनादि पंचमकारों को सर्वथा ग्राह्य माना और यह भावना इस प्रकर्ष तक स्वीकार को गई कि इनके अभाव में

निर्वाणकी आकांक्षा असंभव ठहराई गई। वे जोर-शोर से इस बात का प्रचार करने लगे कि इस लोक की रचना वज्रनाथ के साधकों के लिए है। उनका कहना था कि निर्वाण के लिए प्रज्ञापारमिता का उपभोग करना चाहिए और चूँकि प्रज्ञा का निवास पृथ्वीतल की प्रत्येक स्त्री में है; अतः स्त्रियोंका भोग बिना किसी संकोच के और बिना किसी भेद से करना चाहिए। ऊँच-नीच का भेद त्याग कर किसी भी तरह की स्त्री के संसर्ग से साधक सहज ही मोक्ष या निर्वाण प्राप्त कर सकता है। ऐतिहासिकों का कहना है कि ७ वीं शताब्दी में उड़िस्सा के राजा इन्द्रभूति और उनके गुरु अनंगवज्र ने अपनी सारी शक्ति लगा कर यह सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि नारी ही मुक्ति देने वाली है और पुरुष ही मुक्ति का उपाय है। शराब उनके लिए अमृत का पर्याय था।

योग-धारा के इसी धरातल पर गोरखनाथ का आविर्भाव होता है इस कामुक धारा से अपने को निर्लिप्त रखते हुऐ समाज को उन्नत बनाने के लिए इन्होंने 'पतञ्जलि के उच्च लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति को लेकर हठयोग का प्रवर्तन किया।'

गोरखनाथ ने वामाचार का खंडन किया और नारी को पाप का द्वार बतलाकर ब्रह्मचर्य या बिन्दुधारण पर जोर दिया। इन्होंने एकाएक इस वेगवती धारा को रोक कर नवीन धारा प्रवाहित करने का दुस्साहस नहीं किया—सिर्फ एक मोड़ दिया, जिसने उसको रूप-रेखा में भी कम परिवर्तन नहीं उपस्थित किये। जिस प्रकार १९वीं शताब्दी में ईसाइयों के बढ़ते प्रभाव से आकृष्ट होती हुई हिन्दू

जनता को अपने कर्म-पथ पर आरूढ़ रखने के लिए राजा राममोहन राय प्रभृति सुधारकों को ऐसे मतवाद की प्रतिष्ठा करनी पड़ी थी जो मूलतः हिन्दुत्व लिए ईसाई धर्म की उन विशेषताओं से भी युक्त हो जो शिक्षित जन-समुदाय को उन दिनों आकृष्ट कर रही थी, उसी प्रकार जनता के बीच जमे हुए सिद्धों के कलुषित प्रभाव को उखाड़ने के लिए एक ऐसे मत का प्रचार आवश्यक था जो ऊपरी योग-जपादि की बातों से पूर्ण रहकर भी आंतरिक आर्यत्व-समन्वित विशुद्धता लिए हुए हो। इस प्रकार सिद्धों की चामत्कारिक बातों को स्वीकार करते हुए गोरखनाथजी ने योग की धारा को अधिकाधिक पवित्र बनाने का प्रयत्न किया।

यह सत्य है कि गोरखनाथ की मृत्यु के पश्चात् नाथपंथ में भी वामाचार फैला पर इतना अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि नाथपंथ ने परवर्ती साहित्य पर जो अपना प्रभाव छोड़ा वह इतना महत्त्वपूर्ण था कि इस पंथ के सम्यक् ज्ञान के अभाव में बाद के साहित्य की अधिकांश बातें रहस्यमय बनी रह जाती हैं और पग-पग पर रुकना पड़ता है। आश्चर्य तो तब होता है जब हम देखते हैं कि न केवल कबीर और जायसी पर ही नाथपंथ की छाप लगी हुई है, बल्कि तुलसी, सूर और मीरा के पदों में भी नाथपंथी छींटे पड़े हुए हैं।

नाथपंथ में योग की प्रधानता रहने के कारण यह स्वाभाविक था कि स्मार्त आचारों को प्रश्रय नहीं दिया जाय। योग का क्षेत्र बहुत सूक्ष्म शरीर के भीतर का क्षेत्र है। अतः बाहरी आचार-विचार का वहाँ कोई महत्त्व नहीं। गोरखनाथ ने पूर्ववर्ती कर्मकाण्ड-संकुल ब्राह्मण

धर्म की विभीषिकाएँ देखी थीं और अवतारोपासना के भयानक दल में गिरते हुए सिद्धों के भग्नावशेषों को भी देखा था। यह सत्य है कि चौरासी सिद्धों ने भी वेद-पाठ, तीर्थस्नान, व्रतोद्यापन, छूआछूत आदि पर जोरदार शब्दों में टिप्पणियाँ की थीं और बहुत अंश तक ब्राह्मण धर्म की नींव को अपनी चकनाचूर करने वाली उक्तियों से हिला भी दिया था पर बाद के सिद्धों में जैसा कि कहा जा चुका है, न तो वैसा विवेक था, न संयम ही जिसके कारण वे तटस्थता का पालन करते। परमसिद्ध सरहपा ने एक दिन ब्राह्मणों की निरंकुशता पर खीझकर कहा था—'ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए थे, जब हुए थे तब हुए थे। इस समय तो वे भी दूसरे लोग जिस प्रकार पैदा होते हैं वैसे ही पैदा होते हैं। तो फिर ब्राह्मणत्व रहा कहाँ? यदि कहो कि संस्कार से ब्राह्मण होता है तो चाण्डाल को भी संस्कार दो, वह भी ब्राह्मण हो जाय; यदि कहो कि वेद पढ़ने से कोई ब्राह्मण होता है तो क्यो नहीं चाण्डालों को भी वेद पढ़ाकर ब्राह्मण हो जाने देते? और आग में घी देने से मुक्ति होती हो तो सबको क्यों नहीं देने देते ताकि सब मुक्त हो जायँ? होम करने से मुक्ति होती हो या नहीं, धुँआ लगने से आँखों को कष्ट जरूर होता है'।[1] इसी पीठिका पर खड़े होकर गोरखनाथ भी बोलते हैं—'सूर्य-ग्रहण के समय मिट्टी के बर्तन

---

१ *'हिन्दी साहित्य की भूमिका', पृ० ३२—*
'बह्मणेहि म जाणन्त ही भेउ, एवइ पढ़िअउ एच्चउ वेउ।
मट्टी पाणी कुश लइ पढ़न्त, घरहिं वइ स अग्गि हुणन्त।
कज्जे विरहइ हु अवह होमे, आक्खऽहाविह धुम्मे।

और जल आदि को अशुद्ध समझ कर छोड़ देते हो, किन्तु धान्य, घृतादि को क्यों नहीं फेंक देते ? बात यह है कि जलाशय में जल तो मिल जाते हैं और कुम्हारों के घर मिट्टी के बर्तन भी मिल जाते हैं; फिर क्यों न इन्हें त्याग कर आचारवान बन लिया जाय ! पर घी और धान्य वगैरह खरीदने में तो बहुत पैसे लगते हैं, फिर इन्हें कैसे अपवित्र मानते ?'

इन उद्धरणों की पृष्ठभूमि में संतों के काव्य पर विचार करते हुए आश्चर्यजनक साम्य देखकर अक्सर विस्मय होता है। संतों ने भी ठीक उसी तरह स्मार्त आचारों, तीर्थ-व्रत, छूआछूत आदि का खंडन किया जिस तरह नाथपंथियों और सिद्धों ने किया था। पंडित और अवधूत को संबोधित करते समय कबीर[1] और दादू भी कम बिगड़ैल नहीं दीखते। ब्राह्मण धर्म के प्रति जितनी कटुता नाथपंथियों में थी ठीक

---

१ कबीर के विचार—

'कहु रे पंडित बामन कब के होए,
बमन कहि कहि जनमु मत खोए।
जौ तू ब्राह्मण ब्राह्मणी जाइआ,
तउ आन बाट काहे नहि आइआ॥
तुम कत ब्राह्मण हम कत सूद,
हम कत लोहू तुम कत दूध।
कहु कबीर जो ब्रह्म बीचारै,
सो ब्राह्मणु कहियतु है हमारै॥—'संत कबीर', पृ० ६

उतनी ही कर्कशता संतों ने पंडित धर्म और मुल्ला धर्म के प्रति दिखलाई। पंडित को ललकारते हुए कबीर की अक्खड़ता देखिए—कैसी खीझ है, कितनी तीव्रता है!—

पंडित देखहु मन महँ जानी।
कहुँ धौं छूति कहाँ धौं उपजीत यहि छूति तुम मानी॥
बादे बंदे रुधिर के संगे घर ही मँह घर रुपचै।
अष्ट कँवह हाय पुहुमि आया छूति कहाँ तें उपजै॥
लख चौरासी नाना बासन मो सम सरिभौ माटी।
एकै पाट सकल बैठाये छूति लेत धौं काकी॥
छूतहिं जेवन छूतहिं अँचवन छूतहिं जगत उपाया।
कहहिं कबीर ते छूति विवर्जित जाके सम नहिं माया॥

इसी तरह के आक्रोश का परिणाम है कि कबीर ने 'पाँडे' को कुत्ते और बकरे से भी नीचा स्थान दिया है। लोकाचार खंडन के प्रसंग में कबीर की उदंड आलोचना नाथपंथियों के सुर में ही तान भरती है। इसी प्रकार दादू ने भी 'ब्राह्मण' को खूब आड़े हाथों लिया है और सुन्दरदास ने तो ऐसी खबर ली है वे जन्मजन्मान्तर तक याद रखेंगे। रैदास काफी गंभीर संत थे—रोष का प्रायः अभाव ही उनकी रचनाओं में मिलता है। लेकिन वे भी पूजा-भावनाके विरुद्ध बोलते दिखाई पड़ते हैं—

'भगति न वेद बड़ाई।
भगति न मूड़ मुड़ाये भगति न माला दिखाये।
भगति न चरन धुवाये ये जब गुनी जन कहाई।

भगति न तौ लौं आना। आप की आप बखाना।
जोइ जोइ करै सो सो करम बड़ाई।[1]

संतों की वाणी में कर्कशता तो है पर वेदान्तियों की उठा-पटक नहीं। 'कबीर की सामाजिक-भावना में सुधार की आकुल उत्कंठा है, पर वहाँ इतर समाजसुधारकों की 'हाय-हाय' नहीं आने पाई है। हाँ, इतना अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि गोरखनाथ की अक्खड़ता वहाँ स्पष्ट रूप में विद्यमान है।' यह अक्खड़ता इसलिए आई कि उन्होंने गोरखनाथ के योग का भी कम ऋण स्वीकार नहीं किया। योग में माधुर्य का सर्वथा लोप रहता है, वह ठक्-ठक् वातावरण लिए सामने आता है और एतदर्थ उसमें निर्ममता और अमायिकता का होना आवश्यक है। कबीर को यह अक्खड़ता योगियों के विरासत में मिली। लेकिन विरोधाभास यही है कि उन्हीं स्थलों पर कबीर की वाणी बकश और कर्कशतर हो गई है जहाँ वे खुलेआम योगियों (अवधूत) को ललकारते हैं। इस प्रकार स्रोतस्थल को ही प्रवहमान करने की चेष्टा यहाँ दीखती है। कबीर ने सर्वप्रथम योग को स्वीकार तो किया और इसी सिलसिले में योगियों की शैली भी ग्रहण कर ली गई, पर बाद में कबीर के सिद्धान्त परिवर्तित होते गये और इस परिवर्तन की आँच में हठयोग तो गल गया, पर शैली ज्यों की त्यों रह गई—रस्सी जल गई, पर ऐंठन कहाँ जाती? कबीर के पूर्ववर्ती योगियों ने रूढ़ियों पर वेग से आक्रमण किया और

---

१ रैदासजी की बानी, पृ० १३ (२४। ५-६)

झिझक में काफी उल्टी-सीधी बातें कहीं पर उनकी उक्तियों में सदा हीन परिज्ञान की भावना का ही प्राबल्य रहा। वहाँ तर्क तो मिला पर बेफिक्री नहीं, आक्रोश के दर्शन तो हुए पर मस्ती का तूफान नहीं मिला। कबीर की अक्खड़ता की विशेषता यही है कि उसने जो कुछ भी कहा, लापरवाही के साथ कहा, पूर्ण आत्मविश्वास के साथ कहा। डरते-झिझकते कहना कबीर ने सीखा ही नहीं था।

गोरखनाथ के हठयोग में कुछ ऐसा आकर्षण था कि तत्कालीन समाज उस ओर शीघ्रता से मुड़ा। यों तो वह कोई नई चीज नहीं थी—सभी जानते हैं, उसे चौरासी सिद्धों के पहले भी साधना का उपादान माना जाता था; लेकिन गोरखनाथजी ने उसमें अपनी आश्चर्यजनक प्रतिभा से ऐसा जादू भर दिया कि अरूढ़िवाद कबीर भी उसकी लपेट में आ गये। 'मन का निरोध' संतमत की मूल चेतना है और योग ने भी 'चित्तवृत्ति निरोध' का रास्ता अपनाया। अतः संत शीघ्रता से उस ओर लपक पड़े। इन्द्रिय-निग्रह का इससे सरल उपाय भी नहीं था। हठयोग में प्राण साधना के लिए शरीर के भीतर की वायु के नियमित संचालन की क्रिया जानने की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार की सिद्धि होने के बाद साधक नाड़ी-साधन और कुंडलिनी-उद्बोधन का प्रयत्न करता है। फिर षट्चक्र भेदन की क्रिया आरंभ होती है। इस क्रिया में काफी दिक्कतें उठानी पड़ती हैं—शरीर को गलाना पड़ता है, तपाना पड़ता है। सच पूछिए तो आत्मा को पींच-पींच कर, दबा-दबा कर, ठोकपीट कर ठीक करना पड़ता है। इसी प्रकार

के कायासाधन में नाथपंथी विश्वास करते थे और इसी के शीर्ष पर मोक्ष की स्थिति मानी जाती थी।

इस प्रकार की साधना के लिए संसार को छोड़ एकान्त में धूनी रमाने की कड़ी शर्त थी। कबीर ने समाज से बाहर जाना अस्वीकार किया। जिस सामाजिक दाव-पेंच की प्रतिक्रिया के रूप में कबीर ने मोर्चा बाँधा था उस क्षेत्र से विमुख होने की कायरता उनमें नहीं थी। प्रारंभिक दिनों में उन्होंने हठयोग को स्वीकार किया था, इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है। कबीर कहते हैं कि 'रे मन, तू सुषुम्ना नाड़ी में वायु को दृढ़कर ऐसा गुरु कर कि फिर कोई गुरु न करना पड़े। गंगा (पिंगला नाड़ी) को उलटकर तू जमुना (इड़ा नाड़ी) में मिला दे और बिना संगम-जल के तू मन ही मन में स्नान कर। यह सांसारिक प्रपंच तो नरक के समान है।'—

उलटी गंगा जमुन मिलावउ।
बिनु जल संगम मन महिं न्हावउ॥
लोचा समसरि इहु बिउहारा।
ततु बिचारि किआ अवरि बिचारा॥[1]

और भी,

आध उरध की गंगा जमुना मूल कवल को घाट।
षट्चक्र की गागरी, त्रिवेणी संगम बाट॥
नाद स्यंद की नावरी राम नाम कनिहार।
कहै कबीर गुणगाह ले गुर गमि उतरौं पार

१ 'संत कबीर' पृ० २

इस प्रकार 'लय' की अवस्था तक पहुँचने के लिए कबीर ने गोरख की षट्चक्र भेदन-क्रिया और सहस्तार की अनिवार्य आवश्यकता मानी। लेकिन साधना की जो जटिलता थी जिसमें मन मारन के साथ-साथ समाज से पलायन की बात भी मुख्य थी—उसे उन्होंने नहीं माना। कबीर कठोर यथार्थवादी थे। उन्हें पलायन प्रिय नहीं था। आगे चलकर कबीर ने हठयोग की काफी निंदा की और अपने नवीन मत 'सहजयोग' की स्थापना की।[१] उन्होंने जोरदार शब्दों में कहा—'भूखे भगति न कीजै' और कनफटे योगियों की सारी क्रियाओं को एक-एक कर फटकारा।[२] वे कहते हैं कि योगियों के अनुसार योग ही अच्छा है और सभी पंथों से श्रेयस्कर है। रुंडित और मुंडित रहनेवाले तथा एक शब्द में विश्वास करनेवाले यही कहते हैं कि हमलोगों ने सिद्धि प्राप्त कर ली है। परन्तु सच बात यह है कि हरि के बिना सब लोग अज्ञान में भूले हुए हैं, बंधनों में फँसे हुए हैं—

योगी कहहि जोगु भल मीठा अवरु न पूजा भाई।
रुंडित मुंडित एकै सबहो एइ कहहि सिधि पाई॥

---

१ *विस्तृत परिचय के लिए देखिए—'कबीर का सहज-योग'।*

२ *अवधू योगी जग थैं न्यारा।*
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी नाद न खंडै धारा॥
बसै गगन में दुनी न देखै चेतनि चौकी बैठा।
चढ़ि अकास आसन नहीं छाजै पीवै महारस मीठा॥

हरि बिनु भरमि भुलाने अंधा।
जा पहि जाउ आप छुटकावनि ते बाँधे बहु फंधा॥

कबीर ने हठयोग की नई रूपरेखा प्रस्तुत की है—उसका काया-कल्प कर लिया है।[१] श्रुति और स्मृति ही अब योगी कबीर के कर्णभूषण हैं और क्षितिज ही पहनने का वस्त्र है। उनका उठना-बैठना शून्य गुफा ही में है और संप्रदाय कर्मकाण्ड-विहीन है। ब्रह्माण्ड और खंड उनकी सिंगी हैं, पृथ्वी बटुआ है और सारा संसार ही भस्म परिपूर्ण है। भूत, भविष्यत और वर्तमान इन तीन क्षणों में ही उनकी ताड़ी (त्राटक) लगी हुई है।—

सुरति सिम्रिति दुइ कंनी मुद्रा परमिति बाहरि खिंथा।
सुंन गुफा महि आसणु बैसणु कलप बिबरजित पंथा॥
खंड ब्रह्मण्ड महि सिंगी मेरा बटुआ जगु भस्माधारी।
ताड़ी लागी त्रिपलु पलटी भै छूटै होइ पसारी॥

इन पंक्तियों को देखने से ऐसा लगता है कि योग की वेगवती धारा ने कबीर की आत्मा पर काफी अरसे तक नृत्य किया था, पर

---

१ *'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' और 'गोरख बानी' के कुछ पदों को देखने से ऐसा पता चलता है कि स्वयं गोरखनाथ भी हठ-योग में शरीर को कष्ट देने की विचारधारा के प्रतिकूल थे। उनका कहना है—'हसिबा खेलिबा गाइबा गीत।*
दृढ़ करि राषि अपना चीत॥
—'योग प्रवाह', पृ० १५

जिस गति से वह आई थी उतनी ही क्षिप्रता से चली भी गई—जो कुछ तल में बचा रहा वही कबीर में है और उन चिह्नों से वे सहज में छुटकारा नहीं पा सके। अतः योग की कुछ शब्दावलियाँ ही उनकी परवर्ती रचनाओं में रह गई, बस।

यहाँ यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जायसी के 'पद्मावत' में नाथपंथी सिद्धान्तों एवं प्रणालियों ने कम स्थान नहीं घेरा है। 'पद्मावती (ब्रह्म) की साधना के लिए रतनसेन (जीव) विरक्त होकर बाहर निकलता है और ठीक उसी प्रकार की वेशभूषा धारण करता है जिस प्रकार की वेशभूषा नाथपंथियों की बपौती थी। जायसी ने नाथपंथियों का ऋण स्वीकार किया। रतनसेन का योग-वेश देखिए—

मेखल सिंघी चक्र धँधार जोगवाट रुद्राछ अधारी।
कंथा पहिरि दंड कर गहा सिद्ध होइ कँह गोरख कहा॥

यहाँ 'गोरख' शब्द पर ध्यान दीजिए। जायसी जान-बूझकर इस प्रसंग में गोरख को स्मरण करते हैं; कौन जाने, शायद कृतज्ञता व्यक्त करने की उनकी यही शैली हो!

इतना ही नहीं, सूफियों की प्रत्येक नायिका (ब्रह्म) का निवास या तो सिंहल द्वीप में है, या आगमपुर या रूपनगर अथवा इसी तरह के नामधारी किसी द्वीप में। सिंहल द्वीप का पता नाथपंथियों और सिद्धों ने ही बताया था। वहीं उन्होंने पद्मिनी स्त्रियों की कल्पना की जिनके पास परीक्षा देने के लिए (योग-सिद्धि की जाँच के लिए) वामाचारी सिद्धों को जाना पड़ता था। अवश्य ही सिंहल द्वीप एक

काल्पनिक द्वीप होगा और लंगोटधारी योगियों ने अपनी कामुक वृत्तियों के मानसिकशमन के लिए वहाँ पद्मिनी नारियों की रूप-श्री की कल्पना की होगी। जायसी को बनी-बनाई चीज मिल गई और रतनसेन को योगी का रूप देकर उन्होंने पद्मिनी को लगे हाथों परंपरागत सिंहल द्वीप की निवासिनी बना दिया।

जिस प्रकार योगी ब्रह्मरंध्र तक पहुँचने के लिए काफी साधना करता है उसी तरह सूफी-काव्य के नायक नायिका तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। योग-साधना में अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं। नायक को फल-प्राप्ति में भी तद्वत् विघ्न आते हैं जिन्हें जायसी ने शैतान कहा है। यह 'नारद' है। यही साधकों को बहकाता है।

नाथपंथ के दर्शन में शून्यवाद की काफी चर्चा की गई है। वज्रयानियों ने इसे पहले पहल अपनाया था और इसके आधार पर सारे संसार को 'सर्व्वंशून्य' कहा था। बौद्ध धर्म के मध्यकाल में इस 'शून्य' को काफी महत्त्व मिला और वज्रयानियों ने तो इसका विकास कर इसे विश्व के मूल तत्त्व के रूप में ग्रहण किया। नागार्जुन ने शून्यवाद की व्याख्या को और आगे बढ़ाया। उसका कहना है कि संसार का परम तत्त्व ऐसा है कि कुछ कहा नहीं जा सकता—वह शून्य है। उसी शून्य से इस जगत् और उसके पदार्थों का उद्भव होता है और शून्य में अवसान भी। वह शून्य ही सर्वत्र व्याप्त है—शरीर भी शून्य है, प्रकृति भी शून्य है। कबीर का 'राम' जिस सूक्ष्म धरातल पर जाकर 'न्यारा निरंजन' बन जाता है वहीं शून्य की स्थिति है। 'नाथों ने शून्य को अलखनिरंजन के रूप में स्वीकार किया।

गोरखनाथ आदि योगियों के मत में इसने विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया। औघड़पंथियों और वारपंथियों के यहाँ भी इसका गौरवपूर्ण स्थान है। चौरासी सिद्धों के उपदेशों में एक शून्य की व्यापक कथा कही गई है।"[1]

कबीर के अनुसार षट्चक्र का भेदन कर साधक सहस्तारचक्र में पहुँचता है जो ब्रह्मरंध्र है और वहाँ 'अनहदनाद' सुनाई पड़ता है। यही स्थान कबीर के लिए शून्य है। और उस शून्य का आनन्द वह है जिसे बौद्ध-सिद्धों ने 'महासुक्ख' कहा है। यह शून्य ऐसी अवस्था का द्योतक है जहाँ द्वैत का विनाश हो जाता है और सारी अनुभूतियाँ, सारी चेतनाएँ ब्रह्म में समाहित हो जाती हैं। 'हठयोग प्रदीपिका' में यह बतलाया गया है कि नाथपंथी योगी आत्मा को शून्य में करके और शून्य को आत्मा में करके निश्चिन्त हो जाता है। यह स्थल योग के प्रसिद्ध पंचकोशों में अंतिम आनंदमय

---

१ 'एइ शून्यइ क्रमे अलख निरंजन होइया नाथपंथ निरजंन पथ प्रभृतिमध्ये स्थान पाइऽल। गोरख प्रभृति योगीदेर मतवादेओ इहावेश स्थान जमाइआ वसिऽल। औघड़ प्रभृति वारपंथी देर मध्येओ शून्यवादेर गौरवमय स्थान। चौरासी सिद्धादेर उपदेशे शून्य एकटि खूब वऽड़ कथा।'

—श्री क्षितिमोहन सेन; 'दाइ' (पृ० १७६)

कोश[1] का स्थान है जहाँ रस ही रस है, सुख ही सुख है। यहाँ पर प्राणवायु की स्थिति विचित्र तरह की होती है, इसके अन्दर भी शून्य है, बाहर भी—

'अन्तः शून्यो बहिः शून्यो शून्यो कुंभ इवाम्बरे।
अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णो पूर्णः कुंभ इवार्णवे ॥'

इसी ताल पर कबीर कहते हैं—

जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी।
फटा कुंभ जल जलहिं समाना यह तथ कथौ गियानी।

यह 'शून्य' अति व्यापक है। दादू के अनुसार—

'सहज सुन्नि एक ठौर है,
सब घर सबहीं माँहि।
वहाँ निरंजन रमि रहा,
कोइ गुण व्यापै नाँहि।

यह शून्य जहाँ नहीं है वहाँ कुछ नहीं है—निस्तत्त्व है। यह शून्य ही वह भँवरगुफा है जहाँ 'रस गगनगुफा में अजर झरै'। साधकों की कसौटी के प्रसंग में कबीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जो जीते हुए मरता है और मरते हुए जो उठता है, उसी को शून्य में

---

१ 'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा।'

—तैत्तिरीय उपनिषद् २। ५। १

समाया हुआ कह सकते हैं।[1] इसलिए संतों ने सदा यही कहा है कि शून्यमय हो जाओ, 'नाहींमय' बन जाओ—

नाहीं तहाँ तैं सब किया फिर नाहीं ह्वै जाइ।
दादू नाहीं होइ रहु साहिब सों ल्यो लाइ॥

कबीर ने भी यही गीत गाया है—

जहाँ नहीं तहाँ कुछ जानि।
जहाँ नहीं तँह लेहु पछानि॥
नाहीं देखि न जइए भागि।
जहाँ नाहिं तँह रहिए लागि॥

सहयानियों ने इस शून्यजनित आनंद (महासुक्ख) की तुलना मदिरा पीये हुए व्यक्ति की मस्ती और आनंद से की है। इस प्रसंग में कबीर ने भी प्याले और मद को विस्मृत नहीं किया। वे भी जोश में आकर कहते हैं—'एरे कलाली भर दे प्याला, मेरा मनुवाँ हो मतवाला।' मदिरा संबन्धी-स्वर हूबहू नाथपथियों एवं सिद्धों जैसा ही है। यह बात भी ध्यान में रखने की है कि इस सिलसिले में कबीर सर्वदा 'अवधू' का ही संबोधन प्रयोग करते हैं। यह मदिरा ईश्वरीय प्रेम का प्रतीक है जिसमें मस्ती है, आह्लाद है। कबीर इस रस को कँवलकुँआ में बैठकर निश्चित होकर प्रेम से पीते हैं—'कँवलकुँआ में प्रेमरस पीवै बारंबार।'

नाथपंथियों ने 'अलख' से साक्षात्कार होने के पूर्व मद के प्रभाव

---

१ 'जीवत मरै मरैं फुरि जीवै ऐसे सुंनि समाइआ।
अंजन माहि निरंजन रहिऐ बहुड़ि न भवजल पाइआ॥'
—'संत कबीर', पृ० ४६

को स्वीकार किया है। नाथपंथियों का यह प्रभाव संतों में ठीक ठीक उतर आया है। उनका निरंजन वही है जो नाथों का अलख है। जिस इष्टदेव का ध्यान नाथों ने 'अनाम', 'अलख' जैसे शब्दों से किया है उसी का स्मरण नानक ने '१ॐ सतिनाम करता पुरख निरभव निरभय निराकार' से किया है। संतों का ईश नाथपंथियों के ईश से तनिक भी भिन्न नहीं है।

स्पष्ट है कि गोरखनाथ के हठयोग में ईश्वरवाद का भी समावेश था। योग का दरवाजा सबके लिए खुला है —वर्ग-भेद और जाति-भेद का यहाँ स्थान नहीं है। इस क्षेत्र की ओर हिन्दू तो आकर्षित हुए ही, मुसलमान भी कम नहीं दौड़े। यह हिन्दू और मुसलमान दोनों की सामान्य साधना भूमि थी। यहाँ मुसलमानों को अप्रिय लगने वाली मूर्त्ति-पूजा और बहुदेवोपासना नहीं रहने के कारण आकर्षण बढ़ गया था। निर्गुण संतों में इसी भावना का विस्तार पाया जाता है। समन्वय की जो धारा गोरखनाथ ने बहाई उसकी चरम परिणति इन्हीं परवर्ती संतों की वाणी में हुई।

अन्वेषकों को गढ़वाल में खोज करते समय अनेक झाड़फूक के मंत्र मिले और उन्हीं मंत्रों के साथ साथ संतों और सिद्धों के भी अनेक पद मिले। उन पदों में गोरखनाथ का भी एक पद मिला जिसमें उनकी समन्वय भावना स्पष्टतया व्यक्त है—

'हिन्दू मुसलमान बाल गुदाई दोऊ सहाथ लिए लगाई।'[१]

---

१ नागरीप्रचारिणी पत्रिका १५।१।१

गोरखनाथ के शिष्यों में हिन्दू मुसलमान दोनों पाए जाते हैं। उन्होंने दोनों के दोषों का दिग्दर्शन किया—भला-बुरा कहा, डाँटा-फटकारा। एक उदाहरण लीजिए—

हिन्दू ध्यावै देहरा मुसलमान मसीत।
योगी ध्यावै परम पद जँह देहरा न मसीत॥—'गोरखबानी।'

इन शब्दों की पृष्ठभूमि में कबीर की इन पंक्तियों का मूल्याङ्कन कीजिए—

संतो देखउ जग बौराना।
कहै हिन्दू मोहिं राम पियारा तुरुक कहै रहिमाना।
आपस में दोउ लरि-लरि मूए मरम न काहू जाना॥[1]

इस प्रकार की उक्तियाँ प्रत्येक संत की वाणी में भरी पड़ी हैं। यहाँ सिर्फ इतना संकेत करना अभीष्ट था कि हिन्दू-मुस्लिम-भावना का सूक्ष्म स्रोत नाथपंथ में भी वर्तमान है और जब हम देखते हैं कि बहुत-सी बातों को संतों ने वहाँ से ग्रहण किया है तो क्या आश्चर्य कि यह समन्वय भावना भी वहीं से उधार ली गई हो![2]

कहा जा चुका है कि नाथपंथ में इन्द्रिय-निग्रह पर काफी बल दिया गया है। इन्द्रियों के लिए सबसे बड़ा आकर्षण नारी है—यहीं मनुष्य अपनी कमजोरी अनुभव करता है और उससे बचने का कोई उपाय उसे नहीं दीखता। इन योगियों ने योग-साधन की जटिलता

---

१ *'कबीरवचनावली', पृ० २३६*

२ देखिए—*'संत मत का व्यवहारपक्ष' शीर्षक स्तम्भ*

के साथ नारी के अवरोध का स्वीकार करना नहीं चाहा; क्योंकि एक तो योग वैसे ही सहज-साध्य नहीं है; दूसरे, नारी-संसर्ग से बाधा बलवती होती जायगी। इसके अतिरिक्त गोरखनाथजी ने अपनी आँखों से बौद्ध विहारों में भिक्षुणियों के प्रवेश का घातक परिणाम देखा था और यह भी देखा था कि भैरवी और योगिनी रूप में नारियों की ऐन्द्रिक उपासना ने सामाजिक चेतना को कौन-सा रूप दिया था। हम सभी जानते हैं कि प्रेम में लीन रहकर श्रेय की साधना करना वैसा ही असंभव है जैसा शराब पीकर मस्त नहीं होना।[१] इसलिए गोरखनाथजी ने इन्द्रियनिग्रह की पहली सीढ़ी के रूप में नारी को नरक का द्वार ठहराया। इस सम्प्रदाय में नारी से दूर रहने की कठोर आज्ञा दी गई। चाणक्य ने बहुत पहले 'नदीनां शस्त्रपाणिनां····' आदि के साथ 'विश्वासो नैव कर्त्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च' भी कहा था। गोरखनाथ इसी टकसाल के सिक्के मालूम पड़ते हैं। उनके अनुसार नारी के साथ रहनेवाले पुरुषों की अवस्था उसी प्रकार संकटापन्न है जिस प्रकार वेगवती स्रोतस्विनी के तीर पर स्थित वृक्षों की स्थिति है—कब झोंका आया और वृक्ष चित्त हुआ, ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। प्रतिक्षण खटका बना ही रहता है।—

नदी तीरे बिरखा नारी संगे पुरखा
अलप जीवन की आसा

---

१ *नारी नसावै तीन गुन जो नर पासे होय।*
भक्ति मुक्ति निज ध्यान में पैठ सकै नहिं कोय॥
—'*कबीर-ग्रंथावली*।'

कबीर ने इस क्षेत्र में भी योग का ऋण स्वीकार किया। नारी उनके सामने सर्पिणी से भी भयंकर रूप लिए आती है।[1] उनका कहना है कि नारी इतनी खतरनाक है कि उसकी मात्र छाया पड़ने से ही साँप अंधा हो जाता है तो उस पुरुष को कैसी स्थिति होगी जो नित्य नारी के साथ रहता है। उसकी दशा पर विचार कीजिए—

नारी की छाया पड़े अंधा होत भुजंग।
कबिरा तब तिनको कहा जो नित नारी को संग॥

इसी प्रकार सभी संतों ने जी खोलकर नारी-भर्त्सना की। किसी ने कुछ भी उठा नहीं रखा। ज्ञानी ही ऐसी बात कहता तो एक बात थी, भक्तों ने भी यही सरणि अपनाई। गोस्वामी तुलसीदास ने 'ढोल गवार शूद्र पशु नारी ये सब ताड़न के अधिकारी' कहा जिसके संबंध में सभी की जानकारी है। संत सुन्दरदास ने तो नारी के सम्पूर्ण शरीर को एक अरण्य मानकर सांगोपाङ्ग रूपक बैठाया है और 'राक्षसी बदन खाँऊ-खाँऊ ही करत है' कहकर जो कुछ कहने को बचा था उसे पूरा कर दिया है। इतना ही नहीं, आधुनिक युग में, जब नारी-स्वातंत्र्य की इतनी गरमागरमी है, आंग्ल-समीक्षक आइ० ए० रिचर्ड्स का कहना है कि आखिर नारी के शरीर में सौन्दर्य है कहाँ? यदि है भी तो क्षणिक और तभी तक जबतक किसी को उसके भुजमूल के स्वेद से पाला नहीं पड़ा है!

---

१ नारी तो हम भी करी जाना नाही विचार।
जब जाना तब परिहरि नारी बड़ा बिकार॥
—'कबीर ग्रंथावली।'

लेकिन इतना विचार करते हुए भी हम गोरख की सुगम्य बुद्धि और प्रगतिशीलता के कायल हैं। गोरखनाथ के पदों में ऐसे भी दृष्टान्त मिलते हैं जहाँ शिष्यों को संबोधित करते हुए उन्होंने अपनी शिष्या मैनावती को भी संबोधित किया है। ऐसा लगता है कि प्रारम्भ में गोरख ने नारियों के प्रति घृणा का भाव रखा होगा, पर बाद में जैसे-जैसे उनका मस्तिष्क प्रौढ़ होता गया और विचारों में गांभीर्य आता गया उनके नारी-संबन्धी भाव परिवर्तित होते गए और संभव है, उन्होंने नारियों को भी दीक्षित करना आरम्भ कर दिया हो। हाँ, यह एक ही उदाहरण प्राप्त है जैसा कि कबीर द्वारा एकमात्र लोई को शिष्या बनाने की बात प्रसिद्ध है। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि श्रीरामानुचाचार्य की सुरसरी और सहजो नाम की दो शिष्याओं का भी उल्लेख मिलता है। ये आचार्य अपने युग के काफी प्रगतिशील भक्त थे। गोरखनाथजी यहाँ भी इनके अग्रेसर के रूप में ही दिखाई पड़ते हैं।

गोरखनाथ के योगमार्ग में गुरु की काफी प्रतिष्ठा है। योग का क्षेत्र सर्वसुलभ और सहजसाध्य नहीं है। षट्चक्रों के भेदन और कुंभक, रेचक, पूरक क्रियाओं की सिद्धि आदि के लिए साधक को किसी सिद्ध पुरुष का पल्ला पकड़ना पड़ता है। यदि गुरु नहीं रहा और क्रियाएँ आरंभ कर दी गईं तो जान जाने का खतरा पद-पद पर मिलेगा। हठयोग की साधना कुछ ऐसी कड़वी है भी कि बिना दीक्षागुरु के एक डेग बढ़ना असंभव है। इसीलिए नाथपंथ में गुरु की अनिवार्य आवश्यकता मानी गई। आगे चलकर संतों ने

गुरु को जितना महत्त्व दिया और जितनी व्यापकता दी, उतनी और किसीने नहीं। तुलसी और सूर भी इस दृष्टि से अलग नहीं हैं। इस प्रकार सारा भक्तिकाव्य ही एक स्वर से गुरु की वंदना करता है। नाथपंथ का गुरु साधारण मानव नहीं है, वह साधनात्मक विकास करता-करता ईश्वरत्व की मंजिल पर पहुँच गया है। संतों ने तो उसकी मर्यादा और आगे बढ़ा दी और उसे ईश्वर से भी ऊँचा पद दिया।[1] उनका कहना है कि यदि गुरु नहीं रहता तो मोक्ष का मार्ग बताता कौन, परम पद से मिलाता कौन?[2] दादूदयाल का कहना है कि यदि भगवान रूठ गया तो कोई चिंता की बात नहीं है, क्योंकि गुरु की कृपा से उसे सहज ही अनुकूल बनाया जा सकता है, लेकिन यदि गुरु रूठ गया तब तो कहीं त्राण नहीं।[3] नाथपंथियों के यहाँ परम पद का अधिकारी एकमात्र अवधूत है। गोरखनाथ के अनुसार अवधूत की परिभाषा देखिए—

'वचने-वचने वेदास्तीर्थानि च पदे-पदे।
दृष्टौ-दृष्टौ न कैवल्यं सोऽवधूतः श्रियेस्तु नः॥'
—गोरख-सिद्धान्त-संग्रह

---

१ 'नमो नमो निरंजनं नमस्कार गुरु देवतः।'—दादू।
'सतगुरु ब्रह्म सरूप हैं, मनुष-भाव मत जान।'—दया।

२ 'लोहा हिरन होइ धौं कैसे जो पारस नहिं परसे।'
—रैदासजी की बानी, पृ० ८

३ जबहिं गुरु किरपा करैं तबहिं राम कछु देय।'—मलूकदास।

कबीर की उस उक्ति को हम इस प्रसंग में नहीं भूल सकते जहाँ उन्होंने गोविन्द के साथ खड़े हुए गुरु में से गुरु को ही चुना है।

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरु आपने जो गोविन्द दियो बताय॥

दादू के अनुसार गुरु ही ब्रह्म है, गुरु ही ईश्वर है। अपने को मिटा कर सर्वथा उससे एकाकार होने में ही साधक-जीवन की सार्थकता है—

गुरु गोविन्द तो एक हैं, दूजा यह आकार।
आपा मेट जीवत मरै तो पावै करतार॥

संतों के सामने 'शून्य' की स्थिति पर विचार किया जा चुका है। उस सूक्ष्मतम स्थिति से वे गुरु की तुलना करते हैं जहाँ निर्गुण निराकार ब्रह्म शोभा पाता है। गुरु को शून्यवत् होने की कल्पना के पीछे यह मनोविज्ञान काम करता है कि गुरु यदि शून्यमय नहीं हो तो शिष्य के व्यक्तित्व पर उसका भार घनीभूत होकर शिष्य के जीवन को जड़ बना देगा और वह अपना विकास नहीं कर पायगा। शिष्य चूँकि विकास कर सके इसलिए गुरु को सहज शून्यमय बन जाना चाहिए। संतों की वाणियों में 'सहज सून्न' सदा गुरु के पर्याय के रूप में स्वीकार किया गया है।[1] रज्जबजी ने तो स्पष्ट कहा है—'सत गुर सून्न समान है।'

---

१ सहज सून्न में भाठी सरवे पावै रैदास गुरुमुख दरवे।'

— रैदासजी की बानी ...

जायसी के सूफी सिद्धान्त में गुरु का स्थान वही है जो गोरखनाथ तथा कबीर के यहाँ है। सत्यसंधान के सिलसिले में उसके बिना साधक (आत्मा) एक पग भी नहीं बढ़ सकता। 'पद्मावत' का सूआ वस्तुतः गुरु का प्रतीक है जो मार्गदर्शक का काम करता है—'गुरु सूआ जेहि पंथ दिखावा।'

जायसी साफ शब्दों में स्वीकार करते हैं कि बिना गुरु की सहायता के ईश्वर (निर्गुण) की प्राप्ति नहीं हो सकती—'बिन गुरु ज्ञान को निर्गुण पावा।' इस लीक को अन्य सूफी साधकों ने भी पकड़ा है और इस डोर ने भक्तों को भी अपनी सीमा में खींच लिया है। गोस्वामी तुलसीदास गुरु की वंदना करते समय उन्हें मानवरूप में विष्णु ही स्वीकार करते हैं और गोस्वामीजी के मत से एकमात्र वे ही सांसारिक माया मोह एवं अज्ञान को दूर करने में समर्थ हो सकते हैं—

वंदौं गुरुपद कंज, कृपा सिंधु नर रूप हरि।
महा मोह तम पुंज, जासु वचन रविकर निकर ॥[1]

वल्लभ-संप्रदाय में भी गुरु साक्षात् ईश्वर माना जाता है। इति-

---

१ नानक के इस पद से तुलना कीजिए —

सतगुरु मैं बलिहारी तोर।
जिन सकल निकल भ्रम काटे मोर॥
रामानन्द स्वामी रमत ब्रह्म।
गुरु का शबद काटे कोटि करम॥ 'ग्रंथसाहब।'

हास के विद्यार्थी जानते हैं कि वल्लभाचार्य एवं विट्ठलनाथजी की उपासना मंदिरों के विष्णु से किसी प्रकार कम नहीं होती थी और आज भी किसी वल्लभसंप्रदाय के मठ या मंदिर में हम व्यासपीठ पर एक जोड़ा खड़ाऊँ रखा हुआ देख सकते हैं जिसे भक्त श्रद्धा से पूजते हैं—यह समझकर कि वह गुरुप्रसाद है, उसमें वल्लभदेव का अंश है !! इसके बाद यह कहना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता कि अष्ट-छापके कवियों ने 'श्रीवल्लभनखचंद्र' की ज्योति को अपने हृदय में बसाने की निरंतर चेष्टा की है और बाद के मुसलमान कृष्णभक्तों ने भी गुरु को देवरूप में ग्रहण किया है। आधुनिक युग के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भक्ति-पूर्ण कविताओं में गुरु के सम्बन्ध में वही सुर सुन सकते हैं जो अष्टछाप के नंददास या परमानन्ददास की कविताओं में था। वल्लभीय होने के कारण इनके सामने भी वल्लभाचार्य देवरूप में ही आते हैं।

नाथपंथियों की गुरुभावना का १६ वीं शताब्दी तक विस्तार देख-कर अवाक् रह जाना पड़ता है। हम कल्पना नहीं कर सकते की उनका हिन्दी-साहित्य की व्यापक चेतनाओं पर कितना गहरा प्रभाव पड़ा है !

संतों ने सदा वेद, पुराण तथा स्मृतियों की खिल्ली उड़ाई। इन शास्त्रों पर ब्राह्मणधर्म की काफी आस्था है और तज्जनित पाषंडों के परि-माण को संतों ने ठीक-ठीक देख लिया था। कबीर ने पाँडे को संबोधित करते हुए सदा पोथी-पत्रा का स्मरण किया है इस भावना के साथ मेल नहीं खाने के कारण ही शास्त्रवादी तुलसी को हमेशा निर्गुणियों से

खटपट रही। योगियों को रूढ़ि तोड़नी थी और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्हें घट (शरीर) के भीतर से अधिक मतलब था, उसके बाहर के आचार विचार, शास्त्र-पुराण आदि से बहुत कम। इसलिए गोरखनाथ ने पुस्तकी विद्या को हीन ठहराया और वे उसे सदा कोसते रहे—

गृहे गृहे पुस्तक भार भारा पुरे पुरे पंडित यूथयूथा।
वने वने तापस वृंदवृंदा न ब्रह्मवेत्ता न च कर्मकर्ता॥

—गो० सि० सं०

पंडितों को ग्रंथों का भार ढोनेवाला गदहा कहना संतों के लिए साधारण-सी बात थी। उन्होंने शास्त्रों के पचड़े में पड़ना कभी उचित नहीं समझा। ब्राह्मणों ने उस युग में शास्त्रार्थ का भीषण जाल पसारा था और उनका सारा समय ग्रंथों की मीमांसा और आलोचना में ही बतता था। संतों का कहना है कि इस झमेले में पड़कर मनुष्य कागज छानता ही रह जायगा, और मूलतत्त्व सर्वदा उपेक्षित रहेगा। दादू कहते हैं कि जिसने जगत के मूलाधार का आश्रय पकड़ लिया, उसने तो परमपद प्राप्त कर लिया, उसे ब्रह्मानंद मिल गया; लेकिन जो वेद, पुराण तथा शास्त्रादि के प्रपंच में पड़ गया वह डाल और पत्तों में ही भटकता रह जायगा, सार तत्त्व की प्राप्ति उसे नहीं हो सकती। इसीलिए उनका आग्रह है कि हरि से प्रेम करो; वेद-पुराण छोड़ो—उससे कुछ नहीं होने को है—

दादू पाती प्रेम की विरला बाँचै कोय।
वेद पुरान पुस्तक पढ़े प्रेम बिना क्या होय ॥[1]

कबीर का संदेश सुनिए—वे ढाई अच्छर के प्रेम को ही शास्त्रों की मर्यादा से मूर्द्धन्य स्थान देते हैं—

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय ॥

तथा

कबिरा कागद काढ़िया, तब लेखै वार न पार।
जब लग साँस शरीर में, तब लगि राम सँभार ॥

कबीर को इसका गर्व था कि वे पुस्तक की बात न कहकर अपने मन की बात कहते हैं, आँखों देखी बात पर विश्वास कर आत्म-विश्वास के साथ उसे घोषित करते हैं।[2] उन्होंने पंडितों को ललकार-ललकारकर कहा—'तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता हूँ आँखिन देखी।' रैदास ने यह स्वीकार किया कि जबतक प्रेम-भाव से भगवान का स्मरण नहीं किया जाय तबतक पढ़ने-गुनने से कुछ समझ में नहीं आ सकता—'पढ़े गुने कुछ समुझि न परई, जौं लौं

---

१ 'साँच कौ अंग', पृ० १०

२ मसि कागद छूओ नहिं कलम गही नहिं हाथ।
चारहु युग का महातम कबीरा मुखहिं जनाई बात ॥
'बीजक', साखी १८१

भाव न दरसै ।'[1] अतः इन ग्रंथों में कुछ तत्त्व की बात मिलती नहीं–उनमें परमात्मदर्शन की सहज विधि बताई नहीं गई है—'वेद कतेब कुरान पुरानन, सहज एक नहिं देखा ।'[2] और इसीलिए 'पोथा पंडित पोथी बानी, पोथी हरि बिन सबै कहानी ।'[3]

नाथपंथियों को शास्त्रों से अधिक चिढ़ होने का एक यह भी कारण था कि वे पोथे संस्कृत भाषा में लिखे गये थे जिसे पंडितों का एक विशेष वर्ग ही समझ पाता था । साधारण जनता उसे न बोलती थी, न समझ सकती थी । समाज को प्रगतिशील देखनेवाले इन क्रान्तिकारियों ने इस धर्म की रूढ़ि को तोड़ना शुरू किया और जनभाषा में लिखना प्रारंभ किया । गोरखनाथजी ने अपने सिद्धान्तों के प्रचार का माध्यम लोकभाषा को ही बनाया । बहुत दिन पहले, शिष्यों के इस अनुरोध को सुनकर कि उनकी शिक्षाओं का देववाणी में अनुवाद कर दिया जाय, गौतम बुद्ध ने श्रमणों को काफी डाँटा था और कहा था कि जिस दिन लोकभाषा छोड़कर बौद्ध संस्कृत भाषा का प्रचार-माध्यम बनायेंगे उसी दिन बौद्ध धर्म का नाश होगा । गोरखनाथ की 'बानी'-संग्रह को देखने से पता लगता है कि जनभाषा के प्रति उनका तीव्र मोह था और प्रचार की दृष्टि से वह सर्वथा उचित था

१ *'रैदासजी की बानी', पृ० ८*

२ *'नवधा वेद किताब है झूठे का बाना'। कबीर 'बीजक' पृ० ४११*

'बेद किताब दोय फंद सँवारा, ते फंदे पर आप विचारा ।'

—बीजक पृ० २६८

भी। रामानंदजी ने, संस्कृत का विद्वान होते हुए भी, लोकभाषा का आश्रय लिया। सचमुच यह बड़े साहस का काम था। उन्होंने जनमत को अनुकूल करने के लिए, अपनी विचारधारा को घर घर पहुँचाने के लिए, जनभाषा को स्वीकार कर जनमत जीतने की चेष्टा की। सरहपा ने बहुत पहले कहा था कि सिद्ध बनने के लिए लोक-भाषा में लिखना आवश्यक है। रामानंदजी ने भी यह पूर्णरूप से समझ लिया कि अपने मत का यदि सफल प्रचार करना है तो देश-भाषा का आश्रय ग्रहण करना ही पड़ेगा। संस्कृत बहुत जमाने से पंडितों की भाषा हो गई थी और पंडितों में भी संस्कृत को बोलने-समझनेवालों की संख्या दिनोंदिन घटती ही जा रही थी। इस मुर्दा भाषा के प्रति विद्रोह का स्वर बुलंद करते समय रामानंदजी को कम गालियाँ नहीं सुननी पड़ी थीं। कबीर को भी अपनी बात घर-घर कहनी थी और जोर-जोर से कहनी थी; क्योंकि मूर्ख रूढ़िवादी जनता उनकी बातों को सुनने के लिए तैयार नहीं थी— घर-घर हम सब सों कही शब्द न सुनै हमार।' घर-घर कहने की चीज घर-घर की बोली में होनी चाहिए तभी कोई सुननेवाला—समझनेवाला मिलेगा और उसपर उन बातों का प्रभाव भी पड़ेगा। भाषा की यह सार्व-देशीयता और सहजबोधगम्यता संतमत की मुख्य विशेषता है जिसकी पहली कड़ी गोरखनाथ की वाणी में दिखाई पड़ती है। कबीर ने गोरखनाथ की आवाज में आवाज मिलाकर कहा—

संसकिरत है कूप जल, भाषा बहता नीर।
जब चाहौ तब ही डुबौ, सीतल होय सरीर॥

राहुलजी के अनुसार 'कबीर की भाषा पर गुरु प्रभाव नाथपंथ का ही है।' बड़थ्वालजी का कहना है कि 'नाथपंथ में प्राकृत की वे ही शाखाएँ थीं जो आगे चलकर हिन्दी कहलाईं। परवर्ती कविता पर इनकी जबरदस्त छाप है।'[1]

इस प्रसंग में एक महत्त्वपूर्ण विषय पर विचार करना आवश्यक है। कबीर ने जब लोकभाषा को स्वीकार किया तो क्या कारण है कि संध्याभाषा में उलटबाँसियाँ और अटपटी बानियाँ उन्होंने कहीं? क्या उन्हें यह पता नहीं था कि उन पेचीदी बातों को कबीर-जैसे लोग ही समझ सकते हैं, साधारण जनता नहीं! वे जिस स्तर के लोगों के सामने अपनी बातों का जोरशोर से प्रचार कर रहे थे उनकी मानसिक अवस्था का उन्हें परिचय अवश्य होगा; और नहीं तो कम-से-कम उन्हें इतना अवश्य समझना चाहिए था कि 'बैल बिआय गैया बाँझ बछड़ा दूहै तीनों साँझ' तथा 'नैया बीच नदिया डूबि जाय' का तात्पर्य समझने की बुद्धि कितनों के पास है! हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि इतनी बड़ी क्रान्ति के अग्रदूत कबीर ने इन बातों पर विचार नहीं किया होगा। हाँ, उसने विचार अवश्य किया, पर वह इस प्रसंग में अपने मार्ग-प्रदर्शकों की राह पर चलने में तन्मय था और इसीलिए जैसी चीज उन लोगों से मिली उसे उसने ठीक-ठीक उतार लिया।

सिद्धों ने भी लोकभाषा पर काफी बल दिया था। लेकिन ऐसा

---

१ *'योग-प्रवाह'*

था। वे ही पद, वे ही राग-रागिनियाँ, वही शैली और वही भाव यहाँ भी हैं—न तनिक कम, न तनिक अधिक। पारिभाषिक शब्दों को तो संतों ने सीधे-सीधे नकल ही कर लिया है। सब-कुछ उधार-ही उधार है—नगद है, पर बहुत ही कम संख्या में जिसपर विशेष ध्यान नहीं जाता। यह कहना सर्वथा सत्य है कि 'निर्गुण शाखा वास्तव में योग का ही परिवर्तित रूप है। भक्तिधारा का जल पहले योग के ही घाट से बहा था।'

निर्गुण-सगुण भावना

भाव पेते चाय रूप माझारे अंग
रूप पेते चाय भावेर माझारे अंग,
असीम से चाय सीमार निविड़ संग
सीमा चाय असीमेर माझाहार।

—'आवर्तन' (रवि ठाकुर)

'प्रकाश-रेखाओं के मार्ग में बिखरी हुई बदलियों के कारण जैसे एक ही विस्तृत आकाश के नीचे हिलोरें लेनेवाली जलराशि में कहीं छाया और कहीं आलोक का आभास मिलने लगता है उसी प्रकार एक ही ब्रह्मचिंतन की अभिव्यक्ति को भिन्न-भिन्न शैलियों के रूप में निर्गुण और सगुण भावना का विकास हुआ है। इस चिंतनधारा के पीछे ज्ञान के हिमालय की शत-शत तुषारधवल उन्नत चोटियाँ हैं और आगे भाव की हरीभरी पुष्प-कुंतलिनी असीम धरती।'

ब्रह्म-संबन्धी गंभीर चिंतन का प्रारंभ वेदों से ही देखा गया है।

वहाँ यदि एक ओर उषा, वरुण आदि प्राकृतिक तत्त्वों की स्थूल पूजा-भावना है तो पुरुष की सूक्ष्म व्यंजना भी मिलती है। उपनिषद् में दोनों स्वर स्पष्ट हो गये हैं। संतों को यदि निर्गुण की भावनाएँ उपनिषदों तथा परवर्ती ग्रंथों के विरासत के रूप में मिलीं तो भक्तों ने भी उसी उद्‌गम स्थल से अपने सगुणवाद की स्रोतस्विनी पाई। प्रश्न उठता है, वस्तुतः ब्रह्म है क्या! सगुण या निर्गुण?

तत्त्व-चिंतकों ने पर्याप्त साधना द्वारा यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि ब्रह्म सभी सीमाओं के परे नितान्त सूक्ष्म स्थिति में रहता है।[1] उसका न रूप है, न रंग, न आकार, न प्रकार। वह शून्य में रहता है, जहाँ न आँख की पहुँच है, न मन की, न वाणी की।—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वागगच्छति
नो मनो न विद्मो न विजानीमः। केनोपनिषद् १।३

जायसी के अनुसार—

ना ओही ठाँव न ओही विन ठाऊँ।
रूप रेख विन निरमल नाऊँ॥

इस सूक्ष्म तत्त्व को पहिचानने के लिए, संतों का कहना है, ज्ञान[2]

---

१ 'अद्भुतं चाप्यचिन्त्यं च सर्वत्र समतां गतम्।
अव्यक्तं कारणं सूक्ष्मं च तत्सदसदात्मकम्॥
महाभारत (आदिपर्व) १।३१

२ यूनानी दार्शनिक सुकरात जब 'ज्ञान के समान पवित्रतम कोई वस्तु नहीं है' कहता है तो मानो वह गीता की ही बात दुहराता है—'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'।

परमात्मा की झाँकी पाना बहुत मुश्किल है क्योंकि वह 'पुहुपबास ते पातरा ऐसा तत्त अनूप' है। वह 'जनम मरन ते रहित है' और 'रेख रूप जेहि है नहीं अधर धरा नहि देह' तथा वह पुरुष-विदेह 'गगनमंडल के मध्य में' निवास करता है। यही कारण है कि मन उसे नहीं समझता। यदि कुछ अनुभूति हृदय को होती भी है तो कही नहीं जा सकती। कबीर ने इस अवस्था को 'गूंगे की री शर्करा बैठा मुसुकाई' कहकर व्यक्त किया है और इस रूपक का बार बार स्मरण किया है—'कह कबीर गूँगे गुड़ खाया पूछे सो क्या कहिए।' कहना नहीं होगा इस प्रसंग में कबीर उपनिषद् के 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'[1] को नहीं भूले हैं।

वास्तव में ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, किसी सीमा में आबद्ध नहीं। माया के कारण वह हमें दीखता नहीं। सच पूछिए तो वह ठाँवहि ठाँव है—

करि सिंगार ता पहँ का जाऊँ,
ओही देखऊँ ठावहिं ठाऊँ।

संसार और ब्रह्म एक है, दोनों में कोई तात्त्विक अंतर नहीं है—इस बात की आवृत्ति प्रत्येक संत करता है। जायसी और कबीर ने भगवान के अद्वैत रूप का दर्शन सर्वत्र किया है। जायसी का पुष्ट अद्वैत देखिए—

दरपन बालक हाथ मुख देखै दूसर गनै।
तस भा दुइ इक साथ मुहमद एकै जानिए ॥—अखरावट

---

१ तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानंद ।४

कबीर ने 'तेरा साँई तुम में' कहकर अंतिम आवाज लगा दी है। कस्तूरी और मृग की कहानी कहने में वे कभी नहीं थकते। जबतब खीझ के साथ मन को समझाते हैं 'जा कारण जग ढूँढ़िया सो तो घर ही माहिं' और इसी धरातल पर उन्हें यह ज्ञान हो जाता है कि 'मैं तैं तैं-मैं ये द्वै नाहीं आपे अघट सकल घट माहीं।' एक 'वही' सभी घटों में व्याप्त है, हम उसे देख नहीं सकते—'सब घट व्यापक ह्वै रह्यो सोई आप अलेख।'

लेकिन इस निर्गुणधारा की अद्वैत-भावना के साथ साथ द्वैत की स्थिति भी रहस्यवादी कबीर के लिए कम आवश्यक नहीं है। यदि ब्रह्म निर्गुण का निर्गुण और निराकार का निराकार ही बना रहे तो ध्यान कैसे हो, मनन कैसे हो? उपनिषदों में ब्रह्म के निर्गुणत्व की काफी चर्चा है; लेकिन वहाँ भी ध्यानयोगियों को ईश्वर के मानस प्रत्यक्ष की कुछ-न-कुछ विधि अपनानी पड़ी है और एतदर्थ वहाँ भी भगवान के कल्पित आकार का निर्देश मिलता है—

'अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
हृदा मनीषो मनसाभिक्लृप्तो स एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

तत्त्वचिंतक कुछ भी कहता रहे किन्तु उपासक का हृदय तो उछल उछल कर यही कहेगा—'अविनासी दुलहा कब मिलिहौं भक्तन के रछपाल'। 'नेदं चेद्विदमुपास्यते' कहने से तो काम नहीं चलता, हृदय के लिए भी सामग्री जुटानी पड़ती है; नही तो दिल कैसे मानेगा? द्वैत के अभाव में विरह की अनुभूति असंभव हो जाती है। रहस्य-वादी के लिए साधना-पथ में अग्रसर होने के पूर्व परम पुरुष से किसी-न किसी प्रकार का संबन्ध बनाना आवश्यक है—इसके बिना वह एक

फटी जाती है। उनकी 'हाय-हाय' की तीव्रता देखिए—

हाय-हाय करि कब मिलौं छाती फाटी जाय।
ऐसा दिन कब होयगा दरसन करौं अघाय ॥

सुन्दरदास को सूक्ष्म ब्रह्म के उपासक के रूप में जाननेवाला व्यक्ति 'लालन मेरा लाड़िला रूप बहुत तुम माहिं' सुनकर आश्चर्यान्वित होता है। ऐसे सरूपी ब्रह्म को 'सुन्दर राखै नैन में पलक उघारै नाहिं।' दादू भी 'तेरी मूरति की बलि कीतों' कहकर अनोखे ढंग से मूर्त्तिपूजक बनते हैं। कबीरदास ब्रह्म के इसी 'रूप' के पीछे दीवाने हैं। उनकी दशा देखिए—

दिवस रैन भूख नहिं निद्रा घर अँगना न सुहाय।
सेजरिया बैरन भई हमकों जागत रैन बिहाय ॥

या, दिन नहीं चैन रैन नहिं निंदिया,
तलफ-तलफ कर भोर किया,
तलफै बिन बलम मोर जिया।

कबीर का इस तरह चीखना क्या आश्चर्य का विषय नहीं है? 'जाके मुँह माथा नहिं नाहीं रूप कुरूप' के सिद्धान्त में अटूट विश्वास रखनेवाला यह संत भला 'मैं ठाढ़ो बिरहन मग जोऊँ प्रियतम तुम्हरी आसा' क्यों कहता है? इतना ही नहीं, कबीर ने अपने 'पिय' के रंग की भी कल्पना कर ली है—'मैं मैलो पिय ऊजलो मिलनो कैसी होय'। क्या यह सगुणोपासना नहीं है? किसी प्रकार भी सही, उसका रूप

तो माना गया !'[1] आश लगाये बैठना सूक्ष्म के लिए जितना असंभव है उतना ही स्थूल के लिए संभव है और आँखों में रखकर पलकें झाँप लेने में जो आनंद कबीर को मिलता है, स्पष्ट है, उसकी प्रेरणा किसी 'रूप' से ही मिलती होगी ! 'राम की बहुरिया' 'नैनों की कोठरी' में पलकों का चिक डालकर 'पिय' को रिझाना चाहती है, उससे छेड़छाड़ भी होती है। इसी तरह जायसी का साईं भी नाम-रूप-गुणात्मक ही दीखता है। साधक की दशाएँ भोली शर्मीली मीरा की तरह ही हैं—

रहौं लजाइ तो पिउ चलै,
कहौं ता कह मोहिं ढीठ।

इसके अतिरिक्त कबीर आदि संतों ने ब्रह्म के साक्षात्कार की जो विधि अपनाई है वह तो बिल्कुल रूपोपासना ही है। ये योगी-संत सहस्रारचक्र या ब्रह्मरंध्र में अनहदनाद सुनते हैं। क्या वह सूक्ष्म ब्रह्म की स्थूल ध्वनि नहीं है ? जब भगवान निराकार एवं सूक्ष्मतम है तब उसकी ध्वनि एवं आकार का मानस-प्रत्यक्ष होना

---

१ कबीर का यह ब्रह्म पूर्णरूपेण औपनिषदिक ब्रह्म है। यह ब्रह्म महान् दिव्य और अचित्यस्वरूप है। वह सूक्ष्म से भी अति-सूक्ष्म और दूर से भी दूर है। निकट तो वह इतना है कि हमारे भीतर ही बैठा हुआ है, पर हम उसे देखते नहीं।

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥

मुण्डक० ३।१।७

कैसे संभव है ? वास्तव में सहस्रारचक्र में ब्रह्म की झलक पाने के लिए प्रेमाविष्ट जागृति की आवश्यकता है—'पति संग जागै सुन्दरी ब्रह्मझलकैं सोस'। तुलसी के अनुसार मुक्ति तो प्रेमपूर्ण उपासना से ही संभव है, जप-योग तो उसके बाहरी उपादान हैं—

आसन दृढ़ आहार दृढ़ सुमति ज्ञान दृढ़ होय।
तुलसी बिना उपासना बिन दुलहे की जोय ॥

बिना दुलहे की दुलहन क्या? कबीर ने जो अपने को 'राम की बहुरिया' कहा है उसका यही रहस्य है! यहाँ कबीर सगुणवादी हैं।

फिर भी हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि कबीर का 'राम' वही नहीं है जो तुलसी का है। कबीर दासरथी राम के उपासक नहीं। उनके अनुसार राम का मतलब कुछ और है —' दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम का मर्म है आना'। कबीर का' राम' नामातीत है, उसे अल्लाह या राम विशेषण की गम नहीं –'अलह राम की गम नहीं, तहँ कबिरा लौ लाइ'। जब वे 'निरगुन राम जपो रे भाई' कहते हैं तो उनका तात्पर्य राम की सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्थिति से ही रहता है।—

ब्रह्म सनकादि कोऊ पार न पावै
ताहि को नाम कह रामराया,

कबीर का यह दोस्त पानी से भी पतला है, धुँआ से भी झीना है 'पानी हूँ ते पातरा, धूँआ हूँ ते झीन पवनहु ते अति ऊतला दोस्त कबीरा कीन।'

'भारतीय रहस्यभावना मूलतः बुद्धि और हृदय की संधि में स्थित है। एक से आत्मा सूक्ष्म तत्त्व की व्यापकता नापती है और दूसरे से

दर्शन किया है। यहाँ तक कि नाम-स्मरण और गुरुमहिमा पर दोनों ने प्रायः समान बल दिया है। यह सत्य है कि तुलसी और कबीर के राम एक ही नहीं हैं, पर दोनों एक ऊँचाई पर 'एक' ही हो जाते हैं। तुलसी ने सगुण ब्रह्म की सार्थकता सिर्फ लोकपक्ष में ही प्रतिपादित की है। तत्त्वतः वे भी निर्गुणवादी ही हैं। वे ज्ञान और भक्ति में कोई भेद नहीं मानते—'ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा।' इसके अतिरिक्त ब्रह्म के संबन्ध में उनके परिपक्व विचार देखिए—

निरगुन ब्रह्म सगुन भए कैसे,
जल हिम उपल विलग नहिं जैसे।[1]

या,

फूले कमल सोह सर कैसा,
निरगुन ब्रह्म सगुन भए जैसा।

इतना ही नहीं, तुलसी ने तो इसे एकदम स्पष्ट कर दिया है कि मूल रूप में ईश्वर निर्गुण ही है, वह भक्तों के प्रेम में वशीभूत होकर इस मर्त्यलोक में मानवसुलभ लीलाएँ करने चला आता है।[2] —

'अगुन अरूप अलख अज जोई।
भगत प्रेमवश सगुन सो होई।

---

१ 'निरगुन से हंसा आइल सगुन समावल हो।'—कबीर
२ 'हो गया निर्गुण सगुण-साकार है, ले लिया अखिलेश ने अवतार है।'—'साकेत'

इसीलिए उन्होंने अपने राम के लिए उन्हीं सारे विशेषणों का प्रयोग किया है जिन्हें बहुत अरसे से संत अपनी पैतृक सम्पत्ति बनाये चले आ रहे थे। निम्नांकित पंक्तियों को देखकर कौन कहेगा कि यहाँ एक निर्गुण संत का हृदय नहीं बोल रहा है—

अगुन अदभ्र गिरा गोतीता समदर्शी अनवद्य अजीता।
निरमल निराकार निर्मोहा नित्य निरंजन सुख संदोहा॥

यहाँ अगुन, अदभ्र, गिरागोतीता, निराकार, निरंजन प्रभृति शब्दों पर विचार कीजिए तो तुलसी की राम-भावना का रहस्य खुल जायगा।

कबीर की निर्गुणभावना से मीरा की भावना का भी सर्वथा मेल है। यों तो वह गिरिधरलाल की राधा थी, प्रेम की चाशनी में पगी, मधुर-करुण; लेकिन वह 'निरंजन' का ही ध्यान करती है—'जाको नाम निरंजन कहिए ताको ध्यान धरूँगी मैं।' उस-पर निर्गुणभावना का रैदासी रंग चढ़ा हुआ था इसीलिए उसकी कविता में प्रायः संतों की सारी शब्दावलियाँ मिलती हैं। वह 'सुरति सुहागन नारि' जबतब 'निरगुन सुरमो सार' करती है। जिस प्रकार कबीर की आत्मा में ही उसका 'राम' बसता है उसी प्रकार मीरा का भी—'मीरा पिया मोहिं माहिं बसत है कहूँ न आती जाती।' वह 'ऊँची अटरिया लाल किवड़िया' में 'निरगुण सेज' बिछाकर 'सुरति निरति का दिवला संजोले' तथा 'मनसा की करि बाती' अपने लाल की बाट जोहती है। लेकिन उसके पिया उससे दूर हैं, बिचारी करे क्या?—'पिया दूर पथ म्हारा झीना सुरत झकोला

खाई।' इतना ही नहीं, वह कबीर और दादू की तरह हृदय में अनहदनाद भी सुनती है।

चिन करताल पखावज बाजै अनहद की झंकार।

इस प्रकार प्रेम की यह पुतली गिरिधर की प्यारी होते हुए भी तत्त्वतः अलखनिरंजन की प्रेमिका है। चिंतन के धरातल पर तुलसी आदि सगुण भक्त भी वहीं दीखते हैं जहाँ कबीर आदि निर्गुण संत थे।

श्रुतियों के परिशीलन से हमें ऋषियों के मस्तिष्क में स्थित एक ही ब्रह्म के दो रूप मिलते हैं—निर्गुण, निराकार और निरुपाधि तथा सगुण, साकार और सोपाधि। पहला परब्रह्म है, दूसरा अपरब्रह्म। साधारणतः यह बात एकदम असंगत है कि एक ही वस्तु एक ही साथ सगुण भी हो, निर्गुण भी; साकार भी हो, निराकार भी। उत्तर में वेदान्ती कहते हैं कि ब्रह्म अपने-आप में तो निर्गुण और निराकार ही है; किन्तु उपासना के लिए हम उसमें सीमाओं का आरोप करते हैं।* वस्तुतः सोपाधिक ब्रह्म भ्रम-

* *यूरोपीय दर्शन में कांट आदि दार्शनिकों के पश्चात् 'स्पेन्सर' आते हैं जिन्होंने भगवान की सत्ता को स्वीकार किया। उन्होंने इसपर जोर दिया कि हम सान्त वस्तु को ही जान सकते हैं; परमतत्त्व (अनन्त) को जानना हमारी शक्ति के बाहर है। चूँकि हम परमतत्त्व के बारे में कुछ नहीं जानते; अत उसकी सत्ता को स्वीकार करना ठीक नहीं। इन अज्ञेयवादियों के बाद यूकेन आदि ईश्वरवादियों ने भगवान की लीलाओं को व्यावहारिक क्षेत्र में स्वीकार किया।*

मात्र है—जैसे सीपी को चाँदी समझना। वस्तुतः सीपी तो सीपी ही रहेगी, उसे हम चाँदी समझें या काँसा। उसी तरह हम ब्रह्म को सशरीरी, समझें तो समझें वह तो निर्गुण का निर्गुण और निरुपाधि का निरुपाधि बना रहता है। इतनी बातें तो प्रायः सगुण-निर्गुण दोनों सम्प्रदाय के भक्तों ने मानी हैं। कबीर ने कहा है—

मैं अबला पिउ-पिउ करूँ निरगुन मेरा पीव।
शून्य सनेही राम बिन देखूँ और न जीव॥

कबीर का यह पिउ, कहा जा चुका है, 'अकार-उकार-मकार-मात्रा इनके परे' है और 'राजस तामस सात्त्विक निर्गुण इनके आगे' भी है। कबीर का परमतत्त्व तो 'पुहुप बास हूँ ते कछु झीना' है और इसलिए लोग उसे समझते नहीं।

कोई ध्यावै निराकार को कोई ध्यावै सकारा।
वह तो इन दोउन ते न्यारा जानै जाननहारा।

तुलसी ने भी इसी तूलिका से राम का चित्र खींचा है—

व्यापक अकल अनीह अज निर्गुण नाम न रूप।

इसके विपरीत जहाँ तुलसी ने यह कहा कि 'सेवक-सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि' वहाँ जायसी ने भी यह माना कि परमात्मा का बोध नाम और गुणों के बिना नहीं हो सकता—

दीन्ह रतन विधि चारि बैन नैन सरवन्न मुख।
पुनि जब मेटहिं मारि मुहमद तब पछितानि मैं॥—अखरावट

ऊपरी दृष्टि से इन उक्तियों में पारस्परिक विरोध दीखता है। मस्तिष्क और हृदय इन दो भिन्न तत्त्वों की एकत्र स्थिति से जो

वातावरण उपस्थित हो सकता है—यहाँ कुछ-कुछ वही हो गया है। हृदय को ठोस की खोज रहती है, मस्तिष्क को सूक्ष्म की, दिल सगुण में रमना चाहता है, दिमाग को निर्गुण के बिना चैन नहीं। इसी भूल-भुलैया में पड़कर हमारी मनःस्थिति विशृंखल हो जाती है। इसका सुन्दर सुलझाव निर्गुण सगुण ज्ञान-भक्ति में है। संतों ने, ऐसा लगता है, उपनिषदों की काफी छानबीन की थी और स्वयं, उनके व्यक्तिगत चिंतन ने उसमें योग देकर ब्रह्म के निर्गुण रूप को मजबूती से उनके हृदय में बिठा दिया था। उनकी उक्तियों में गंभीर अनुभव के दर्शन होते हैं। कबीर के दर्शन की गहराई देखिए—

नहि निरगुन नहिं सरगुन भाई नहिं सूछम असथूल।
नहि अच्छर नहिं अवगत भाई ये सब जग के मूल॥
जहाँ पुरुख तहँवा कछु नाहीं कह कबीर हम जाना।
हमरी सैन लखै जो कोई पावै पद निरवाना॥

ऊपर के विवेचन से हमें ज्ञात हो गया कि तथाकथित सगुणवादी वास्तव में निर्गुणवादी हैं और निर्गुणवादी सगुणवादी है। वस्तुतः सगुण तथा निर्गुण कवियों में कोई तात्त्विक अंतर नहीं है। 'सगुण उपासक यदि प्रशस्त स्निग्ध आभा फैलानेवाला नक्षत्र है तो रहस्यद्रष्टा अपने पीछे आलोकपुञ्ज की प्रज्वलित-लीक खींचनेवाला उल्कापिंड। एक की गति में निश्चल स्थिति से हमारा चिर-परिचय है, अतः हम इच्छानुसार आँखें ऊपर उठाकर उसे देख भी सकते हैं और अनदेखा भी कर सकते हैं। परन्तु दूसरा हमारे

दृष्टिपथ में ऐसे आकस्मिक वेग के साथ आता है कि उसकी ज्योतिर्मय स्थिति पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के समान ही हमारी दृष्टि को बलात् खींच लेती है। सगुण गायक हमारे साथ-साथ जीवन की रागिनी सुनाता और पथ बताता हुआ चलता है, पर निर्गुणवादी अन्वेषक कहीं दूर अंधकार में खड़ा होकर पुकारता है—'चले आओ, थकना हार है, रुकना मृत्यु है।'

हमारी बुद्धिवृत्ति बाहर के स्थूलतम बिन्दु से लेकर भीतर के सूक्ष्मतम बिन्दु तक जीवन को एक अर्द्धवृत्त में घेर सकती है परन्तु दूसरा अर्द्धवृत्त बनाने के लिए हमारी रागात्मिका वृत्ति ही अपेक्षित रहेगी। हमारे भावक्षेत्र और ज्ञानक्षेत्र की स्थिति पृथ्वी के दो गोलार्द्धों के समान है जो मिलकर भूगोल को पूर्णता देते हैं। इसी प्रकार जीवन के निश्चित बिन्दुओं को जोड़ने का काम हमारा मस्तिष्क कर लेता है पर इस क्रम से बनी परिधि में सजीवता के रंग भरने की क्षमता हृदय में ही संभव है। भक्ति-काल का साहित्य जैसे इन दोनों का संधिपत्र है जिसके अनुसार बुद्धिवृत्ति झीने वायुमंडल के समान बिना भार डाले हुए ही जीवन पर फैली रहती है और रागात्मिका वृत्ति उसके धरातल पर सत्य को अनंत रंग-रूपों में चिर नवीन स्थिति देती रहती है। शरद के पूनो में जैसे पृथ्वी और आकाश मिल गये हों—ज्योत्स्ना ने कर्म-संकुल जगत् और ज्ञान-संकुल व्योम का पाणिग्रहण करा दिया हो—ऐसी ही है वह सम्मिलन भूमि !! कबीर के शब्दों में—

संतो धोखा कासों कहिए।
गुण में निर्गुण निर्गुण में गुण है बाट छाड़ि क्यों बहिए॥

संतमत का व्यवहारपक्ष

तमाचे मार-मार कर गुमराहों को सीधे मार्ग पर लानेवाले का ाक्तित्व कैसा होता है यदि इसे समझना हो तो संत-साहित्य के पन्ने लटिए। युग की आँखों में उँगली डालकर उसे पथ का पता ताना साधारण साहस नहीं खोजता। सीना तान कर जिस-तिस के ामने खड़ा होकर, उसकी राह रोक कर जो कुछ जी में सच्ची बात आवे से बिना हिचक के सुना देना ऐसे-वैसे कलेजे का काम नहीं! 'जी जूर' कहने वालों को आपने खूब देखा होगा (और आज की दुनियाँ । उनके अपवादों से परिचय नहीं रखती) लेकिन बीच बाजार में ड़े होकर भले को भला और बुरे को बुरा कहनेवाले शायद आप ो नहीं मिलें होंगे। भारतीय इतिहास में १५ वीं शताब्दी से लेकर ७ वीं शताब्दी तक का समय दीवानों की मस्ती से ओतप्रोत है— न पागलों से जिनका नारा था—'रास्ता रोक के कह लेंगे जो कहना ः हमें।' और इन मस्तानों ने यही किया—मुल्ले को छेड़ा; पंडित को

चिढ़ाया, योगियों पर मुँह बिचकाया। मन्दिर को तोड़ा, मस्जिद पर थू थू किया, वेद को जलाया, क़ुरान से भोजन बनाया। लोग देखते थे और दाँतों तले उँगली दबा लेते थे—ऐसे पगलों से कौन बोले ? इन फक्कड़ों को भी दुनिया की परवा नहीं—यदि परवा ही होती तो आँख मूँद कैसे होता ! किसी से कुछ देना लेना हो तब न किसी की फ़िक्र की जाय ! यहाँ तो सब स्वाहा है, चौपट ! जो भूत के खाते को सँजोकर उसका हिसाब किताब ठीक करता है वह और चाहे जो भी हो जाय, मस्त नहीं बन सकता। संस्कार उसके पीछे लाठी लिये घूमता फिरता है—वह दब्बू बन कर चुप बैठ जाता है। संतों के हृदय में असीम साहस और अदम्य उत्साह था। संसार क्या कहता है यह सुनने की फ़ुरसत उन्हें नहीं थी—वह गाली देता है तो देता रहे, बला से !

हिन्दी साहित्य में क्रान्तिकारियों का दर्शन प्रथम-प्रथम यहीं होता है। रात्रि के घुप्प अँधियाले में एक झोपड़ा जल रहा है और उसकी आग से अपने मशाल को प्रदीप्त कर एक क्रांतिकारी हमारे बीच दौड़ता हुआ आता है और सिंहनाद करता है—

कबिरा खड़ा बजार में लिए लुकाठी हाथ ।
जो घर फूँके आपनो चले हमारे साथ ॥

कबीर ने अपना घर फूँक दिया है, जिसे अपना घर प्यारा न हो वह उसे फूँक कर उनकी टोली में शामिल हो सकता है। आस-पास के घरों से पंडितों का झुंड आता है, मुल्ले विस्फारित नेत्रों से ताकते हैं। इन आवारों की नादानी पर हँस कर कह उठते हैं—'हुँह,

दीवाने हैं ये, पगले; विधार्मी कहीं के, काफ़िर कहीं के, भटकते-भटकते मर जायँगे।' और कबीर की टोली "हमन है इश्क़ मस्ताना हमन को होशियारी क्या' कोरस गाती हुई आगे बढ़ जाती है, गलियों को प्रकाशित करती हुई।

इन निरगुनियों के लिए यह असंभव हो गया कि आँखों तले लूटपाट होती रहे और ये देखते रहें, धोखेबाजी से जनता को बहलाया जाय और ये चूँ तक नहीं करें। मुल्लों की विडम्बना अलग पुकारती है, पंडितों की धाँधली अलग—एक मंदिर में भगवान को दुपट्टे की ओट में छिपाये, उसका सेक्रेटरी बनकर ठेकेदारी की रकम जी खोलकर वसूल कर रहा है तो दूसरा मस्जिद की छाँह में तसबीह की खट्खट् सुनाकर महजब का फरिश्ता बना बैठा है। दोनों अपनी-अपनी मुहरें चलते हैं—किसी का सिर लाल हो तो हो, उनको अपनी गोटी लाल चाहिए, बस। फंदा कसता जा रहा है। छूआछूत, नीच-ऊँच, जाति पाँति-शास्त्र-कुरान का प्रकोप युग के शरीर में कोढ़ बन कर घुस गया है। धर्म का मूल तत्त्व तिरोहित हो गया है। 'तीरथ जल' के लिए दौड़ जारी है; दानपुण्य से झटपट आचारवान बनने की तैयारी हो रही है। योगियों ने कुछ और ही बखेड़ा खड़ा कर दिया है। तंत्र-मंत्र की चामत्कारिक सिद्धियों से जनता अवाक् है और उस मार्ग की गहनता के कारण पैर उस ओर उठते नहीं। संतों से यह सब नहीं देखा गया। उनकी आत्मा तिलमिला उठी और वे एक-एक की खबर लेने लगे।

१ वह युग आज-सा रूढ़िविरोधी और डेमोक्रेटिक नहीं था। आप

कल्पना नहीं कर सकते कि उन दिनों हिन्दू-तुरक के झगड़े में पड़कर दीन-विचार करना कितना खतरनाक था। इन संतों ने एक ही मोर्चा नहीं खड़ा किया। जितने मोर्चे थे सभी पर आक्रमण किया— एक साथ, एकबार। इन्हें समाज की कितनी चोटें खानी पड़ी होंगी इसका हम अन्दाजा नहीं लगा सकते। समाज में पंडित और मुल्ला ही दो ऐसे देव थे जिनकी आज्ञाएँ भगवान की आज्ञाओं के बाद स्वीकार की जाती थीं। इनके विरुद्ध में चों-चपड़ करना बेवकूफी की सीमा थी। कबीर की अक्खड़ता ने चिल्ला-चिल्ला कर इनका भंडाफोड़ करना आरंभ किया। यह सामान्य साहस से परे की बात थी।

इन संतों का आविर्भाव एक निश्चित काम करने के लिए हुआ था। हिन्दू मुसलमान एक साथ रहते हुए भी पड़ोसी नहीं बन पाये थे। दोनों ने जो मार्ग अपनाया था वह दोनों के लिए खतरनाक था। कबीर समझाते हैं—देखो, मान जाओ, तुम्हारी राह ठीक नहीं। हिन्दू कहलाते हो पर हिन्दुत्व तुममें नहीं है। मुसलमान कहलाते हो लेकिन मुसलमानियत नहीं है।

संतो राह दोऊ हम दीठा।
हिन्दु तुरक हटा नहि माने स्वाद सबन को मीठा॥
हिन्दू बरत एकादसि साधे दूध सिंघाड़ा सेती।
अन को त्यागै मन नहि हटकै पारन करै सगौती॥
रोजा तुरुक नमाज गुजारे बिसमिल बाँग पुकारै।
उनको भिस्त कहाँ ते होइहै साँझे मुरगा मारै॥

कबीर को मुसलमानों एवं हिन्दुओं से जातिगत चिढ़ नहीं थी।

दुःख इसी का था कि वे धर्म के मिथ्या रूप के पीछे लड़ रहे हैं और शरीर के बदले छाया पकड़े एक दूसरे का सिर तोड़ रहे हैं। धर्म का आदर्श उनके सामने नहीं है। भगवान या अल्लाह की याद कोई नहीं करता। हाँ, उसके नाम पर तू-तू मैं-मैं जितना चाहें कर ले? यही कारण है, एक दूसरे के दोषों का पोल खोलना उन्होंने उचित समझा। यदि हिन्दुओंकी मूर्ति-पूजा, संध्यागायत्री, छापा-तिलक, तीर्थ व्रत, जाति-पाँति, वेदशास्त्र इत्यादि की निन्दा उन्होंने की तो मुसलमानों के नमाज-रोजा, तसबीह-इबादत, शेख-काजी, कुरान आदि की भी जी भर कर खबर ली। परवर्ती सभी संतों ने कबीर का ही रास्ता अपनाया।

संतों ने सबसे जबरदस्त धक्का कर्मकाण्ड पर लगाया है। दोनों धर्मों में कर्मकाण्ड बढ़ चला था और इसी के बवंडर में सभी पथ-भ्रष्ट हो चले थे। नामदेव ने बहुत पहले इसे लक्ष्य कर कहा था—'हिन्दू अंधा तुरकौ काना दुहौ ते ज्ञानी सयाना।' इनके अनुसार कर्म की स्थिति ही शून्यमय है—वह आया कहाँ से?—

चंद न होता सूर न होता पानी पवन मिलाया।
शास्त्र न होता वेद न होता करम कहाँ ते आया॥

इस कर्मकाण्ड की चर्चा करते समय श्राद्ध, व्रत, उपवास, बहुदेव पूजा आदि पर संतों ने काफी बल दिया है। दया ने 'तीरथ-व्रत' के संबध में कहा—

नहिं संयम नहिं साधना नहिं तीरथ व्रत दान।
मात भरोसे रहत है ज्यों बालक नादान॥

कबीर ने कहा कि तीर्थ जल में स्नान करने से मुक्ति नहीं मिलती,

सच पूछो तो मनुष्य राक्षस बन जाता है। वह विष की बेलि है, हलाहल है, उससे बचो—

तीरथ गए ते बहि मुए जूड़े पानी न्हाय।
कह कबीर संता सुनो राक्षस ह्वै पछिताय॥
तीरथ भई बिख बेलरी रही जुगन जुग छाय।
कबिरन मूल निकंदिया कौन हलाहल खाय॥

उनका तर्क है कि यदि खुदा मस्जिद मात्र में ही रहे और राम तीर्थों में ही निवास करे तब तो संसार के शेष भाग ईश्वरशून्य माने जायँगे?—

जो खोदाय मस्जिद में बसतु है और मुलुक केहि केरा।
तीरथ मूरत राम निवासी दुइ मँह किनहुँ न हेरा॥

दादू ने स्पष्टतया कहा है कि काशी और मथुरा दौड़ने से कोई लाभ नहीं। 'साहिब' तो शरीर के भीतर है—

कोई दौड़े द्वारिका कोई कासी जाहिं।
कोई मथुरा को चलै साहिब घट ही माँहिं॥

संतों ने इस प्रकार तीर्थव्रत के झमेले में न पड़कर आंतरिक शुद्धता पर ही जोर दिया। उनका सिद्धान्त यह था कि तीर्थों में घूमने से अच्छा है कि हृदय को विशाल बनाओ; अहिंसात्मक आचरण कर सारे विश्व में 'अहं' को देखो और तभी भगवान दिखाई पड़ेगा। वह तो तुम्हारे भीतर ही है। यदि यह अन्तर्ज्ञान नहीं हुआ तो 'तीरथ' व्यर्थ है। भीतर मैल भरा हैं तो बाहर के स्नान करने से क्या फ़ायदा? यदि जल में स्नान करने से ही मुक्ति होती हो तो मेढ़कों

को पहले मुक्त होना चाहिए। हमने देखा है मेंढ़क आवागमन के चक्र से मुक्त नहीं है। उसी प्रकार मनुष्य भी बार-बार मरते और जन्म ग्रहण करते हैं।—

अंतरि मैल जे तीरथ न्हावे तिसु वैकुण्ठ न जाना।
लोक पतीणे कछु न होवे नाहीं राम अयाना॥
जल के मज्जन जे गति होवे नित नित मेंडुक न्हावहिं।
जैसे मेंडुक तैसे ओइ नर फिरि फिरि जोनी आवहिं॥

यहाँ एक बात का स्पष्टीकरण आवश्यक है कि संतों के पास कौन सी ऐसी अमोघ शक्ति थी जिसके प्रताप से प्रतिपक्षियों की बातें ये धीरता से सह जाते थे और अपनी धुन में मस्त रहा करते थे। योगियों ने बहुत पहले मूर्तिपूजा तथा तीर्थव्रतादि बाह्याचारों का खंडन किया था, पर उनकी वाणी में सिर्फ कर्कशता ही थी, संतों की लापरवाही वहाँ दुर्लभ है। इन निरगुनियों के पास एक प्रभावशाली कवच था जिसके कारण बाहरी चोटें विफल हो जाती थीं। वह चीज थी भक्ति। भक्ति की डोर इनके पास थी—इन्हें इसी कारण डर नहीं था। तभी तो रैदास अकड़कर कहते हैं कि भक्ति का हृदय में उद्रेक हो जाने पर तो 'अहं' का लोप हो जाता है और मानापमान की सीमा से हम दूर चले जाते हैं। फिर भगवान के लिए बाहरी उपकरण आवश्यक नहीं समझे जाते। नाचने-गाने से क्या होना-जाना है? तप तो ढकोसला दीखने लगता है। तीर्थ-व्रत व्यर्थ मालूम पड़ते है और ये तभी तक प्रिय लगते हैं

जब तक ईश्वरीय तत्त्व का सम्यक् ज्ञान नहीं हो जाता—

भगति ऐसी सुनहु रे भाई आई 'भगति' तब जाई बड़ाई।
कहा भयो नाचे अरु गाये कहा भयो तप कीन्हें॥
कहा भयो जे चरन पखारे जौ लौं तत्त्व न चीन्हें।
कहा भयो जे मूड़ मुड़ाये कहा तीरथ व्रत कीन्हें॥
स्वामी दास भगत अरु सेवक परम तत्त्व नहिं चीन्हे।

—रैदासजी की बानी पृ० ९।

इस धरातल पर खड़े होकर दादू अपना निर्णय सुना देते हैं। अजी सुनिए, देवता व्यर्थ हैं, उनकी माया मिथ्या है, मंदिर अनावश्यक हैं, मूर्तियाँ झूठी हैं। सभी झूठे हैं, देव भी, उसका पुजारी भी; उसकी सेवा भी। तीर्थ व्रत व्यर्थ हैं। इन जंजालों को छोड़कर एक परम तत्त्व पर ध्यान केन्द्रित करो। झूठों के फेरे में पड़ने से लाभ क्या!

झूठे देवा झूठी सेवा झूठी करै पसारा।
झूठी पूजा झूठी पाती झूठा पूजनहारा॥[1]

मलूकदास को यह आत्मज्ञान हो गया है और अब वे कान ऐंठ कर प्रतिज्ञा करते हैं कि अब कहीं इधर-उधर नहीं ढूढ़ूँगा, कारण 'वह' तो दिल ही में चला आया है। भला, ऐसी दशा में मक्का और हज की क्या हस्ती, तोबा कीजिए!....

कहै मलूक अब कजा न करि हौं दिल ही सों दिल लाया।
मक्का हज्ज हिए में देखा पूरा मुरशिद पाया॥

---

१ दादू 'परचा को अंग', पृ० १९७

यही दशा ग़रीबदास की भी है। जब हृदय के अंदर ही दीपक जल गया तब बाहर क्या ढूँढ़ना ? मन में ही करोड़ों सूर्य और चन्द्र का प्रकाश फैला हुआ है, उसमें ही मंदिर बन गया है, फिर पत्थर पूजने से क्या फायदा ?—

चित्त के अंदर चाँदना कोटि सूर ससि भान।
दिल के अन्दर देहरा काहे पूज पखान॥

रैदास की आकांक्षा पर विचार कीजिए! वे राम के चरण पर भरोसा किये हुए हैं। उन्हें किसी तीर्थ और किसी व्रत से कोई वास्ता नहीं! सब जगह उन्हें राम के दर्शन होते हैं और जहाँ-जहाँ जाते हैं वहीं पूजा कर लेते हैं। कोई विशेष मंदिर या विशेष मंदिर में सिमट कर रहनेवाले राम को उन्होंने अपना प्यार नहीं दिया है।—

तीरथ बरत न करौं अँदेसा। तुम्हरे चरन कमल क भरोसा।
जँह जँह जावों तुम्हारी पूजा। तुमसा देव और नहिं दूजा॥[1]

इन तीर्थादि के झमेलों से कबीरदास काफी ऊब गये हैं, थक कर उदास हो गये हैं। वे खीझ कर पूछते हैं कि जरा कोई बता दे कि तीर्थ बड़ा है कि हरि का दास ?—

कहि कबीर हउ भइआ उदासु।
तीरथु बड़ा कि हरि का दासु॥[2]

यह खीझ इनके मन में इसलिए उत्पन्न हुई कि योगी, जती,

---

१ रैदास जी की बानी, पृ० २४

२ संत कबीर, पृ० ४५

व्रती सिर्फ परंपरा का पालन करते हैं, दिखाऊ आचरण मात्र करते हैं जिससे लोग उन्हें धर्मी कहें। वस्तुतः न तो उनके दिल में व्रत का सम्मान है, न हृदय में भगवान की चिंता। चिंता इस बात की लगी रहती है कि कब पारन हो, बला टले। संतों का कहना है कि व्रत करना है तो ठीक से करो, यह लटपट कैसा? इसके अलावा पूजनविधि भी कुछ बेढंगी ही है। हिन्दू पूरब की ओर बैठकर ही संध्या करेंगे। मुसलमान पश्चिम की ओर मुँह घुमाकर नमाज पढ़ेंगे। कबीर को यह बात समझ में नहीं आई कि क्या राम का देश पूरब है और रहीम का मुल्क पश्चिम है। अजी, दिल में खोजो, दिल में! वहीं राम भी है, रहीम भी!—

हिन्दू एकादसि चौबीस रोजा। मुसलिम तीस बनाए।
बारह मास कहो क्यों टारो ये केहि माँहि समाए॥
पूरब दिसि में हरि को बासा। पच्छिम अलह मुकामा।
दिल में खोज दिले में देखो यहै करीमा रामा॥[1]

कबीर सोचते हैं कि आखिर तुम दान-पुण्य, हरिद्वार-प्रयाग की दौड़ वैकुण्ठ जाने के लिए ही तो करते हो लेकिन बुद्धि तो तुम्हारी परिमित है। अतः भगवान् को भी सीमा में आबद्ध करने की चेष्टा करते हो—तुम वास्तव में जानते नहीं कि वैकुण्ठ कहाँ है। अरे, वैकुण्ठ तो सर्वव्यापी है। जबतक झूठे स्वर्ग की कामना नहीं मिटती तबतक प्रभु के चरणों में स्थान नहीं मिलेगा। कबीर हैरान

---

१ कबीर वचनावली; पृ० २२१।

हैं कि 'सच्चा बैकुण्ठ साधु संगति में है', इतनी छोटी-सी बात लोग समझते क्यों नहीं?—

जबलगि मनु बैकुण्ठ की आस।
तब लगि होइ नहीं चरन निवासु॥
कहु कबीर इहु कहीये काहि।
साध संगति बैकुण्ठे आहि॥[1]

यदि मानते नहीं तो चलो, कबीर बैकुण्ठ पहुँचा देंगे—

चलु रे बैकुण्ठ तुम्हहि ले तारउ।
हित हित प्रेम के चाबुक मारउ॥

इस संसार में लक्षावधि प्राणी बैकुण्ठ के फेरे में पड़कर झूठे आचारों को प्रश्रय दे रहे हैं। सशरीर स्वर्ग जाने की कामना उन्हें पशुओं की बलि देने की प्रेरणा देती है—निर्जीव की पूजा के लिए सजीव की हत्या करने में वे नहीं हिचकते। सत्य तो यह है कि राम की महिमा से वे अपरिचित हैं और अज्ञानवश देवी-देवता की पूजा किया करते हैं। विषय-वासना में सराबोर जीव ब्रह्म को क्या समझे?

सरजीउ काटहि निरजीउ पूजहि अंतकाल कउ भारी।
राम नाम की गति नहीं जानी भै डूबे संसारी॥[2]

इसी सिलसिले में संतों ने ढोंगियों के छापा-तिलक, कंठीमाला

---

१ संत कबीर, पृ० १२।
२ संत कबीर, पृ० ४८।

आदि की जोरदार आलोचना की। माला का प्रयोग स्मरण करते समय मन को केन्द्रित रखने के लिए किया जाता है। लेकिन अक्सर मन कहीं दूर भाग जाता है, माला के दानों पर उँगलियाँ घूमती रहती हैं, जीभ भी राम नाम कहती रहती है, पर स्मरण नहीं होता। मन हमेशा उचक-उचक कर भागता फिरता है। कबीर कहते हैं—

माला तो कर में फिरै जीभ फिरै मुख माँहि।
मनुवाँ तो दस दिसि फिरै यह तो सुमिरन नाहिं॥

नानक ने भी इसे परखा है और तथाकथित योगियों को समझाया है कि वैराग्य का लक्षण कंठी धारण करना और छापा-तिलक लगाना नहीं है।—

जपा जनेऊ कंठीधर छापा तिलक लगाय।
लक्षण ना वैराग के जोलौं योग सुहाय॥

रैदास की बात सुनिए—

तिलक दिये पै तपनि न जाई।
माला पहिरै घनेरी लाई॥

दादू इस पचड़े में नहीं पड़ना चाहते। उन्होंने मन में माला का निर्माण कर दिया है और वे मन ही में हरिनाम का जप करते हैं; न हाथ की जरूरत है, न जीभ की।

सतगुरु माला मन दिया पवन सुरत सूँ पोइ।
बिन हाथों निसदिन जपै परम जाप यूँ होइ॥[1]

---

१ दादू दयाल की बानी (भाग १) पृ० १५७। ४६।

इन संतों के जमाने में नाना वेश धारण कर पाखंडियों की टोलियाँ भिक्षाटन करती थीं और इस सिलसिले में भिखारी की संज्ञा न प्राप्त कर 'स्वामी जी' का बाना धारण किया जाता था—श्रद्धालु गृहस्थों को बाहरी बनावट के ताव में चकमा देने का 'शॉर्टकट' यही था। संतों ने रामनामा ओढ़े, त्रिपुण्ड लगाये और गेरुए वस्त्र से शरीर को नख-शिख ढँकनेवाले 'बाबा' नामधारी सज्जनों को देखा था और न सिर्फ बाहर से, बल्कि उनके भीतर डूब कर देखा था। उनके अनुभव से परिचय प्राप्त कीजिए—

स्वाँगी सब संसार है दादू बिरला कोइ।
जैसे चंदन बावना वन वन कहीं न होइ॥[1]
भगत भेष धरि मिथ्या बोलैं निंदा पर अपवाद।
साँचे कूँ झूठा कहै लागै बहु अपराध।[2]

इसीलिए दादू को छापा-तिलक तथा दिखावटों से कोई काम नहीं है। उनके अंतर में एक परमात्म तत्त्व निवास करता है और रातों-दिन उसीका नाम वे जपते रहते हैं—

माला तिलक सूँ कछु नहिं काहु सेती काम।
अंतरि मेरे एक है अहिनिसि उसका नाम॥

संतों का विश्वास था कि इन पाखंडों को प्रोत्साहित करने में शास्त्रों का काफी जबरदस्त हाथ है और मुल्लों तथा पंडितों ने

---

१ दादू दयाल की बानी; भेष को अंग १५४। १६।

२ दादू दयाल की बानी, भेष को अंग १५५। २५।

मनमानी हुकूमत करने के लिए 'वेद-कतेब' का सहारा लिया है। यदि मुल्लों और पंडितों के प्रभाव को समाज से दूर करना है तो शास्त्रों के दलदल से अबोध जनता को खींचना आवश्यक है। परिस्थिति विकट थी लेकिन किया क्या जाय? प्रपंचों[1] की आँच तेज होती जा रही थी, कबतक मुँह मोड़ा जाय? कबीर ने शास्त्रों की दकियानूसी विचारधारा पर कुल्हाड़ी चलाना शुरू किया। उनका तर्क 'पेटहिं काहु न वेद पढ़ाया' से आरंभ हुआ और एक-एक की खबर ली जाने लगी। 'वेद किताब पढ़े वे कुतबा वे मौलाना वे पाँड़े'—इस प्रसंग में अंतिम राग है जहाँ कबीर एक बाजारू निंदक बन जाते हैं। अन्य स्थलों पर उनकी वाणी में सिर्फ शिकायत मिलती है। उनका कहना है कि वेद-पुराण आदि ढूँढ़ने पर भी शास्त्रविज्ञ मुक्ति नहीं पाते क्योंकि आवागमन से विश्राम पाने के लिए एकमात्र राम-जप ही उपाय है जिसे कोई नहीं करता।

वेद पुरान सिम्रिति सभ खोजे काहु न ऊबरना।
कहु कबीर इउ रामहि जंपउ मेटि जनम मरना॥

अथवा,

वेद पुरान पढ़े का किआ गुनु खर चंदन जस मारा।
राम नाम की गति नहिं जानी कैसे उतरसि पारा॥

---

१ 'हिन्दू मुसलमान दो दीन सरहद बने वेद कतेब परपंच साजी।'—कबीर, ज्ञान-गूदड़ी पृ० १६

दादू का कहना है कि सिर्फ पढ़ने से कुछ नहीं होता। कितने पढ़नेवाले संसार से बिस्तर लपेट कर गये, उनसे किसी का लाभ नहीं हुआ। यदि पढ़ने से ही मोक्ष मिलने को रहता तो सभी पढ़ते और सभी मुक्ति के अधिकारी बनते—लेकिन पढ़नेवालों को तो व्यर्थ के बकवास में लिप्त देखा जाता है। उनसे सत्कर्मों की कैसे आशा की जाय क्योंकि शास्त्रों के झमेले में रहने से उन्हें उसके अतिरिक्त कुछ सोचने-समझने का अवकाश ही नहीं मिलता।

पढ़ि पढ़ि थाके पंडिता किनहुँ न पाया पार।
कथि कथि थाके मुनि जना दादू नाँइ अधार॥
कागद काले करि मुए केते वेद पुरान।
एकै अक्षर पीव कर दादू पढ़े सुजान॥[1]

कबीर भी कहते हैं—

पंडित वेद पुरान पढ़ै औ मौलाना पढ़े कुराना।
कह कबीर वे नरक गये जिन हरदम राम न जाना॥[2]

रैदास जी का विश्वास है कि जबतक राम या करीम की भक्ति का हृदय में उद्रेक नहीं हुआ तबतक शास्त्र और कुरान पढ़ने से कुछ नहीं होता। इन संतों के सामने एक राम ही था, बस—उसके समक्ष अन्य वस्तुएँ व्यर्थ थीं—

---

१ दादू दयाल की बानी १४३। १०२।
२ कबीर वचनावली १३६। १८८।

कृष्न करीम राम हरि राघव जब लग एक न पेखा।
वेद कतेव पुरान पुरानन सहज एक नहिं देखा ॥[1]

असल में भगवान का प्रेम चाहिए—यह प्रेम साधारण कागज के पन्नों पर नहीं लिखा मिलता। भगवत-प्रेम के पत्र को विरले संत ही पढ़ सकते हैं। हजार शास्त्र-पुराण आप पढ़ें मगर बिना उसके प्रेम के संसार में कुछ भी नहीं किया जा सकता :—

दादू पाती प्रेम की विरला बाँचे कोई।
वेद पुरान पुस्तक पढ़े प्रेम विना क्या होइ ॥[2]
काजी कजा न जानही कोगज हाथि कतेव।
पढ़ता पढ़ता दिन गये भीतर नाहीं भेद ॥
मसि कागद के आसरे क्यों छूटे संसार।
राम विना छूटै नहिं दादू भमै विकार ॥
अलिफ एक अल्लहिं का जे पढ़ि करि जाणै कोइ।
कुरान कतेवा इलम सब पढ़ि करि पूजा होइ ॥

जो ब्राह्मण शास्त्र पढ़कर अपने को ब्रह्मज्ञानी मानता है उससे लोहा लेने के लिए कबीरदास तैयार हैं। उनका साहस देखिए—

सो ब्राह्मन जो कथै ब्रह्मगिआन। काजी सो जानै रहिमान।
कहै कबीर कछु आन न कीजै। रामनाम जपि लोहा लीजै ॥

कबीर ने दुनिया को ठोक-पीट कर देखा था। उन्हें अपने

---

१ रैदास जी की बानी पृ० ४।
२ दादूदयाल की बानी पृ० १४३।

अनुभव पर काफी भरोसा था। दुनिया के पोल का चित्र उनके शब्दों में देखिए—

तीरथ में तो सब पानी है होने नहीं कछु अन्हाय देखा।
प्रतिमा सकल तो जड़ है भाई बोले नहीं बोलाय देखा॥
पुरान कुरान सबै बात है या घर का परदा खोल देखा।
अनुभव की बात कबीर कहैं यह सब है झूठी पोल देखा॥

इस पोल को उत्तेजित करने में योगियों का भी कम हाथ नहीं था। नाथपंथियों का विकृत मतवाद समाज में योग की भावना भर रहा था और जनता प्रबल वेग से उस ओर आकर्षित हो रही थी। अब योग बाहर दिखावा भर रह गया था। योगी का वेश धारण करना और चामत्कारिक दो-तीन सिद्धियाँ जानकर भोली जनता के मस्तिष्क को आतंकित करना ही योग का परम पुरुषार्थ था। इन पाखंडी वैरागियों के प्रति संतों की प्रारंभिक भावनाएँ काफी अच्छी थीं। चरित्र-निर्माण और काया-शुद्धि की जो विचारधारा इनके यहाँ मुख्य मानी जाती है उससे संतों का विशेष वैषम्य नहीं था। लेकिन पीछे पता चला कि सारा गेरुआ रंग सिर्फ टीम-टाम ही है, उसके भीतर छिपी काया वैसी ही पंकिल है जैसी साधारण मायालिप्त जीव की। संतों ने योग की पद्धति से तो पिंड छुड़ाया ही है लेकिन वास्तविक खुशी उन्हें उसके बाह्याचार से नाता तोड़ने के कारण हुई। हठयोग के स्थान पर संतों ने सहज योग को अपनाया और हठयोग की दुस्साध्य क्रियाओं के प्रति उपेक्षा दिखलाई। इस उपेक्षा में कर्कशता नहीं है। तीखापन वहाँ आता है जहाँ वे योगियों

के आचार-विचार, उसकी रूपरेखा, वेशभूषा आदि के संबन्ध में कुछ कहते हैं। योगियों ने सिर्फ सिर मुड़ाना, नंगे रहना, गेरुआ पहनना, कंठी धारण करना, तप करना आदि पर अधिक बल देना प्रारंभ किया था। और सच पूछिए तो इन बाह्याचारों के अतिरिक्त उन्हें और कुछ आता भी नहीं था। संत इसे पहचान गये थे। कबीर कहते हैं कि नग्न घूमते-फिरते रहने से यदि योग की उपलब्धि होती तो सभी मृग मुक्त हो जाते। यदि अपने आप को नहीं पहचाना तो शरीर को नंगा रखने और अनेक तरह से बाँधने से क्या लाभ ? सिर का मुंडन करने से यदि मुक्ति सुलभ हो तो भेंड़ को तो वह पहले ही मिल चुकी होगी ?

नगन फिरत जौ पाइए जोगू ।
बन को मिरगु मुकुति सभु होगू ॥
किआ नागे किआ बाँधे चाम ।
जब नहिं चीनसि आतम राम ॥
मूंड मुडाए जो सिद्धि पाई ।
मुकुति भेड़ न गइआ काई ॥
विन्दु राखि जो तरिआ भाई ।
खुसरे किउ न परम गति पाई ॥

कबीर ने बार-बार कहा है कि सिर पर जटा रखकर और शरीर में भस्म लगाकर गुफा में वास करने से कोई लाभ नहीं। वास्तव में तो मन को जीतना चाहिए जिससे विषय-वासनाओं में आसक्ति नहीं हो लेकिन उसे न जीतकर लोग बाहरी वेशभूषा धारण कर

योगी कहलाते हैं, पर उचित नहीं।

जटा भस्म लेपन किश्रा कहा गुफा महि वासु।
मनु जीते जगु जीतिश्रा जाते बिखिश्रा ते होइ उदासु॥
जोगी कहहि जोगु भल मीठा अवरु न दूजा भाई।
रूंडित मुंडित एकै सबदी एइ कहहि सिधि पाई॥

कबीर हैरान हैं कि सिर मुड़ाकर, जटा बढ़ाकर, शरीर में भभूत का लेप लगाने से आखिर योगियों को साधना में कौन-सी सहूलियत होती है ? यदि कपड़ा रंगवा लिया और मन नहीं रंगवाया तो उससे क्या हुआ !—'वाकिफ नहीं उस रंग से, कपड़ा रँगे से क्या हुआ।' इस प्रसंग में निम्नलिखित पंक्तियाँ कबीर की योग-मार्गी विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करती हैं—

मन न रँगाए रँगाए जोगी कपड़ा।
कनवा फड़ाय जोगी जटवा बढ़ौले।
दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गइले बकरा॥
जंगल में जाय जोगी धुनिया रमौले।
काम जराय जोगी बनि गइले हिजरा॥
मथवा मुड़ाए जोगी कपड़ा रँगौले।
गीता बाँचि के होइ गइले लबरा॥

अब प्रश्न होता है संतों के पास क्या इसका समाधान है ? कबीर आदि निरगुनियों ने योगियों के इस पाखंड को कम करने की विधि सोच निकाली। उन्होंने देखा कि इनके बाह्याचार का मूल रूप से बहिष्कार करने से प्रतिक्रिया आरम्भ हो सकती है, शायद विशेष प्रभाव न पड़े।

अतः पहले तो धीमे से समझाया,—देखो, शृंगी-मुद्रा एवं विभूति कुछ नहीं होता, मान जाओ, यह मार्ग छोड़ दो—

आसन पवन किए दृढ़ रहु रे मैल छाड़ि दे बौरे।
क्या सींगी मुद्रा चमकाए क्या विभूति सब अंग लगाए॥

लेकिन इससे विशेष लाभ न देखकर उन्होंने अपने सिद्धांत में ही योग का रूप, नया मोड़ देकर, स्वीकार किया। दादू ने पहले तो 'बाहरि ढूँढ़े बावरे जटा बँधाए केस' कहकर मीठी चुटकी ली, परन्तु पीछे उसका समाधान निकाला कि अच्छा, यदि मस्तक ही मूड़ना चाहते हो तो मन को मूड़ो जिससे काम-क्रोध के केश नष्ट हो जाँय।

मन का मस्तक मूड़िए काम क्रोध के केस।
दादू विषै विकार सब सतगुरु के उपदेश॥

और भी

जोग समाधि सुख सुरति सौं सहजै सहजै आव।
मुक्ता द्वारा महल का इहै भगति का भाव॥

संतों ने योग-पद्धति को खरी-खोटी सुनाई। उसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि उनके सामने सिद्धों का शुष्क योग सरस भक्ति की पृष्ठभूमि में आया था। जिसने एकबार भक्ति रस में स्नान कर लिया उसे कठोर साधना कैसे अच्छी लगेगी! एक अनंत भगवंत को निरंतर भजना ही उनका सहज योग था। इस योग के सामने षटचक्र भेदन और सिंगी-कंठी धारण करना आदि लोकाचार कैसे टिकते? सुन्दर दास की तमन्ना देखिए—

होइ अनंत भजै भगवन्तहि और कछू उर में नहिं राखै।
देखि न देख जहाँ लगि है डर कै तिन सूँ कहि दीन न भाखै॥
जोगहु जग्य ब्रतादि किया तिनको तो नहीं सुपने अभिलाखै।
सुन्दर अमृत पान कियो तब तो कहु कौन हलाहल चाखै।

योगियों ने नारी को सारे अनर्थों की जड़ समझ कर उसकी भर्त्सना की थी—संतों ने भी कनक और कामिनी को जो जोड़कर निंदा की है। सिद्धि के मार्ग में नारी व्यवधान मानी जाती है। संसार को विषय-वासना में लिप्त देखकर और विशेषतः इन्द्रियों की चाट में अपनी चीज हरिस्मरण एवं हरिभक्ति की उपेक्षा देखकर संतों ने नारी के कामिनी रूप को बुरा-भला कहना शुरू किया। स्त्री के साथ रहकर यदि कोई चाहे कि एकाग्रचित्त होकर भगवान का ध्यान कर ले तो वह शायद संभव नहीं होगा। विश्व के इतिहास में इसका अपवाद नहीं मिलता। नारी के प्रेम में पड़कर लोगों को भगवान विमुख होने में विशेष देर नहीं लगती—इश्क में जीवन पर्यन्त दीवाना बनकर दर-दर ठोकरें खानेवालों का उदाहरण काफी मिलेगा। कामिनी के साथ रहने से खतरा का जितना भय रहता है उतना उद्धार की आशा नहीं रहती। नारी क्या कर सकती है, यह कबीर से सुनिए—

नारी नसावे तीन गुन जो नर पासे होय।
भक्ति मुक्ति निज ध्यान में पैठ सके नहीं कोय॥

उन्होंने अपने जीवन में अनुभव किया था कि पहले पहल अति आकर्षण-सहित नारी किसी के हृदय में प्रवेश करती है पर क्रमशः उसका श्वेत-रूप तिरोहित होता जाता है और श्याम-रूप प्रकट होता

जाता है। कबीर ने भी नारी से प्रेम किया था लेकिन जब उसका तत्व समझ में आया तब उन्होंने निःसंकोच छोड़ दिया—

नारी तो हम भी करी जाना नाहिं विचार।
जब जाना तब परिहरी नारी बड़ा विकार॥

इस संसार में दो घाटियाँ अति दुर्गम हैं। उनसे होकर चलने की इच्छा सभी की होती है, कोई अपने को नहीं रोक सकता। लेकिन परमतत्त्व की ओर शायद ही कोई उस मार्ग का पथिक पहुँच पाता है। ये दोनों बीहड़ घाटियाँ हैं—कनक और कामिनी। कबीर समझाते हैं कि उनसे बचकर चलो। यदि विषय-वासना की लहर तुममें बढ़ गई फिर तुम हरि की ओर नहीं लौट सकते। दीपक पर जलने वाले पतंगों की तरह परकटे होकर तड़पते रह जाओगे।

दीपक सुन्दर देखि करि जरि जरि मरै पतंग।
बढ़ी लहर जो विषय की जरत न मोड़े अंग॥

अन्य संतों की तरह दरियादास भी कनक और कामिनी के फंदे से दूर-दूर हटकर चलने की सलाह देते हैं—

कनक कमिनि के फंद में ललची मन लपटाय।
कलपि कलपि जीव जाइहै बिरथा जनम गँवाय॥

दादू ने कबीर की लीक अपनाई है। दीपक-पतंग के उदाहरण को अपनाते हुए दादू ने बड़ी आकुलता के साथ कनक और कामिनी से बचकर रहने का परामर्श दिया है। किसी को समझाते समझाते जब हम थक जाते हैं और अंत में 'देखिए, मान जाइए' कहकर चुप

हो जाते हैं—लगभग उसी परिस्थिति में ये पंक्तियाँ लिखी गई हैं—

काल कनक अरु कामिनी परिहरि इनका संग ।
दादू सब जग जलि मुवा ज्यों दीपक जोति पतंग ॥

और,

जहाँ कनक अरु कामिनी तहँ जीव पतंगे जाहिं ।
आगि अनँत सूझै नहीं जलि जलि मूए माहिं ॥

कबीर के पथ को ग्रहण करते हुए भी दादू ने एक नयी विचार-धारा अपनाई है। उनका कहना है कि विषय-वासना के लिए सिर्फ नारी ही दोषी नहीं है। यदि स्त्री को डपटा जाय तो पुरुष को क्यों छोड़ा जाय ! अतः इस प्रसंग में उन्होंने दोनों को समान रूप से पाप का भागी माना है और यह स्पष्ट स्वीकार किया कि यदि नारी ने पुरुष को नरक में खींचा है तो पुरुष ने भी उसे दलदल में घसीटा है ।

नारी वैरणि पुरुष की पुरुषा वैरी नारि ।
अंतकाल दून्यूं मुए दादू देखि विचारि ॥

दोनों एक दूसरे को नीचे ढकेलते हैं। अतः दोनों को एक दूसरे से अलग रहना चाहिए—

नारी पुरिष को ले मुई पुरिषा नारी साथ ।
दादू दून्यूँ पचि मुए कछु न आया हाथ ॥
नारी पीवै पुरुष कूँ पुरिष नारी कूँ खाइ ।
दादू गुरु के ज्ञान बिन दून्यूँ गए बिलाइ ॥

संत काव्य में गुरु के ज्ञान पर काफी भरोसा रखा गया है और

गुरु की वाणी को देववाणी समझा गया है। कबीर के ऊपर रामानं का जो ऋण है उसे हम नहीं भूल सकते। वैष्णव धर्म की बहुत सा बातें संतमत में हूबहू अपना ली गई हैं। वैष्णव संप्रदाय में अहिंसा का सिद्धान्त काफी महत्त्व रखता है और वैष्णवों के आचार में निरामिष बनना स्वर्ग के लिए मार्ग प्रशस्त करना ही है। कबीर आदि संतों ने अपने चारों तरफ ब्राह्मणधर्म की बलिवेदी पर देवी-देवताओं के सामने निरपराध भेड़-बकरों का खून देखा था। ब्रह्म को सर्वत्र व्याप्त देखकर किसी ब्रह्मरूप जीव की हत्या ये सहन नहीं कर सके। हत्या करते हुए भी कर्मकाण्डी पंडितसमाज में पूज्य माने जाते थे और ये सभी नृशंस कृत्य शास्त्रों के प्रमाण की छाया में सम्पन्न हो कर धर्म के नाम पर मनुष्यता की हँसी उड़ा रहे थे। कबीर की अक्खड़ता जागरूक हो गई। गुरु का मंत्र पास में था ही, आँखों ने पुष्टि की और पाँडे तथा मुल्ला महाशयों की खबर ली जाने लगी। कबीर का पाँडे कसाई है; उसके दिल में बेगुनाह जीवों को खून से लथपथ तड़पते देखकर तनिक दया नहीं आती—

साधो पाँडे निपुन कसाई
बकरी मारि भेड़ि को धाये दिल में दरद न आई॥
करि अस्नान तिलक दै बैठे विधिसों देवि पुजाई।
आतम मारि पलक में विनसे रुधिर की नदी बहाई॥

मुसलमानों के यहाँ हत्या करना, विशेषतः गोहत्या करना, महान् पुण्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। कहते हैं, एक हत्या का महत्त्व एक हज के बराबर है और इस पाक काम को करनेवाला

सीधे हज़रत चला जाता है। कबीर समझाते हैं—

भूला वे अहमक नादाना तू हरदम रामहि ना जाना।
बरबस आनि के गाय पछारा गला काटि जिउ आप लिया।
जीता जिउ मुरदा करि डारै तिसको कहत हलाल किया॥
जाहि माँस को पाक कहत है ताकी उतपति सुनु भाई।
रज बीरज सों माँस उपानी माँस न पाक जो तुम खाई॥
अपनी दोष कहत नहीं अहमक कहत हमारे बड़न किया।
उनका खून तुम्हारी गरदन जिन तुमको उपदेश दिया॥

काज़ी को कोसते हुए कबीर कहते हैं कि यह कौन सा नया धर्म तुमने अपनाया है जिससे घर घर जबह कराते चलते हो? बकरी मुर्गी ने आखिर तुम्हारा बिगाड़ा ही क्या है? और, जब तुम उसे जन्म नहीं दे सकते तब उसकी गर्दन पर छुरी चलाने का तुम्हारा अधिकार कैसा? क्यों?

काज़ी काज करो तुम कैसा। घरघर जबै करायो भैंसा।
बकरी मुर्गी किन फुरमाया किसके हुकुम तुम छुरी चलाया।
दरद न जाने पीर कहावै बैता पढ़ि-पढ़ि जग समुझावै।

दादू ने, हिंसक की कौन कहे मांसाहारियों को भी निष्ठुर, अचेत, कपटी और कुकर्मी कहा है। मुसलमान बकरे का गला घोंटते समय कलमा पढ़कर उसके मांस को शुद्ध करते हैं, दादू का कहना है कि पाँच-पाँच बार नमाज पढ़ने से क्या होने वाला है जब तुम्हारा यकीन अथवा ईमान ही दुरुस्त नहीं है।

वेमिहिर गुमराह गाफिल गोश्त खुर्दनी।
वेदिल बदफार आलम हयात मुर्दनी॥
गल काटै कलमा भरै अया बिचारा दीन।
पाँचौ वख़्त निमाज गुजारैं स्याबित नहीं यक़ीन॥[१]

दूलनदास का उपदेश सुनिए—

दया धरम हिरदे में राखहु घर में रहहु उदासी।
आन के जीव आपन करि जानहु तब मिलि हैं अविनासी॥

दादू की सलाह है कि यदि मारना ही है तो अपने मन को मारो, दूसरों को क्यों मारते हो—'आपस कौ मारै नहिं औरों को हुशियार।'[२] जब तक अपने आपको नहीं मारते, तृष्णा का नाश नहीं करते तब तक खुदा कैसे मिलेगा ?—

भीतर दुंदर भरि रहै तिनको मारैं नाहिं।
सोहिब की अरवाह कौं ताको मारन जाहिं॥
....
दादू आपा मारै बिना कैसे मिले खुदाय।

संतों ने हिन्दू मुसलमान दोनों को एक ही रास्ते पर चलते हुए देखा। कर्मकाण्ड का झमेला दोनों के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में विशृंखलताएँ फैला रहा था। अक्खड़ कबीर ने पंडित को भी समझाया, मुल्ले को भी। किसी ने उनकी बात नहीं मानी—सुधार के लिए उन्मुख कबीर की आत्मा चीख उठी :—'अरे, इन दोउ राह न पाई'। दोनों घरों में आग लगी देख कर संतो ने उसे

---

१ साँच को अंग, पृ० १२४

झुकने का भरपूर प्रयत्न किया। लेकिन काजी की बुद्धि मारी गई थी। संतों ने माथा पीट लिया—किसे समझाया जाय!

यहु जग अंधा मैं केहि समुझावौं।
इक दुइ होंय उन्हैं समुझावौं सबहि भुलाना पेट के धंधा॥
घर की वस्तु निकट नहिं आवत दियना बारि के ढूँढ़त अंधा।
गहिरी नदिया अगम बहै धरवा खेवनहारा पड़िगा फंदा॥

कभी-कभी यह संदेह होता है कि जब संतों को हिन्दू और मुसलमान दोनों से विरोध था तो आखिर किसके थे? संत स्वभावतः विरक्त थे, अतः निर्लिप्त रहकर कुछ कहना इनके लिए असंभव नहीं था। परन्तु बात यहीं नहीं समाप्त हो जाती—चारों तरफ के वातावरण से अपने को अलग रखना संतों के लिए उतना ही मुश्किल था जितना सांसारिक पाश में फँस जाना। अतः वे समाज में रह वैरागी का जीवन बिताने लगे और समाज-सुधार के आंदोलन में सक्रिय भाग लेने लगे। संतों का पांडे हिन्दूमात्र का प्रतीक नहीं है और न उनका काजी मुसलमानों का प्रतिनिधि है। पांडे से वे पोंगापंथाचारी पाखंडी हिन्दू का बोध करते हैं जिसके पास तनिक भी नैतिक शक्ति नहीं है। शेख भी केवल बांग देना जानता है, हलाल करना जानता है और भोले अनुयायियों को अल्लाह के नाम पर हिंसा, बुतपरस्ती और तीर्थ की शिक्षा देता है। कबीर ने इन्हें बहुत मामूली जीव समझ कर ललकारा है और बड़ी लापरवाही के साथ कटु व्यंग किये हैं। संतों को किसी हिन्दू या किसी मुसलमान या किसी विशेष पंडित या काजी से कुछ नहीं कहना है। हाँ, शेख या पांडे के रूप में अकारण सामा-

जिक ऊँचनीच मर्यादा के पिट्ठुओं को वे क्षमा नहीं कर सकते, भगवान और अल्लाह के नाम पर भ्रष्टाचार फैलानेवाले निठल्लुओं की धाँधली वे नहीं देख सकते और ऐसे समय में कोई भी उनके सामने आवे, हिन्दू हो या मुसलमान, वे राह रोक कर उसे डाटने में नहीं हिचकते। वे यह कभी बर्दाश्त नहीं कर सकते थे कि एक ही अल्लाह की संतान होकर आपस में झूठी धर्मान्धता के पीछे हिन्दू-मुसलमान लड़ते रहें और वे टुकुर-टुकुर तमाशा देखा करें। उन्होंने बीच में खड़ा होकर सिरफुड़ौवल करनेवालों मजहबों को ललकारा—'देखो, तुम गलत राह पर जा रहे हो—तुम दोनों एक हो, सोचो, सम्हलो'।

सब हम देख्या सोधि करि दूजा नाहीं आन।
सब घर एकै आतमा क्या हिंदू मूसलमान॥
दोनों भाई हाथ पग दोनों भाई कान।
दोनों भाई नैन हैं हिन्दू मूसलमान॥

किसी के सामने कुछ भी कहने में इन्होंने यह नहीं सोचा कि वे किसी भी दृष्टि से कभी भी किसी से हीन हैं। नीची जाति के होते हुए भी पतित होने की भावना इनके मन में नहीं आई और इसी दृढ़ता ने इन्हें अक्खड़ बनाया, नहीं तो ये भी आज के गाँवों में पैदा-लेनेवाले लक्षावधि चमार-डोम-जुलाहों की तरह अज्ञातनामगोत्र मर जाते और हम कबीर, दादू और रैदास को नहीं पा सकते थे। इनकी वाणी में जो मस्ती और फक्कड़पन है उसकी एक वजह यह भी है कि जो कुछ भी इन्होंने कहा, वह अनुभव के आधार पर कहा। संसार

का कोना-कोना छान डालने के बाद, उसे प्रत्येक पहलू से देखकर संतों ने अपने तत्त्वज्ञान की प्रतिष्ठा की और उसी का प्रचार-प्रसार किया। अब तक के सिद्धान्त कागज पर लिखे हुए थे और कागज पर लिखी बातों के विवेचन में सीधी-सादी बात को तर्क के बवंडरमें उलझा देना कोई मुश्किल नहीं। यही कारण था कि 'कागद की लेखी' कहनेवालों से इन साधकों की नहीं पटी जो सदा 'आँखिन देखी' बातें कहने के अभ्यासी थे। उलझन में डालनेवाली शास्त्रों की पेचीदी मीमांसा को छोड़कर इन संतों ने ब्रह्म-चिन्तन की प्रणाली को सुलझा कर जनता के सामने रखने की भरपूर कोशिश की।

मेरा तेरा मनुवाँ कैसे एक होइ रे!
मैं कहता हूँ आँखिन देखी तू कहता कागद की लेखी।
मैं कहता सुरझावनहारी तू राख्यों अरुझाइ रे!!

लोगों ने जो इनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया उसका इन्हें काफी खेद था। यदि दोष दें तो बहुत कुछ संतों के कहने के ढंग को भी कोसा जा सकता है। यह सत्य है कि इन संतों ने जो कुछ भी कहा कटु-सत्य कहा, लेकिन सदा तिलमिला देनेवाली शैली में कहा। थप्पड़ मार कर सिखलाने का जो प्रभाव पड़ सकता है, वही प्रभाव लोगों पर पड़ा। इनके शब्दों को देखने से सर्वदा ऐसा मालूम होता है जैसे कहनेवाला भीतर-भीतर व्यंगपूर्ण हँसी हँस रहा हो और सुननेवाले को चिढ़ा रहा हो। इतना होते हुए संतों ने प्रारंभ में अपनी असफलता देखकर चुप्पी नहीं लगाई। पाखंड का जोर इतना तीखा

राह चुपचाप चले जाने की शिक्षा इनके गुरु ने दी थी। हिन्दू-तुरक के झमेले में काफी खींच-खाँच हुई और रोक-रोककर टोक-टोककर संतों ने दोनों को समझाया। बहुत तो मान गए, कुछ गुमराह पड़े रह गए। संतों के इस कार्य की गंभीरता आधुनिक हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष की पृष्ठभूमि में देखने से स्पष्टतया मालूम हो जायगी। राह भूलने वालों को रास्ता बताकर इन संतों ने समाज को नीचे गिरने से बचा लिया। तेज दवा की घूंट कड़वी होती है—इनकी वाणी में वही कड़ुवापन मिलता है। यह कड़ुवापन इसलिए भी था कि साँई को छोड़ इन संतों को किसी और की फिक्र ही नहीं थी। अतः यदि कहीं दोष देखा तो आगे पीछे न देखकर सीधे-सीधे सुना दिया। संसार से उदासीन व्यक्ति इससे अधिक कर क्या सकता है ? उसके सामने तो उसका साईं है, बस।

घर वन माहैं सुख नहीं सुख है साँई पास।
दादू तासों मन मिल्या इन थैं भया उदास ॥



कबीर का रहस्यवाद

व्यापक रूप से रहस्यवाद दो प्रकार का होता है—एक भावात्मक, दूसरा साधनात्मक। भावात्मक के भी दो विभाग होते हैं—दार्शनिक तथा काव्यगत। साधनात्मक रहस्यवाद का कौन-सा रूप कबीर के काव्य और जीवन में प्रतिफलित हुआ उसकी चर्चा 'कबीर के सहजयोग' शीर्षक स्तम्भ में आगे की जायगी। दार्शनिक रहस्यवाद का आधार वस्तुतः उपनिषदों अथवा शास्त्रों का ब्रह्मवाद अथवा सर्वात्मवाद है जिसका निर्देश 'संतमत की दार्शनिक पृष्ठभूमि' में हो चुका है। उपनिषदों के 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' का तात्पर्य वही है जो कबीर के 'खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्यो समाई' का है। इस तत्त्व को समझाया नहीं जा सकता। इसीलिए कबीर अपने 'खालिक' को ठीक-ठीक नहीं समझा पाते। सांख्य दर्शन ने भी संसार में एक ही तत्त्व की कल्पना की है किन्तु सृष्टि के विकास के प्रसंग में उसने परमात्मा को 'पुरुष' और प्रकृति को स्त्री

का रूपक दिया है। कबीर ने मधुर काव्य की सृष्टि के लिए पति और पत्नी का संबन्ध मान लिया है और इस प्रकार रहस्यवाद का कोमल परिच्छेद प्रारंभ होता है।

छायावाद विश्व के प्रत्येक पदार्थ में एक अलौकिक सप्राण सत्ता का झाँकी-दर्शन है और रहस्यवाद 'आत्मा में विश्वात्मा की अनुभूति।' आत्मा और विश्वात्मा का यह ऐक्य प्रेम पर आधारित है ज्ञान पर नहीं। उस प्रेम की उद्भावना विवेक में नहीं भाव में है और प्रेम का चरम अभिव्यक्ति दाम्पत्य प्रेम में है—अतः रहस्यवाद, में मधुर-भाव[1] की प्रधानता है। इसीलिए रहस्यवाद में संयोग की मादकता और विरह का ताप मिलता है। 'अकल अनीह' के प्रेम की यह कहानी 'अकथ' है। उसे 'सैना - बैना' से स्पष्ट करने की चेष्टा की जाती है जिसके परिणाम स्वरूप रहस्यवाद में प्रतीकात्मक शैली और संध्याभाषा का प्रयोग मिलता है। रहस्यवादी काव्य की काया ध्वन्यात्मक - प्रतीक शैली, संध्याभाषा, लाक्षणिक अलंकार, सौन्दर्यमय संगीत और

---

१ न्यूमैन का कहना है कि स्वर्ग में जाने के लिए, परमात्मा से मिलने के लिए आत्मा को नारी अवश्य बनना पड़ेगा—*'If thy soul wants to go to heaven, thou must become a women; yes, however manly thou mayest be among men.'*

गीतिछंद जैसे काव्य के पंचतत्त्वों से निर्मित है।[२] व्यापक सौन्दर्यानुभूति प्रेमोपासना, अन्तर्जगत का ऐक्य, तीव्र विरह-निवेदन और संश्लिष्ट जीवन-दर्शन उसका अंतर्मुखी आत्मा की विशेषताएं हैं।

रहस्यवाद के आध्यात्मिक मिलन का विकासक्रम कुछ-कुछ इस प्रकार का है—सीमा का असीम के प्रति कुतुहल, विस्मय भावना, जिज्ञासा, तादात्म्य-अनुभव, अनुराग, उन्मत्तता (ecstacy) तन्मयता और विरह।

बेहद देश के क्रान्तिदर्शी गायक कबीर में रहस्यवाद का अत्यन्त व्यापक और चरम-रूप मिलता है। उसने उस पार के लोक में परमपुरुष का वह रंगमहल देखा है जो सत्, चित् और आनन्द का सम्पूर्ण साम्राज्य लिए खड़ा है।—

ग्रह चन्द्र तपन जोत बरत है।
सुरत राग निरत तार बाजै।
नौबतिया घुरत है रैन दिन सुन्न में
कहैं कबीर पिउ गगन गाजै॥

कबीर का यह 'साँईं' अगम, अगोचर, अकल, अनीह और शब्दातीत है। यह वर्णन का विषय न होकर अनुभव का विषय है— 'लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखी की बात।' कभी-कभी कबीर के जीवन में ऐसे क्षण भी आते हैं जिनमें उस ब्रह्म की सघन व्यापकता और पारदर्शी सूक्ष्मता पर इन्हें विस्मित हो जाना पड़ता है—

२ *विस्तृत विवरण के लिए देखिए 'संतकाव्य की भाषा' शीर्षक स्तम्भ।*

—'ता कछु आहि कि शून्न।' आत्मा और परमात्मा की अद्वैतावस्था पर भी उन्हें कम कुतुहल नहीं होता—'हेरत हेरत हे सखि रहा कबीर हेराय।' यह विस्मय भावना, रहस्यवाद का प्रधान विन्दु है। विस्मित ज्ञाता में ज्ञेय के प्रति जिज्ञासा की भावना स्वाभाविक है। कबीर का विस्मित हृदय जिज्ञासु बनकर आत्मा के चिरधन 'लाल' का संधान करने निकलता है और पाता है कि समस्त विश्व में उसीकी नूरानी 'लाली' छाई है—वह स्वयं भी वही है, उसी रंग में सराबोर। उस विस्तार में परमानद की अनुभूति होती है और साधक अपनापन अनुभव करने लगता है।—

सबघट मेरा साँइयाँ सूनो सेज न कोय।
बलिहारी वा घट्ट की जा घट परगट होय॥

कबीर को लगता है कि जिस तरह पत्नी पीवर से पीहर चली आती है और सखि-सहेलियों के साथ क्रीड़ा करती है किन्तु उस आमोद-प्रमोद और रंग-विलास में भी उसका मन प्रियतम पर ही अटका रहता है, उसी तरह आत्मा परमपुरुष से बिछुड़ कर धरती पर आई किन्तु उसकी आँखे साजन की डगर पर ही बिछी रहती हैं—

ज्यों तिरिया पीहर बसै सुरति करे पियमाहिं।
ऐसे जन जग में रहै हरि को भूलत नाहिं॥

सीमा और असीम के इस संबन्धज्ञान, परमतत्त्व से तादात्म्य अनुभव और अपनापन की अनुभूति के साथ ही उस असीम के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। भक्त भगवान से एकाकार होना चाहता है। इस एकाकारिता में ज्ञान सहायक नहीं होता क्योंकि उसके लिए अकल

अनीह की लीला खालिस अंधकार है। इसमें प्रेम सहायक होता है, क्योंकि-'ज्ञान के अगम्य तुम प्रेम के भिखारी हो।' प्रेम में, दाम्पत्यभाव में सर्वाधिक सघन एकाकारिता है। कबीर में यह प्रेम अनन्यासक्ति की कोटि में पहुँचा है। प्रगाढ़ अनन्यता की किशोरावस्था में कबीर अपने अंचल में प्रेम का ढाई अक्षर अक्षत लेकर 'राम की बहुरिया' बनने का उपक्रम करते हैं। यह मधुर-भाव रहस्यवादका केन्द्र-बिन्दु है।

कबीर को लगता है कि लीला के लिए प्रेम-भिखारी साईं राह चलते भक्तों पर रंग डालता है। जो दुनियादार हैं और जिनकी प्रवृत्तियाँ बहिर्मुखी हैं वे इस रंग की लीला का अनुभव नहीं करते, अपनी राह पकड़े चुपचाप चले जाते हैं; पर जो अनुभवी हैं वे इस रंग में भींग कर आह्लाद से रोमांचित होकर रंग डालनेवाले के दर्शन के लिए व्याकुल हो जाते हैं। एकबार जिसे इसका रस मिल जाता है वह देवता हो या मनुष्य, पीर हो या औलिया सम्हाल के बाहर हो जाता है।—

सतगुरु हो महराज मोपै साँई रंग डरा।
सबद की चोट लगी मोरे तन में बेध गया तन सारा।
औषध मूल कछु नहि लागै का करि बैद बिचारा॥
सुर नर मुनि जन पीर औलिया कोई न पावै पारा।
साहेब कबीर सर्व रंग रंगिया सब रंगते रंग न्यारा॥

एक रहस्यवादी कवि आनन्दघन के इस आनन्द की प्राप्ति के लिए सदा मचलता रहता है। उसे उसका निमंत्रण भी जबतब मिलता है, जिससे वह उपकृत होकर झूम उठता है। महादेवी के

'सांध्यगीत' में संध्या समय 'जाने किस जीवन की सुधि ले लहराती आर्त मधु-व्यार'; 'सोनारतरी' के गायक रवीन्द्र का 'सुन्दर' प्रातःकाल में सोती हुई विरहिणी की खिड़की से झाँक कर उसे अपनी ओर आने का इशारा करता है। मीरा भी 'हरि आवन की अवाज' सुनती है और उससे उन्मोहित होकर 'पंचरंग चोला' पहिन कर वह 'झिरमिट खेलने' को निकल पड़ना चाहती है, उसे आशा है कि 'झिरमिट में मेरा साँई मिलेगा'। इसी तरह की आशा लगभग सभी रहस्यवादी करते हैं पर किसी के मन की बात कभी पूरी नहीं होती। इसी की पूर्ति के लिए अभिसार का कोमल पहलू आता है। कबीर अभिसारिका बनकर चुनरी पहन कर आँचल में दीप लेकर प्रिय को ढूँढ़ने निकलते हैं—'आरति सजि के चली सुहागिन, प्रिय अपने को ढूँढ़न।' अनन्तलोक[1] की यात्रा रहस्यवाद की सामान्य प्रवृति है जिसमें न केवल भावना की ही प्रगति होती है वरन् सम्पूर्ण हृदय की आकांक्षा भी बढ़ती है। कबीर का तो सम्पूर्ण अस्तित्व ही उस ओर प्रवहमान है—

आन न भावै नींद न आवै गृह वन धरै न धीर रे।
ज्यूं कामी को काम पियारा त्यों प्यासे को नीर रे॥

---

१ महादेवी—'सुना है जीवन के उसपार बसा है सोने का संसार।'
पंत—'दूर उन खेतों के उसपार जहाँ तक गई नील झंकार
छिपा छायावन में सुकुमार स्वर्ग की परियों का संसार,
वहाँ उन पेड़ों में अज्ञात चाँद का है चाँदी का वास,
वहीं से खद्योतों के साथ स्वप्न आते उड़-उड़ कर पास"

उस प्रेम नगरी की ओर देखा करते हैं ।

विरह कमंडल कर लिए बैरागी दोऊ नैन ।
माँगे दरस मधूकरी छकै रहै दिन रैन ॥

उस लोक के सामने इस लोक की कठोर धरती रहस्यवादी को नहीं भाती, इसलिए उनमें जगत के प्रति उपेक्षा का भाव भी यत्किंचित मात्रा में रहता है जिसे आधुनिक बोली में पलायनवाद कहते हैं और जिसके कारण आधुनिक छायावादी कवियों को कटु आलोचना का विषय भी बनना पड़ा है । कबीर को 'पी' के रंगमहल के सामने नैहर की गलियाँ अच्छी नहीं लगतीं ।

'नैहरवा हमका नहिं भावै ।
साईं की नगरी परम अति सुन्दर जहाँ कोई आई न जाई ॥'

किन्तु वह लोक तो ऐसा है जहाँ चाँद-सूरज भी पहुँच नहीं पाते, जहाँ पवन और पानी की भी गति नहीं है ।' अतः 'साँई के इस सर्प डगर पर चलना अति कठिन है ।' इस प्रकार रहस्यवाद में प्रेम के रोमान्टिक-स्वरूप के साथ ही प्रेमपंथ के काठिन्य का भी परिचय मिलता है । प्रेम की उत्कंठा से उद्वेलित कबीर का मन इस रपटीले मार्ग के व्यवधान पर व्याकुल हो उठता है और उनके पाँव डगमगाने लगते हैं —

---

१ केनोपनिषद् में ब्रह्म रूप यक्ष का पता लगाने के लिए देव-शिरोमणि अग्नि, वायु, सूर्य आदि सभी प्रयत्न करते हैं, पर अंत में हारकर सभी को यही कहना पड़ता है—'मैं यह जानने में असमर्थ हूँ कि यह यक्ष कौन है—नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ।'

मिलना कठिन है कैसे मिलौंगी प्रिय जाय।
समुझि सोंच पग धरौं जतन से बार-बार डिग जाय
ऊँची गैल राह रपटीली पाँव नहिं ठहराय।

किन्तु बाधाओं के रहते हुए भी साँई के डगर का पंथी गुरुमंत्र का पाथेय लेकर बढ़ता जाता है और जब सारी दुनिया सो जाती है तब उस निविड़ प्रहर में वह 'प्रीतम' के कक्ष में पहुँचता है—'या निशा सर्वभूतानाम् तस्यां जागर्ति संयमी।' वह पुलक से विभोर होकर स्वप्निल तंद्रिल हो रहा था कि प्रिय के एक स्वर्गिक स्पर्श ने उसके रोम-रोम को जगा दिया। वह आँखमूँद कर मधुमतिभूमिका में बैठे हुए योगी की तरह अपने प्रिय की मधुर उपस्थिति और स्पर्श का अनुभव करता है आँख खोलने में उसे डर लगता है—कहीं वह सलोनी मूर्ति तिरोहित हो गई तो?

सुपने में साँई मिले सोवत लिया जगाय।
आँखि न खोलूँ डरपता मति सुपना हो जाय॥

आध्यात्मिक परिणय का यह कोमल और मर्मस्पर्शी रूप कबीर के रहस्यवाद को छोड़कर अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। कबीर के इस प्रेममिलन में जो मादकता, उल्लास और संगीत है वह सीधे प्राणों के प्रदेश को स्पर्श करता है।

तो, कबीर अब उस 'बेहद देस' में पहुँच गए जिसे रविठाकुर ने 'सब पेयेछिर देश' कहा है। उनकी अनुभूति देखिए—

हम वासी उस देश के जहँ बारह मास विलास।
प्रेम झरे बरसई कमल तेजपुञ्ज परकास॥

उस प्रेम नगरी की ओर देखा करते हैं।

विरह कमंडल कर लिए बैरागी दोऊ नैन।
माँगे दरस मधूकरी छकै रहै दिन रैन ॥

उस लोक के सामने इस लोक की कठोर धरती रहस्यवादी को नहीं भाती, इसलिए उनमें जगत के प्रति उपेक्षा का भाव भी यत्किंचित मात्रा में रहता है जिसे आधुनिक बोली में पलायनवाद कहते हैं और जिसके कारण आधुनिक छायावादी कवियों को कटु आलोचना का विषय भी बनना पड़ा है। कबीर को 'पी' के रंगमहल के सामने नैहर की गलियाँ अच्छी नहीं लगतीं।

'नैहरवा हमका नहिं भावै।
साईं की नगरी परम अति सुन्दर जहाँ कोई आई न जाई ॥'

किन्तु वह लोक तो ऐसा है जहाँ चाँद-सूरज भी पहुँच नहीं पाते, जहाँ पवन और पानी की भी गति नहीं है।[१] अतः 'साँई के इस सर्प डगर पर चलना अति कठिन है।' इस प्रकार रहस्यवाद में प्रेम के रोमान्टिक-स्वरूप के साथ ही प्रेमपंथ के काठिन्य का भी परिचय मिलता है। प्रेम की उत्कंठा से उद्वेलित कबीर का मन इस रपटीले मार्ग के व्यवधान पर व्याकुल हो उठता है और उनके पाँव डगमगाने लगते हैं —

---

१ केनोपनिषद् में ब्रह्म रूप यक्ष का पता लगाने के लिए देव-प्रतिनिधि अग्नि, वायु, सूर्य आदि सभी प्रयत्न करते हैं, पर अंत में हारकर सभी को यही कहना पड़ता है—'मैं यह जानने में असमर्थ हूँ कि यह यक्ष कौन है—नैनदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति।'

मिलना कठिन है कैसे मिलौंगी प्रिय जाय।
समुझि सोंच पग धरौं जतन से बार-बार डिग जाय
ऊँची गैल राह रपटीली पाँव नहिं ठहराय।

किन्तु बाधाओं के रहते हुए भी साँई के डगर का पंथी गुरुमंत्र का पाथेय लेकर बढ़ता जाता है और जब सारी दुनिया सो जाती है तब उस निविड़ प्रहर में वह 'प्रीतम' के कक्ष में पहुँचता है—'या निशा सर्वभूतानाम् तस्यां जागर्ति संयमी।' वह पुलक से विभोर होकर स्वप्निल तंद्रिल हो रहा था कि प्रिय के एक स्वर्गिक स्पर्श ने उसके रोम-रोम को जगा दिया। वह आँखमूँद कर मधुमतिभूमिका में बैठे हुए योगी की तरह अपने प्रिय की मधुर उपस्थिति और स्पर्श का अनुभव करता है आँख खोलने में उसे डर लगता है—कहीं वह सलोनी मूर्ति तिरोहित हो गई तो?

सुपने में साँई मिले सोवत लिया जगाय।
आँखि न खोलूँ डरपता मति सुपना हो जाय॥

आध्यात्मिक परिणय का यह कोमल और मर्मस्पर्शी रूप कबीर के रहस्यवाद को छोड़कर अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। कबीर के इस प्रेममिलन में जो मादकता, उल्लास और संगीत है वह सीधे प्राणों के प्रदेश को स्पर्श करता है।

तो, कबीर अब उस 'बेहद देस' में पहुँच गए जिसे रविठाकुर ने 'सब पेयेछिर देश' कहा है। उनकी अनुभूति देखिए—

हम वासी उस देश के जहँ बारह मास विलास।
प्रेम झरे बरसई कमल तेजपुञ्ज परकास॥

यही वह देश है जहाँ प्रसाद 'कोलाहल की अवनी' तजकर जाना चाहते हैं और जिसका ध्यान कर पंत ने अपने गीत को 'दूर वन में ओ राजकुमार' कहा है, यद्यपि उस दूर देश का आभास-मात्र ही उन्हें मिल सका है। यही वह लोक है जिसकी झाँकी पाकर 'अनलहक' कहते हुए मंसूर ने सूली चूमी थी और मीरा ने जहर का प्याला पी लिया था। कबीर भी प्रिय के प्रेम का प्याला पीकर दिन रात मग्न रहा करते हैं—

कबीरा प्याला प्रेम का अन्तर लिया जगाय।
रोम रोम में रमि रहा और अमल क्या खाय॥

कबीर ने प्रेम का यह पैगाम सूफियों से लिया है, यद्यपि सूफियों की तरह उन्होंने भगवान को स्त्री का रूप नहीं दिया है। स्पष्ट है कि कबीर शेख तकी आदि सूफी फकीरों के सम्पर्क में आये थे—मसनवी लिखने की प्रथा तो चल ही पड़ी थी। प्रम सूफियों का सर्वस्व है। सूफी मत का आरम्भ सामी जाति में प्रचलित देवदासी प्रेम से हुआ और उसकी अन्तिम परिणति भी प्रेम है—इश्क-मज़ाजी इश्क-हक़ीक़ी की जननी है। उनके अनुसार भगवान एक स्त्री-साकी है जो प्रेम की मदिरा से भरे पैमाने मे जिज्ञासुओं के जाम को भरा करती है। कबीर ने इन्हीं सूफियों से प्रेम की मदिरा की विरासत पाई है। इस ओर संकेत करते हुए रामकुमार वर्मा ने लिखा है—'कबीर का रहस्यवाद अपनी विशेषता लिए हुए है। वह एक ओर तो हिन्दुओं के अद्वैतवाद की गोद में खेलता है और दूसरी ओर मुसलमानों के सूफी सिद्धान्तों को स्पर्श करता है। इसका विशेष

कारण यही था कि कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रकार के संतों के सत्संग में रहे और वे आरम्भ से ही यही चाहते थे कि दोनों धर्मवाले आपस में दूध-पानी की तरह मिल जाँय। इसी विचार के वशीभूत होकर उन्होंने दोनों मतों से सम्बन्ध रखते हुए अपने सिद्धान्तों का निरूपण किया। रहस्यवाद में भी उन्होंने अद्वैतवाद और सूफीमत की गंगा जमुनी साथ ही बहाई।.......फलतः उन्होंने अद्वैतवाद से माया और चिंतन तथा सूफ़ीमत से प्रेम लेकर अपने रहस्यवाद की सृष्टि की। सूफी मत के स्त्री रूप भगवान की भावना ने अद्वैतवाद के पुरुष रूप भगवान के सामने सर झुका लिया।'[1]

हाँ, तो सूफियों की तरह कबीर पर भी प्रेम का नशा चढ़ा है जिसकी खुमारी कभी जाने वाली नहीं। शरीर की सुधि भी नहीं है, केवल हृदय में पुलक है—'हरि रस पीया जानिए कबहुँ न जाय खुमार।' इस प्रेमानुभूति से एक क्षण के लिए भी साधक अलग होना नहीं चाहता। वह तो मानों प्रेम पात्र को केवल अपने लिए सुरक्षित रख लेना चाहता है—'ना मैं देखौं और को ना तोहि देखन देऊँ।' किन्तु भौतिक व्यवधान प्रेमानुभूति की एकान्तता को रह रह कर झटका दे देता है और नश्वर शरीर से अनश्वर का गीत गाना कठिन हो जाता है—'नश्वर तन से कैसे गाऊँ आज अनश्वर गीत।' सदा सुहागिन और चिरसंयोग की इच्छा रखनेवाली कबीर की सुहागिन एक क्षण के वियोग में भी छटपटा जाती है, विकल हो जाती है।

चूड़ी पटकौं पलंग से चोली लागौं आगि।
जा कारण यह तन धरा ना सूती गर लागि॥

1. 'कबीर का रहस्यवाद'—पृ० २०, २२।

कबीर का सहज-योग

योग शब्द 'युज्' धातु के बाद करण और भाववाच्य में घञ् प्रत्यय लगाने से बनता है। संस्कृत में युज् धातु का अर्थ है, समाधि। समाधि का तात्पर्य पूर्णरूपेण भगवान में मिल जाना है। योग में जीव और ब्रह्म की तद्रूपता का मार्ग बतलाया जाता है उस पथ पर चलनेवाला साधक साधना के शीर्ष पर ब्रह्म से एकत्व प्राप्त कर लेता है - 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।' लेकिन ऐसा होना तभी संभव है जब वह पार्थिव चिंताओं और सांसारिक-जालों से अपने को मुक्त कर मन को नियंत्रित कर परमेश्वर की सत्ता में अपनी सारी महत्ता का तिरोभाव करदे।[1] यह क्रिया कहने में जितनी सहल है उतनी

---

[1] *'सर्वचिंतापरित्यागो निश्चिन्तो योग उच्यते।'*

अथवा

निरस्तविषयासंगं संनिरुद्धं मनो हृदि,

यदा यात्युन्मनीभावं तदा तत्परमं पदम्।'—अमृतबिन्दूपनिषद्

करने में नहीं। मन रह-रह कर इधर उधर दौड़ने लगता है। चित्त की एकाग्रता कितने परिश्रम से सम्भव होती है इसका अन्दाज लगा सकते हैं—किसी एक वस्तु पर थोड़ी देर के लिए ध्यान केन्द्रित कीजिए आपको आश्चर्य होगा कि एक दो क्षण भी आप उस पर मन को स्थिर नहीं रख सकेंगे! महर्षि पतंजलि ने इस कठिनाई को समझकर मननिग्रह के लिए योग की विधि बतलाई और उसके आठ अंगों का विवेचन किया। योग की धारा उत्तरोत्तर काफी जटिल होती गयी और चामत्कारिक बातें अधिकाधिक परिमाण में भरने लगीं। यह चमत्कार बौद्धों और जैनों के योग में प्रकर्ष पर पहुँच गया। गौतम की मृत्यु के पश्चात् विक्रमशिला विश्वविद्यालय के चौरासी सिद्ध जनता को अपने चामत्कारिक प्रदर्शनों से ही आकृष्ट करने लगे और योग के आठों अंगों में 'प्राणायाम' का ही उनमें यथेष्ट विकास होने के कारण रेचक-कुंभक आदि क्रियाओं द्वारा 'हठयोग' की प्रणाली का सूत्रपात हुआ। इस समय प्राचीनकाल से आते हुए 'योग' शब्द का अर्थ हठयोग ही हो गया। भक्तियोग और गीता के कर्मयोग को लोग भूल गए। गोरखनाथजी ने, कहा जा चुका है, हठयोग की धारा में संजीवनमंत्र फूँक दिया और इसका प्रचार-प्रसार इतना बढ़ गया कि उस युग में जो योगी नहीं हुआ वह हीन समझा जाने लगा और जिस योगी ने हठयोग नहीं किया उसकी साधना निकृष्ट एवं सरल मानी जाने लगी। योग भी किया और सीधा-सीधा, आसान-आसान किया तो योग क्या किया?

तंत्रों में चार प्रकार के योग का वर्णन मिलता है, मंत्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग। कबीर के साहित्य में हमें एक नवीन सहज-योग का दर्शन होता है। अबतक पूर्वोक्त चारों योगों में हठयोग की ही प्रधानता थी और कोई आश्चर्य नहीं कबीर ने भी योग का अर्थ हठयोग ही समझा होगा। कबीर ने हठयोग को स्वीकार न कर सहजयोग को क्यों स्वीकार किया यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है! कबीर को इस नई भावना को समझने के लिए कबीर के पहले समाज में प्रचलित हठयोग को समझ लेना आवश्ययक होगा। जिस चीज को कबीर के पहले सैकड़ों वर्षों से लोग अपनाते आए थे उसे कबीर ने बिलकुल खोटा सिक्का मानकर मुँह क्यों बिचका दिया? आखिर क्यों? अगले पृष्टों में इसका कारण देने का हम प्रयत्न करेंगे।

किसी भी बड़े काम को करने के लिए मन को अन्यान्य बातों की ओर से खींचना पड़ता है। ज्ञानी हो या भक्त, वैज्ञानिक हो या कलाकार— ये सब जितने हद तक अपने को संसार से दूर रख सकते हैं उतना ही अपने उद्देश्य में जल्दी सफल होते हैं। तांत्रिक योगी अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए जगत के प्रपंच से दूर-दूर हटने की चेष्टा करता है। वह अपने को बाहर से हटा कर घट के भीतर समाविष्ट करने में दत्तचित्त हो जाता है। बाहरी संबन्ध विच्छेद होने से रागादि का भय नहीं रहता और तब शरीर शोधन का कार्य पूर्णरूपेण चल सकता है। योग करने के लिए आवश्यक है कि शरीर स्वस्थ हो नहीं तो एक ही जबरदस्त प्राणायाम के बाद टें बोल गए तो योग क्या कीजिएगा?

और मोक्ष क्या प्राप्त कीजिएगा। रोगी शरीर लिए योगी नहीं बना जा सकता और रोगी मन लिये ज्ञानी नहीं बना जा सकता।

पतंजलि ने योग के आठ अंग बतलाये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें से चार अंग बाहर के हैं और चार अंग भीतर के। यम का मतलब संयम होता है। इसके पाँच भेद होते हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।[1] प्राणियों के ऊपर द्रोह न करना अहिंसा है, मन और वचन का यथार्थ होना सत्य है, दूसरों की वस्तुओं का अपहरण नहीं करना अस्तेय है, गुप्तेन्द्रिय उपस्थ पर नियंत्रण रखना ब्रह्मचर्य है और विषयों के अर्जन, रक्षण आदि में दोष होने के कारण उन्हें स्वीकार न करना अपरिग्रह है। नियम के भी पाँच भेद[2] होते हैं—शौच, संतोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान। आभ्यान्तर और बाह्य शुद्धि को शौच कहते हैं, प्राप्त साधनों से अधिक वस्तुओं के ग्रहण की अनिच्छा को संतोष कहते हैं, शीत-धूप, भूख-प्यास आदि को सहने तथा कठिन व्रतों को पालन करने को तप कहते हैं, मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन तथा प्रणव का जप स्वाध्याय कहलाता है और

---

१ 'अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहा यमाः।' पातञ्जलयोग-दर्शन, साधनपाद, ३०

तेजबिन्दूपनिषद् में यम का लक्षण इस प्रकार मिलता है—

सर्वं ब्रह्मेति वै ज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः।
यमोऽयमिति संप्रोक्तोऽभ्यसनीया मुहुर्मुहुः॥

२ 'शौचसंतोष तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।'

ईश्वर में सभी कर्मों का भक्तिपूर्ण समर्पण ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है। ये बातें बहुत ही सरल मालूम पड़ती हैं पर यदि एक का भी अभ्यास करने का कष्ट उठाया जाय तो सारी हैंकड़ी भूल जाय! यम नियम की साधना किए बिना योग के क्षेत्र में आगे बढ़ना असंभव है।

शरीर को साधनोपयोगी बनाने के लिए आसनों का अभ्यास करना पड़ता है। स्थिर तथा सुख देनेवाले बैठने के ढंग को आसन कहते हैं—'स्थिरसुखमासनम्।' योगशास्त्र में चौरासी प्रकार के आसनों की चर्चा मिलती है। कमलासन, पद्मासन, सिद्धासन, शीर्षासन आदि आसनों में सिद्धासन ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। योग-साधन करने के लिए दीर्घकाल तक एक ही ढंग से बैठे रहना योग-साधना का एक मुख्य एवं महत्त्वपूर्ण अंग है।

प्राणायाम योग का महत्त्वपूर्ण अंग है। पूर्वोक्त यम, नियम आसनादि इसकी सिद्धि के लिए पृष्ठभूमि के रूप में आते हैं। बच्चों को पहला पुस्तक पढ़ने में जैसे अधिक समय लगते हैं वैसे ही इन साधनाओं में काफी अवकाश लगता है और आसनादि की सिद्धि प्राप्त हो जाने के पश्चात् साधक अगली सीढ़ी पर कदम बढ़ाता है। अब वह नाड़ियों के भीतर प्रवेश करने की चेष्टा करता है। हमारे शरीर में साढ़े तीन लाख नाड़ियाँ हैं जिनमें चौदह प्रसिद्ध हैं। इन चौदहों में भी तीन अति प्रसिद्ध हैं—इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना। संत-साहित्य के पाठक को ये नाम सर्वदा मिलते हैं। इन नाड़ियों को गंगा, जमुना और सरस्वती नाम से भी पुकारा जाता है। इन तीनों में सुषुम्ना का महत्त्व सर्वोपरि है। वह मूलाधार से उत्पन्न होकर नाभि-

मंडल (मणिपूर) के बीच से होती हुई ब्रह्मरन्ध्र तक चली गई है। सुषुम्ना की बायीं ओर इड़ा है और दाहिनी ओर पिंगला। ये दोनों स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहद और विशुद्ध चक्रों को घेरती हुई आज्ञा चक्र के ऊपर जाकर सुषुम्ना में मिल जाती हैं। इस सम्मिलन-भूमि को त्रिकूट या त्रिवेणी कहते हैं। योगी अपनी साधना से इसी गंगा, जमुना, सरस्वती के संगम पर स्नान कर मुक्ति का अधिकारी बनता है। इस नाड़ी के बीच में वज्रिणी नाम की एक सूक्ष्म नाड़ी है और इसके बीच में भी चित्रणी नाड़ी है और इस चित्रणी के मध्य भाग में ब्रह्मनाड़ी है जो सहस्रदल तक फैली हुई है। योगियों को सारी सूक्ष्म क्रियाएँ इसी सूक्ष्मतम नाड़ी से करनी पड़ती है।

प्राणायाम करने के पहले नाड़ियों पर आधिपत्य जमाना इसलिए आवश्यक हो जाता है कि उसके मूल में वायु पर विजय प्राप्त करने की भावना ही सर्वोपरि रहती है। हमारे शरीर के सभी कार्य वायु की सहायता से ही होते हैं—यदि हम वायु पर ही विजय प्राप्त कर लिया तो फिर शरीर हमारी मुट्ठी में चला आया। प्राणायाम में श्वास और प्रश्वास के गति को नष्ट करने की साधना काम करती है।* योगी या तो बाहरी हवा को भीतर प्रवेश करने से रोकता है, या भीतरी हवा को भीतर ही रोक कर बाहर नहीं निकलने देता है या एक ही प्रयत्न से श्वास और प्रश्वास की गति को रोक देता है; न भीतर की हवा

---

* *तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।*

पातञ्जलयोगदर्शन, ४६ (साधनपाद)

बाहर जाती है न बाहर की हवा भीतर। इन क्रियाओं को तंत्र में क्रमशः रेचक, पूरक और कुंभक कहते हैं। रेचक में सारी हवा बाहर फेंकी जाती है, पूरक में हवा भीतर भर ली जाती है और कुंभक में भीतरी हवा को भीतर ही बंद कर तुंब की तरह फेफड़े को फुलाए रखा जाता है। इनके साथ ही षट्कर्मों (धोती, नेति, वस्ती, लौकिकी, त्राटक और कपालभाति) द्वारा नाड़ी शोधन किया जाता है।

प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों पर अधिकार हो जाता है। जब विभिन्न इन्द्रियाँ अपने भव्य विषयों का त्याग करके अविकृत अवस्था में मन के वश में हो जाती हैं तो 'प्रत्याहार' की अवस्था आती है।[१] यहाँ बहिर्मुखी इन्द्रियाँ बाहरी विषयों का त्याग कर अन्तर्मुखी हो जाती हैं। मन को किसी देश विशेष जैसे (हृदय कमल में, नासिकाग्र भाग पर आदि) में बाँध कर (रोक कर) रखने को 'धारणा' कहते हैं।[२] यह तभी संभव है जब प्राणायाम से वायु और प्रत्याहार से इन्द्रियों पर पूर्णरूपेण विजय प्राप्त हो जाय। धारणा के द्वारा जब उस देश-विशेष में ध्येय वस्तु का ज्ञान प्रवाहित होने लगता है और उसमें तद

---

१ 'स्वविषया सम्प्रयोगे चित्त स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः'।

२ 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।'

अथवा

'पंचभूतमये देहे भूतेष्वेतेषु पञ्चसु
मनसो धारणं यच्चद् युक्तस्य च यमादिभिः।'

—त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्

बाँधनेवाला कोई परकीय ज्ञान नहीं होता तो उसे 'ध्यान' कहते हैं। ध्यान की पूर्ण परिपक्व अवस्था को समाधि कहते हैं। यहाँ चित्त अपने विक्षेपों को हटाकर, स्वयं शून्यरूप होकर ध्येय से एकाग्रता प्राप्त कर लेता है।'[1]

यहाँ तक तो अष्टाङ्ग योग की चर्चा हुई। हठयोग में इन साधनाओं के अतिरिक्त एक और महत्त्वपूर्ण साधना है जिसे हम हठयोग का पर्याय भी कह सकते हैं। वह है कुंडलनीशक्तियोग। हठयोगी इस कुंडलिनीशक्ति को ही उद्बुद्ध कर ज्ञान की प्राप्ति करता है और ध्येय तक पहुँचता है।[2] कबीर के काव्य में कुंडलिनी की चर्चा अक्सर मिलती है अतः इसे समझ लेना अप्रासंगिक नहीं होगा। इनके अलावे, कबीर के सहजयोग की चर्चा के पहले षट्चक्रभेदन की

---

१ *'सम्यगाधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः।'*

२ 'But where as the Jnana Yogi attains Swarup Jnan by his mental efforts without rousing Kundalini, the Hatha Yogi gets the Jnan through Kundalini hereself....It is the bodily representative of the great cosmic power (*शक्ति*) which creats and sustains the universe.'— Arther Ewelan in 'The Six centers and the serpentine power.'

प्रणाली का ज्ञान रखना तो और भी आवश्यक है क्योंकि प्रधानरूप से कबीर का सहजयोग इसी कुंडलिनी-योग की प्रतिक्रिया के रूप में हमारे सामने आता है।

कुंडलिनी की साधना योग की सबसे कठिन साधना है। इसके लिए बरसों श्मशान में भटकना पड़ता है और अपने पर कठोर नियंत्रण रखकर पूर्वोक्त सारी साधनाएँ सिद्ध कर लेनी पड़ती हैं। कुंडलिनी उद्‌बोधन के पूर्व योगी काफी सतर्क हो जाता है। पहले वह शरीर के बाहर की हवा को बाहर और भीतर की हवा को भीतर रोक रखने के लिए वायु के सारे मार्गों को अवरुद्ध कर देता है। अपान-वायुद्वारा, नासिकाछिद्र, कर्णछिद्र को वह मोम से बंद (Seal) कर देता है। फिर जीभ के निचले तंतु (जो दंतमूल से जुड़ा रहा है) को धीरे-धीरे काट कर उसे बाहर खींचकर इतना बढ़ा लेता है कि मोड़ने से जीभ कंठपिटककी नाली को बिलकुल बंद करले और हवा के आयात-निर्यात का मार्ग एकदम अवरुद्ध हो जाय! इतना सब कर लेने के बाद हठयोग की क्लिष्ट साधना शुरु होती है। कुंडलिनी को जगाने के अनेक उपाय हैं। प्राणतोषिणी तंत्र के अनुसार कपड़े से नाभीप्रदेश को बाँधकर, एकान्त में सिद्धासन पर बैठकर, दोनों नथुनों से प्राणवायु का आकर्षण करके उसे बलपूर्वक अपानवायु में मिलाकर अश्विनीमुद्रा से धीरे-धीरे गुह्यदेश को सिकोड़ने और फैलाने से कुंडलिनी जगती है। इस प्रकार श्वास रोककर कुंभक द्वारा वायुरोध करने से सुषुम्ना पथ से प्राणवायु ऊपर की ओर चलने लगती है। इस क्रिया में सहस्रार तक पहुँच जाना ही योगी का लक्ष्य हुआ

करता है। जिस प्रकार बद्रिकाश्रम जाने के लिए भिन्न-भिन्न पैड़ियों अथवा चट्टियों पर विश्राम करना पड़ता है उसी तरह सहस्रार तक जाने के लिए अनेक चक्रों से गुजरना पड़ता है। ये सभी चक्र बीहड़ दरवाजे हैं जिनका भेदन करने के बाद ही योगी सहस्रदलकमल या शून्य में जाकर अमृत का पान कर सकता है।

हमारे शरीर में छः चक्र हैं जिन्हें तांत्रिक ग्रंथों में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा कहते हैं।[1] मूलाधार चक्र का स्थान गुह्यस्थल (मेरुदंड का सबसे नीचला भाग) है, लिंगमूल में स्वाधिष्ठान चक्र है, नाभिमंडल में मणिपूरचक्र है, हृदय में अनाहतचक्र, कंठ म विशुद्ध चक्र और भौंहों के बीच में आज्ञा चक्र है। इन सबों के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र और सहस्रार है। सहस्रदल-कमल का दर्शन करना ब्रह्म साक्षात्कार करना है। यहीं साधक को अनाहतनाद[2] सुनाई पड़ता है। यहीं पर पहुँचकर कुंडलिनी परमपुरुष के साथ एकाकार हो जाती है।

---

१ *मूलाधारं चतुष्पत्रं गुदोर्ध्वे वर्तते महत्।*
लिङ्गमूले तु पीताभं स्वाधिष्ठानं तु षड्दलम्॥
तृतीयं नाभिदेशे तु दिग्दलं परमाद्भुतम्।
अनाहतमिष्ट पीठं चतुर्थकमलं हृदि॥
कलापत्रं पञ्चमं तु विशुद्धं कंठदेशतः।
आज्ञायांषष्ठकं चक्रं भ्रुवोर्मध्ये द्विपत्रकम्॥ 'प्राणतोषिणी' तंत्र से।

२ *'अनाहतं तु यच्छब्दं तस्य शब्दस्य यत्परम्।*
तत्परं विन्दते यस्तु स योगी च्छिन्न संशयः।

ये सारी जटिल साधनाएँ, तांत्रिकों के अनुसार, पंच मकारों के सहयोग से अनुष्ठित होनी चाहिएँ। मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन—ये ही पंच 'मकार' हैं। इनका अर्थ वही नहीं है जिस अर्थ में साधारणतया हम इन्हें प्रतिदिन व्यवहार करते हैं। ये सभी अभ्यन्तर अनुष्ठान के प्रतीक हैं। कबीर के पूर्ववर्ती साधकों ने इन सभी को लौकिक दृष्टि से ग्रहण किया था जिसके फलस्वरूप योग का मार्ग विशुद्ध भोग का क्रीड़ास्थल हो गया और उसके परिणाम को देखकर ही कबीर को हठयोग से भिन्न सहजयोग की विधि अपनानी पड़ी। मद्य का तात्पर्य यहाँ शराब या मदिरा नहीं है प्रत्युत् सहस्रार से च्चरित सुधा है। इसी को पीनेवाला मद्यप कहलाता है।[1] अज्ञानवश पुण्य और पाप की भावना ही मांस है और जो पुरुष इन पशुओं को ज्ञानरूपी तलवार से मार डालता है वही मांसाहारी है। गंगा (इड़ा) और जमुना (पिंगला) में प्रवाहित होनेवाले श्वास और प्रश्वास ही दो मछलियाँ हैं—जो व्यक्ति कुंभक के द्वारा सुषुम्ना के भीतर प्राणवायु को संचालित करता है वही मत्स्यभक्षक है[2]। योगियों के यहाँ मुद्राओं की काफी प्रसिद्धि है। शिवसंहिता के अनुसार दस मुद्राएँ होती हैं—

---

१ *'व्योमपंकज-निस्यन्द सुधापान रतो नरः।*
मधुपायी समः प्रोक्त-स्त्वितरे मद्य पायिनः।'—'कुलार्णव' से

२ *'गंगाजमुनयोर्मध्ये द्वौ मत्स्यौचरतः सदा।*
तौ मत्स्यौ भक्षयेत यस्तु स भवेन्मत्स्यसाधकः।'

—आगमसार

महामुद्रा, महाबन्ध, खेचरी, महाभेद, जालंधरबंध, मूलबंध, विपरीतकृत उड्डीयान, वज्रोली और शक्तिचालना। इनमें प्रत्येक मुद्राएँ अपने अपने क्षेत्र में जटिलता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ही हैं। संत-साहित्य में महामुद्रा, विपरीतकृति, खेचरी आदि मुद्राओं की काफी चर्चा मिलती है। जीभ को लंबा करना ही खेचरी-मुद्रा है जिसका वर्णन पीछे हो चुका है। विपरीतकरणी मुद्रा का उल्लेख कबीर ने पर्याप्त रूप से किया है। 'उलटा पवन गगन में लाओ' आदि स्थल इसी मुद्रा की ओर निर्देश करते हैं। योगियों का विश्वास है कि नाभि के मूल में सूर्यनाड़ी है और सहस्रार के पास चन्द्रनाड़ी। सहस्रदल कमल से निकली हुई सुधाधारा को नाभिस्थित सूर्यनाड़ी सोख लेती है और इसके फलस्वरूप मनुष्य मृत्यु के वश में होता है। योगी इस क्रम को उलट देना चाहता है। वह मस्तक को जमीन पर रखकर दोनों पैर ऊपर उठाकर कुंभक करता है। इसप्रकार योग के द्वारा सूर्यनाड़ी को ऊपर और चन्द्रनाड़ी को नीचे लाने से अमृत की बूंदे शरीर में व्याप्त हो सकती हैं और दीर्घ जीवन प्राप्त किया जा सकता है।

मैथुन का मतलब सान्निध्य है, मिलना है। सहस्रार में स्थित शिव का मूलाधार में स्थित कुंडलिनी से मेल हो जाना ही तंत्र में मैथुन कहलाता है। यह महासुख की अवस्था है। इसे ही लौकिक क्षेत्र में स्वीकार कर सिद्धों ने 'महासुह' के फेरे में युगनद्ध मूर्तियों की उद्भावना की थी और सिंहलद्वीप तक की दौड़ लगाने की आवश्यकता उन्हें पड़ी थी !!

हठयोग की क्रियाएँ हमें सहस्रार के ब्रह्मानंद की झिलमिलो तो दिखलाती हैं लेकिन उस प्रकाश तक पहुँचने के लिए कितने पहाड़ खोदने पड़ते हैं इसे स्मरण कर दिल बैठ जाता है और यदि हिम्मत बाँधिए भी तो अपने साहस से तो एक पग भी बढ़ना जीवन को दो पैसे में बेंचने-जैसा ही होगा। पहली बात तो आप को दुनिया में कोई काम न हो, दूसरी बात कि जान जाय या रहे इसकी परवा न हो और तीसरी बात कि अनुभवी गुरु साथ में हो—तभी आप सिंह की गुफा में पैर बढ़ा सकते हैं। आसन बाँधिए, मुद्राएँ साधिए, कुंडलिनी जगाइए और इतना सब करते करते यदि वृद्ध हो गए तो विस्तर लपेट कर चुपचाप कूच कर जाइए; यदि नहीं तो चक्रों को तोड़ते हुए बीच में ही रुक कर पागलों की जिन्दगी बसर कीजिए। सिद्ध योगी शायद होते होंगे—कम से कम कबीर ने तो एक भी नहीं देखा होगा। हाँ, उन्होंने उनके चमत्कारों एवं इन्द्रजालों को अवश्य देखा था। उनका प्रचार क्षेत्र भी निचले स्तर का ही 'सामाजिक-मस्तिष्क था जैसा कि सिद्धों का था और इसीलिए पहले पहल योग के चमत्कार ने यदि उन्हें चकाचौंध में ला दिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। लेकिन सोचिए तो भला, समाज में क्रांति की मशाल जलानेवाला विद्रोही एकान्त में बैठ कर कितने दिनों तक मुद्राएँ एवं आसनों के चक्कर में पड़ा रहेगा? क्या ऐसे हाड़ मांस का मनुष्य समाज से एक क्षण भी दूर रह सकता है? कबीर साधारण भिखमंगे नहीं थे जो हरद्वार के उत्तर की चढ़ाई पर बैठकर एकान्त में 'निर्गुन राम जपो रे भाई' की-तान में मँजड़ो को थाप मिलाकर आने जाने वालों के सामने दाँत

पहचानते ! यदि सिर का मुंडन करने से सिद्धि की प्राप्ति होने को रहती तो भेड़ें पहले स्वर्ग में चली जातीं ! अगर बिंदुधारण से भव-सागर पार करने को होता तो अंडकोशों ने परमगति क्यों नहीं पाई ? कबीर उनसे ललकार कर पूछते हैं कि तुम तो नाड़ियों पर बहुत विश्वास करते हो, बतलाओ कि आवागमन के समय तुम्हारी इंगल पिंगला और सुषुम्ना कहाँ चली जाती है ? विनाश होने के पहले तक न तो तुम्हारे जोड़ने से कुछ जुड़ेगा और न तोड़ने से कुछ टूटेगा ही।

जह कछु अहा तहा किछु नाही पंच तनु तह नाही।
इड़ा पिंगला सुखमन बँदे ए अवगन कत जाही॥
तागा टूटा गगनु विनसि गइआ तेरा बोलत, कहा समाई।
एह संसा मो कउ अनदिनु विआपै मो कउ को न कहै समुझाई॥

पिछले परिच्छेद में कहा जा चुका है कि अवधू को संबोधित करते समय कबीर अधिक उग्र दिखलाई पड़ते हैं। कुछ पद तो ऐसे मिलते हैं जिनमें कबीर ने खुलमखुल्ला गोरखनाथ को ही ललकारा है।

जिनके सदा अहार अंतर में केवल तत्त विचारा।
कहत कबीर सुनो हो गोरख तरें सहित परिवारा॥

ये पंक्तियाँ एक समस्या उपस्थित करती हैं। गोरखनाथ हठयोग के प्रवर्त्तक माने जाते हैं और योग की धारा में बहनेवाला प्रायः प्रत्येक साधक किसी न किसी रूप से उनका ऋण अवश्य स्वीकार करता है। ऐसे आचार्य को आह्वान करने का साहस साधारण नहीं है। हम आरंभिक परिच्छेद में कह चुके हैं कि कबीर की प्रायः

प्रतिपादन किया गया है ।[2] मन को दबाकर मारने के पक्ष में गोरख का मत नहीं है । उनके विचार देखिए—

वापिल मारिवा वालीन राषिना जानिवा अगनि के भेवं ।
वूढ़ी ही थे गुरवनी होइगी सति सति भाषत गोरख देवं ॥

कबीर का कहना था कि संसार को छोड़कर जो एकान्त साधना में लीन रहने लगा वह कायर है, डरपाक है । समाज की उपेक्षा कर कोई कबतक दूर रह सकता है ? विपत्तियों से घबड़ाकर योग के आँचल में मुँह छिपानेवालों को कबीर ने नीची निगाहों से देखा है । गोरखनाथ भी ऐसे भगोड़ों को योगी नहीं कहना चाहते । समाज से दूर भागकर जो विपत्तियों से अलग रहने के लिए साधना का उपक्रम करते हैं वे अभागे हैं ।

संड मुवा जती धाए भोजन सती गए धन त्यागी ।
नाथ कहै ये तीन्यौ अभागी ॥

कबीर का सहज-योग गोरख से मिलते-जुलते रहते हुए भी व्यावहारिक क्षेत्र में काफी भिन्न है । गोरख ने जो कुछ कहा वह सिर्फ कुछ यूँ ही (बाइ दि वे) कहा—इस तरह के योग पर उनकी विशेष आस्था नहीं दिखलाई पड़ती । कबीर ने सहज-योग को चिमटकर अपनाया और अंत तक अपनाये रहे । गोरख ने हठयोग को नहीं छोड़ा, यही कारण है कि योग का सहज रूप उन्हें सस्ता (चीप) लगा और इस ओर चलना उन्होंने पसंद नहीं किया । कबीर को इस सहज-

---

२. 'हबकि न बोलिबा ढबकि न चालिबा धीरै धरिबा पावं ।
गरब न करिबा सहजै रहिणा भणंत गोरख रावं ॥

योग ने ब्रह्मज्ञान का रास्ता बतलाया और इसी सहज-समाधि के द्वारा वे करोड़ों वर्षों तक आराध्य के चरणों में विश्राम पाने के अधिकारी हो जाते हैं। उनका हर्षातिरेक देखिए—

अब हम पइबो रे पइबो ब्रह्म गियान।
सहज समाधें सुख में रहिबो कोटि कलप बिसराम॥

तांत्रिक योगी षट्चक्र भेदन कर ब्रह्मरन्ध्र में जिस शिव का दर्शन करते हैं उस गोविन्द का दर्शन कबीर को तत्काल ही इस सहज-समाधि द्वारा हो जाता है। दुःख के बादल छँट जाते हैं, सुख का सावन उमड़ पड़ता है। दुश्मन भी मित्र बन जाते हैं, विद्रोही स्नेही बन जाते हैं, सांसारिक तापों का नाश हो गया है और कबीर एक ऐसे लोक में पहुँच गए हैं जहाँ आनन्द ही आनन्द है, रस ही रस है। इस लोक में 'गोब्यंद' का साक्षात्कार हो जाता है—

अब हम सकल कुसल करि जांनां स्वाति भई तब गोब्यंद जांनां।
तन में होती कोटि उपाधि उलटि भई सुख सहज समाधि।
जम थैं उलटि भया है रांम दुख बिसर्‌या सुख किया बिसराम।
बैरी उलटि भए हैं मीता, सापत उलटि सजन भए चीता।
आपा जानि उलटि लै आप, तौ नहिं ब्यापै तिन्यूं ताप।

एक बार इस सहज समाधि के शून्य में प्रवेश कर जाने पर फिर सांसारिक क्लेश पास नहीं फटकते। योगी निरंतर महारस ही पीता रहता है। इस रस की चाट ऐसी विलक्षण है कि उससे वह अलग नहीं होना चाहता। हठयोग का साधक सहस्रदल कमल से निकलने-वाले जिस अमृत का पान करने के लिए जीवन खपा देता है उसकी

उपलब्धि सहजयोगी को कम अरसे में ही हो जाती है। उसके लिए दो चीजें ही जरूरी हैं—मन को स्थिर या संयमित रखना और सत्संगति करना, बस। इतना ही कर लेने पर वह परमपद का अधिकारी हो जाता है। क्लिष्ट साधनाओं का बखेड़ा गायब और बैठे-बैठे उतने ही फल की प्राप्ति भी हो गई—इसे छोड़ भला हठयोग की ओर कौन जायगा? सहजयोगी मस्ती में झूम उठता है, आनंदातिरेक से उछल पड़ता है। हृदय में रस का सोता बहने लगता है: कोमल, मधुर। बाहर भी रस, भीतर भी रस—मस्ती का तूफान, प्रेम की रिमझिम—साधक नाच उठता है—

वसै गगन में दुनी न देखै चेतनि चौकी वैठा।
चढ़ि अकास आसन नहिं छोड़ै पीवै महारस मीठा॥
परगट कंथा माहैं योगी दिल में दरपन जोवै॥
सहंस इकीस छसै धागा निहचल नाकै पोवै॥
ब्रह्म अगिनि में काया जारै त्रिकुटी संगम जागै।
कहै कवीर सोइ जोगेश्वर सहज सुंनि ल्यौ लागै॥

अथवा,

अस्मा अनंदी जोगी, पीवै महारस अमृत भोगी।
ब्रह्म अगनि काया पर जारी, अजपा जाप उनमनी तारी॥
त्रिकुट कोट मैं आसण मांडै सहज समाधि विषै सब छांडै।
त्रिवेणी विभूति करै मन मंजन जन कवीर प्रभू अलष निरंजन॥

ऐसा लगता है कि कबीर का योग 'समाधि' न होकर कोई सामाजिक सिद्धान्त के रूप में उनके सामने आता है। हठयोग को ठुकराने

के पीछे समाज-सुधार की भावना ही मुख्य रूप से काम करती है। सहजयोग की स्थापना का लक्ष्य जनता की चित्तवृत्ति-शोधन और सत्संगति-भावना-उत्पन्न ही है। सामाजिक हित से दूर की जो भी चीज कबीर के सामने आई उसे निर्मम होकर उन्होंने ठुकरा दिया। उनका सहजयोग यदि एक ओर आत्मा का परमात्मा में भक्तिपूर्वक समर्पण सिखलाता है तो दूसरी ओर ज्ञानलाभ के लिए संतों की संगति की ओर इंगित करता है। इन दोनों शुभ भावनाओं के लिए स्थिर-चित्त एवं संयमित सुचरित्र जीवन की नितान्त आवश्यकता है। कबीर की दृष्टि में संत और योगी समानार्थक शब्द हैं। संतों के जो लक्षण इन्होंने बतलाए हैं वे सभी सहज-योगी के लिए भी लागू समझने चाहिएं। कबीर के संत-योगी की परिभाषा उनके मुँह से ही सुनिए—देखिए, वह योगी 'सहज' मार्ग का पथिक है।—

भाई, सोई सतगुरु संत कहावै, नैनन अलख लखावै।
डोलत डिगै न बोलत बिसरै जब उपदेश दृढ़ावै॥
प्रान पूज्य किरिया ते न्यारा, सहज समाधि सिखावै।
द्वार न रूंधै, पवन न रोके, नहिं अनहद अरुझावै॥
यह मन जाय जहाँ लग जबहीं परमातम दरसावै।
करम करै निस्करम रहै जो ऐसी जुगत सिखावै॥
सदा बिलास त्रास नहिं मन में भोग में जोग जगावै।

कबीर ने जो कुछ भी ठीक समझा था वह 'कागद की लेखी' न होकर 'आँखिन देखी' था। नेत्रों से जो कुछ भी देखा गया वही उचित समझा गया। उपनिषद् में जहाँ-तहाँ ऐसे वाक्य मिलते हैं

कबीर का अद्वैतवाद और उसका निर्गुणमत में स्थान

ओम् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

निर्गुण संतों ने विश्व के कण-कण में अलख निरंजन का दर्शन किया है। इसके साथ ही भगवान को 'एक' माना है और विश्व को मिथ्या कहा है। यदि कोई उनसे पूछे कि अगर सत्ता एक ही है तो अनेक के संबन्ध में क्या कहा जायगा ? क्या यह समस्त चराचर सृष्टि जो इन्द्रियों के लिए उस अलक्ष्य परमात्मा से भी अधिक वास्तविक है, मिथ्या है ? तो वे सभी एक स्वर से उत्तर देंगे कि उनकी भी सत्ता है, वे भी वास्तविक हैं; परन्तु परमात्मा से अलग उनकी कोई सत्ता या वास्तविकता नहीं है। कठिनाई केवल इतनी है कि जबतक हम इन्द्रियज्ञान पर आश्रित बुद्धि की माप से सब पदार्थों को नापने का प्रयत्न करते हैं तबतक हम उनको पूर्णरूप से नहीं समझ सकते !

परन्तु, इस कथन से सब संतों का एक ही अभिप्राय न होगा। हमें कम-से-कम तीन प्रकार की दार्शनिक विचारधाराओं के स्पष्ट दर्शन संतों के काव्य में मिलते हैं। वेदान्त के पारिभाषिक, शब्दों से यदि उन्हें

कबीर आदि अद्वैती विचारवालों के सिद्धान्तों को समझने के पूर्व शंकर के अद्वैतवादी मत को समझना आवश्यक होगा। शंकर मूलरूप से भिन्न दिखाई पड़नेवाले परमात्मा, जीव और जगत् के एकत्व पर विश्वास करते हैं। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:' के अनुसार शंकर ने विश्व को असत्य कहा है, मिथ्या माना है और जीव की स्वतंत्र स्थिति न मानकर उसे परमात्मरूप में ही स्वीकार किया है। शंकर के मायावाद पर काफी टीका-टिप्पणी हुई है और उसका काफी मखौल उड़ाया गया है। लेकिन इतना ध्यान रखना पड़ेगा कि शंकर यह नहीं कहते कि विश्व माया है; वरन् उनका कहना है कि वह ब्रह्म से अनन्य है। वे यह कभी स्वीकार नहीं करते कि जगत् का अस्तित्व ही नहीं है। उनके अनुसार जैसे मिट्टी का पात्र मिट्टी से अभिन्न है (मृत्तिकेत्येव सत्यम्) वैसे ही जगत् ब्रह्म से अभिन्न है—

'यस्य च यस्मादात्मलाभो भवति स तेनाविभक्तो दृष्टः यथा घटादीनि मृदा ।' ।'[1] जिस प्रकार तरंग समुद्र से अभिन्न है वैसे ही जगत ब्रह्म से अभिन्न है—

'सलिलफेन-दृष्टान्तेन परिहृतत्वम् ।[2]

'न च तेषाम् (फेनतरंगादीनां) इतरेतरभावानापत्तावपि समुद्रात्मनोऽन्यत्वं भवति ।[3] और भी स्पष्ट करने के लिए शंकर ने इसे एक उदाहरण द्वारा व्यक्त किया है। जब हम किसी लकड़ी के बने हाथी

---

1. बृहदारण्यकभाष्य ३ । ५.
2. " " "
3. ब्रह्मसूत्र-भाष्य २ । १ । १३

में हाथी की भावना करते हैं तब हमारी चेतना से लकड़ी का भाव लोप हो जाता है, यद्यपि लकड़ी का अस्तित्व सदा बना रहता है। लेकिन जब हम उसमें लकड़ी की भावना करते हैं तब हाथी गायब हो जाता है। फिर भी लकड़ी वहाँ बराबर वर्तम रहती है, सदा रही है और रहेगी।[४] इसी तरह जगत में भी सद रमात्मा रहता है और उसके अतिरिक्त जितनी वस्तुएँ हैं उनका अस्ति नहीं।

कबीर आदि अद्वैतवादियों के अनुसार येक व्यक्ति के भीतर परमात्मतत्त्व पूर्णरूप से विद्यमान है।[५] अन्तर केवल इतना ही है कि वह पूर्णरूप से इस बात को नहीं जानता।[६] जिस प्रकार मृगी की नाभि में कस्तूरी रहती है; लेकिन उसे वह कहीं बाहर समझकर ढूँढ़ती फिरती है और इसी भ्रम से उसका सर्वनाश हो जाता है, उसी

---

४ दन्तिनि दारु विकारे दारुतिरोभवति सोऽपि सर्वत्र।
जगति तथा परमात्मा परमात्मन्यपि जगत्तिरोधत्ते ॥

5. 'Man is God, the absolute in its wholeness and the whole of God too.—N. S. H. P.

—बड़थ्वाल।

६ कठोपनिषद् में ऋषि कहता है कि जो व्यक्ति सरल, विशुद्ध, ज्ञानस्वरूप, अजन्मा परमेश्वर को शरीर (ग्यारह द्वारयुक्त नगर) के भीतर ही रहनेवाला मानता है वह जीवन्मुक्त हो जाता है—

पुरमेकादश स्याजक्रचेतसः।
अनुष्ठा विमुक्तश्च विमुच्यते। क० २।२।१

प्रकार मनुष्य भी अंतर के ब्रह्म को नहीं देखकर भ्रम में इधर-उधर दौड़ता फिरता है। भगवान वही है—इस बात का अनुभव उसे तभी होता है जब वह सामान्य बुद्धि के ऊपर उठकर सोचता है। संदेह को दूर करने से उसे ज्ञात हो जाता है कि जो मैं हूँ वही भगवान है।

'दूर किया संदेह सब जीव ब्रह्म नहीं भिन्न।'—सुन्दरदास

आत्मतत्त्व को भूलकर मनुष्य पंचभूतों की ओर दृष्टि डालता है और उन्हीं में अपने वास्तविक स्वरूप की पूर्णता मानता है। वास्तव में वह सीधे न विचार कर उल्टा सोचता है *—

सूधी ओर न देखई देखई दरपन पृष्ठ।—सुन्दरदास

यही देहाध्यास सारे भ्रम की जड़ है। जब व्यक्ति दृश्य आवरणों के भ्रम में न पड़कर नाम और रूप को भेद कर अपने अंतरतम में दृष्टि

---

* *इन्द्रियों के सभी स्थूल विषय बाहर के हैं, शब्द, स्पर्श, रूप, रस-गंधादि का ज्ञान हुए बिना न तो मनुष्य किसी विषय के स्वरूप और गुण को ही जान सकता है और न उसका त्याग और ग्रहण (यथा योग) करके इन्द्रिय निर्माण के उद्देश्य की सिद्धि करने के लिए उनके द्वारा नवीन शुभ कार्यों का सम्पादन ही कर सकता है। विवेक के अभाव में हम विषयासक्तिवश इन बाह्य इन्द्रियों के फेरे में ही पड़े रहते हैं, अपनी अंतरात्मा को नहीं देखते। इन्द्रियों को बाह्य विषयों से लौटाकर अंतर्मुखी करनेवाले विरले ही संत होते हैं। उपनिषद् की उक्ति देखिए—*

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥कठ० २।१।१

डालता है तब उसे मालूम होता है कि मैं ही तो एकमात्र सत्य तत्त्व हूँ। यहाँ यह विदित हो जाता है कि अबतक जीव भ्रम में था— 'सुन्दर भ्रम मैं दोय थे', और यहाँ उसे तत्काल ज्ञान हो जाता है कि वह न केवल पूर्णब्रह्म है, बल्कि उसके अतिरिक्त दूसरा पादार्थ था ही नहीं। संत-संप्रदाय के इन अद्वैती संतों ने इस तत्त्व का अनुभव अपने जीवन में कर लिया था। इस अद्वैतता की अनुभूति के कारण कबीर समस्त सृष्टि में अपने-आपको देखते हैं—

हम सब माहिं सकल हम माहीं
हम तें दूसरा नाहीं।
तीनि लोक में हमारा पसारा आवागमन सब खेल हमारा।

जो कबीर को अण्डरहिल के समान रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का और फर्कुहर के समान निम्बार्क के भेदाभेद-सिद्धान्त का समर्थक मानते हैं वे भ्रम के कारण कबीर के सम्पूर्ण विचारों पर समन्वित रूप से ध्यान नहीं देते। कबीर ने पूर्ण ब्रह्म का एक ही दृष्टिकोण से विचार नहीं किया है। उनका निर्वचन करने के लिए सब दृष्टियों से विचार करना पड़ता है, परन्तु अंत में सबका समन्वय किए बिना पूर्णतत्त्व का ज्ञान नहीं होता। कबीर-जैसे पूर्ण अद्वैतवादियों ने वैसा ही किया है। इसी से कबीर में एक साथ ही निम्बार्क के भेदाभेद और रामानुज के विशिष्टाद्वैत के दर्शन होते हैं। यों तो उनकी उक्तियों से कोई भी वाद निकाला जा सकता है; परन्तु स्वतः कबीर ने उनमें से एक को भी नहीं अपनाया है। उन सबसे उन्होंने ऊपर उठने के लिए, सोपानमात्र का काम लिया है। वस्तुतः पूर्ण अद्वैत में उनका

इतना अटल विश्वास है कि वे परम तत्त्व को कोई नाम देना भी पसंद नहीं करते; क्योंकि ऐसा करने से नाम और नामी में द्वैतभाव हो जाने की आशंका रहती है—

'उनको नाम कहन को नाहीं दूजा धोखा होई ।'

जो तर्क से द्वैत की सिद्धि करना चाहते हैं उनकी अक्ल कबीर की नजर में मोटी है—कहै कबीर तरक दुई साधै तिनकी मति है मोटी ।'

मुमुक्ष की दृष्टि से मोक्ष जीवात्मा का परमात्मा में मिलकर एकाकार हो जाना है। इस मिलन में भेदज्ञान जरा भी नहीं रह जाता। कबीर ने वेदान्त का अनुसरण करते हुए मिलन को बूँद के सिंधु में, नमक के जल में तथा जल में स्थित घड़े (घटाकाश) के फूट जाने पर उसके भीतर के पानी का बाहर के पानी से मिल जाने के दृष्टान्तों द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है—

जल में कुंभ कुंभ में जल है भीतर बाहर पानी ।
फटा कुंभ जल जलहि समाना यहि तत कथौ गियानी ॥

इन दृष्टान्तों से कोई यह न समझ ले कि आत्मा को परमात्मा से कम महत्त्व दिया गया है, इसीलिए कबीर ने बूँद और समुद्र का एक दूसरे में पूर्णतः घुलमिल जाना कहा है—

हेरत हेरत हे सखि रह्या कबीर हेराई ।
बूँद समानी समुद में सो कत हेर्‍या जाई ॥
हेरत हेरत हे सखि रह्या कबीर हेराई ॥
समुद समाना बूँद में सो कत हेर्‍या जाई ॥

मुक्तपुरुष की दृष्टि से तो मिलन का सवाल ही नहीं उठता; क्योंकि कभी भेद तो था ही नहीं जिससे मुक्ति होने पर मिलन कहना संगत होवे! मोक्ष तो केवल दोनों की नित्य अद्वैतता का अनुभूतिमात्र है जिससे अज्ञान का आवरण मनुष्य को वंचित रखता है।*

तारन तिरन तब लगि कहिए जब लगि सत्त न जाना।
एक राम देखा सबहिन में कहै कबीर मनमाना॥

इस गहन अनुभूति की झलक इस श्रेणी के संतों की वाणियों में यत्रतत्र मिल जाती है। दादू कहते हैं—

जब दिल मिला दयाल सों तब अंतर कछु नाहिं॥
ज्यों प्याला पानी को मिला त्यों हरिजन हरिमाहिं॥

या,

परमातम सौं आतमा ज्यों पानी में लूँण।
दादू तनमन एक रस तब दूजा कहिए कूँण॥

मलूकदास का भी यही संदेश है—

साहिब मिल साहिब भया कछु रही न समाई।
कहैं मलूक तिस पर गए जँह पवन न जाई॥

भीखा का स्वर भी यही है—

भीखा केवल एक है किरतिम भया अनंत।

सुन्दरदास को तो शांकर अद्वैतवाद का पूर्ण शास्त्रीय ज्ञान
इस संबन्ध में वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

परमातम अरु आतमा उपजा यह अविवेक।
सुन्दर भ्रम थैं दोय थे सत्गुरु कीरा एक॥

परन्तु शिवदयाल, प्राणनाथ आदि अन्य संत यद्यपि इस
को मानते हैं कि जीवात्मा का अंत तक परमात्मा में निवास है,
भी वे यह नहीं मानते कि वह पूर्ण ब्रह्म है। उनके अनुसार जीव
परमात्मा है अवश्य; किन्तु बिल्कुल इस तरह पूर्ण नहीं जिस
ब्रह्म पूर्ण है। परमात्मा अंशी है और जीवात्मा अंश।* प्राण
इसक (इश्क) परमात्मा की बात इस तरह कहते हैं—

---

* इस भावना का कठोपनिषद् के इस मंत्र से निकट का स
दिखलाई पड़ता है—

'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

कठोपनिषद् २

अब कहुँ इसक बात इसक शब्दातीथ सख्यात।
सृष्टि ब्रह्म जे के अंग ये सदा अनंद अतिरंग॥

अर्थात्, सृष्टि अत्यन्त आनन्दमय प्रेमस्वरूप परमात्मा का एक अंगमात्र है। शिवदयाल ने अद्वैतवादी वेदान्तियों के संबन्ध में कहा है कि सत्पुरुष के पास से आनेवाली अंश-रूप जीवात्मा (सुरति) का वे रहस्य नहीं पाते—

सुरत अंश का भेद न पाया।
जो सत्पुरुष तें आनि समाया॥

तात्पर्य यह है कि सुरत (जीव) और राधास्वामी (परमात्मा) मूल रूप में अवश्य एक हैं; परन्तु विस्तार अथवा महत्ता में एक नहीं। सुरत भी प्रेमस्वरूप है; पर परमात्मा तो प्रेम भंडार है। यदि सुरत जल की एक बूँद है तो परमात्मा समुद्र, सुरत एक चिनगारी है तो परमात्मा अग्नि का प्रज्वलित पुंज।

इस संबन्ध में नानक का मत साफ-साफ ज्ञात नहीं होता। आत्मा और परमात्मा को एक कर द्विविधा के निवारण का उपदेश तो उन्होंने भी दिया है—

आतमा परमात्मा एको करई,
अंतर की दुविधा अंतर मरई।

—सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त एक ही अग्नि जिस प्रकार भिन्न-भिन्न वस्तुओं में भिन्न-भिन्न रूपों में स्थित है उसी प्रकार एक ही ब्रह्म पृथक्-पृथक् जीवों में पृथक्-पृथक् रूप में स्थित है। एक भंडार है, दूसरा उसका अंश रूप।

लेकिन इसके साथ-साथ जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि मुक्ति को सिक्ख-संप्रदायवाले निर्माण मानते हैं तब यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा और परमात्मा अभेद रूप से एक हो जाते हैं, किन्तु यह विदित नहीं होता कि जब तक यह द्विविधा मरती नहीं, मिटती नहीं तबतक आत्मा और परमात्मा में पूर्ण द्वैत-भाव रहता है या नहीं! हाँ, उनकी सामान्य उक्तियों को तथा उनके भक्तिभाव को देखने से यही समझ पड़ता है कि वे भी जीवात्मा और परमात्मा में जबतक जीवात्मा जीवात्मा है, अंशांशी-संबन्ध मानते हैं, जड़सृष्टि के संबन्ध में उनकी उक्ति भी इस बात को घोषित करती है।

इस अंशांशी संबन्ध के समर्थकों में भी साम्य नहीं है। बाबादयाल और नानक अंश का अर्थ वस्तुतः अंश लेते हैं। अंश में अंशी के सभी गुण वर्त्तमान रहते हैं, यद्यपि कुछ ही परिणाम में; किन्तु शिवदयाल और प्रायः सभी संत जो न तो अद्वैतभावना के अंतर्गत आते हैं और न बाबादयाल और नानक के अनुयायी हैं, अंश का अर्थ वस्तुतः अंश नहीं लेते; बल्कि अंश से उनका अभिप्राय अंश-तुल्य का है। उनके लिए अंशांशीभाव केवल एक अनुपात की ओर संकेत करता है। परमात्मा जीवात्मा के सामने कितना बड़ा है इसकी तो बात हो नहीं; क्योंकि वह जीवन का स्वामी है, उसका भाग्य-विधाता है। जीव परमात्मा न होकर परमात्मा का है।

इन दोनों मतों में जो भेद है वह उनके मुक्ति-सम्बन्धी विचारों से और भी स्पष्ट हो जाता है। नानक और बाबादयाल के अनुसार मोक्ष होने पर जीवात्मा परमात्मा में इस प्रकार मिल जाती है कि उसको

ाई अलग सत्ता नहीं रह जाती।[1] परन्तु शिवदयाल के मतानुसार मुक्ति होने पर सुरत (जीवात्मा) की अलग सत्ता बिल्कुल नष्ट नहीं होती। हाँ, राधास्वामी के चरणों में उसे अनंत चिन्मय जीवन प्राप्त अवश्य हो जाता है। वे भी सुरत की उपमा बूँद और राधास्वामी की उपमा सागर से देते हैं और इस तरह मोक्ष की प्राप्ति पर सिन्धु और बिन्दु का मिलन मानते हैं। किन्तु बूँद सिन्धु में समाकर उसके साथ अभेदरूप से एक नहीं हो जाते हैं। यही कारण है कि 'समाना' के स्थान पर इनके ग्रन्थों में 'धँसना' का प्रयोग मिलता है जिसका तात्पर्य है किसी वस्तु में प्रविष्ट होकर उसमें अपने लिए स्थान बना लेना। शिवदयालजी का मत यह मालूम पड़ता है कि सागर में जलराशि का वह परिमाण जो वाष्प बनकर कभी नहीं उड़ा करता, राधास्वामी है और जो बूँदें उसमें से प्रतिपल उड़ती और गिरती रहती हैं वे सुरत (जीवात्मा) हैं। मुक्त सुरत राधास्वामी के साथ सायुज्य-सुख भोग करते हैं और अनंतकाल तक उसकी छाया में विश्राम करते हैं। धरनीदास ने निम्नाङ्कित रूपक में इसी तथ्य की ओर इशारा किया है—

'छुटी मजूरी भए अजूरी साहब के मनमाना।'

प्राणनाथ के अनुसार भी मोक्ष उस चिद्रूप लीला में सम्मिलित कर सहायक होने का सौभाग्य प्राप्त करता है जिसमें 'ठाकुर ठकुराई' अपने धाम में निरत रहते हैं। यह भी इसी बात

---

१. 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।'

सूचक है कि अंत में प्राणनाथ जीवात्मा और परमात्मा में स्पष्ट भेद मानते हैं।

इस प्रकार इस श्रेणी के संतों का मत यह है कि जीवात्मा की चरमावस्था परमात्मा के साथ उसका सभेद मिलन है। (Union in seperation with God) अंत तक परमात्मा परमात्मा ही बना रहता है, जीव-जीव ही रहता है। दोनों का भेद कभी नष्ट नहीं होता।

अब, इस दृश्यमान जगत के संबंध में इन संतों के क्या मत थे इस पर भी विचार कर लेना अपेक्षित होगा। यहाँ भी तीन भिन्न विचार-धाराएँ दिखाई पड़ती हैं। कबीर के समान अद्वैती संतों के मत में परमात्मा को छोड़कर और कहीं कुछ है ही नहीं[1]—'सब घर मेरा साइयाँ सूनी सेज न होय।' अतः यह व्यक्तजगत, जो सर्वदा हमारी आँखों के सामने परमात्मा से भिन्न सत्ता रखता हुआ दिखलाई पड़ता है, झूठा है। इसीलिए कबीर ने कहा था—

अंबरि दीपै केता तारा कौन चतुर ऐसा चितरनहारा।
तुम जो देखो सो यह नाहीं है यह पद अगम अगोचर माँही॥

दादू ने भी कुछ इसी तरह कहा है—

निसि अँधियारी कछु न सूझै संसै सरप दिखावा।
ऐसे अंध जगत नहिं जानै जीव जेवड़ी खावा॥

---

१. *मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।*
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥कठ० २।१।११

इस संसार को अंधकार समझकर ही दादू उस परम ज्योतिमान 'एक' के संधान में निकल पड़ते हैं जिनके सामने तम का अस्तित्व नहीं रहता। सारा दृश्यजगत उस ज्योति की ज्योत्स्ना में जगमगाने लगता है। **'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'** इसी आलोक के चकमक में दादू तल्लीन हो जाते हैं। इस समय यह दृश्यजगत आँखों के सामने से तिरोहित हो जाता है और सिर्फ ज्योति ही ज्योति दिखलाई पड़ने लगती है—एक 'वही' सामने टिका रहता है, दूसरी सारी वस्तुएँ गायब हो जाती हैं—

सदा लीन आनन्द में सहज रूप सब ठौर।
दादू देखै एक को दूजा नाहीं और॥

सुन्दरदास का प्रीतम भी एक ही है—'प्रीतम मेरा एक तूँ, 'सुन्दर' और न कोय'। पलटू ने अपने प्रियतम का साक्षात्कार तो किया पर लेने के देने पड़ गए। दर्शन क्या किया, अपनेआपको मिटा दिया, खो दिया। अब तो 'पिय' का प्रकाश ही उनमें मिल गया है—मिल जाने पर अलगाव कैसा, विभेद कैसा?

देखा पिय का रूप रूप में जलहि समानी।
जब से भया मिलाप मिलै पर ना अलगानी॥

इन संतों ने सदा इस बात पर जोर दिया कि ब्रह्म एक है और उसमें द्वित्व की भावना लाकर उपासना करना वेश्यावृत्ति अंगीकार करना है। कबीर ने स्पष्ट कहा है—

नारी कहावै पीव की रहै और संग सोय।
जार सदा मन में बसै खसम खुशी क्यों होय॥

इसी प्रकार दरिया साहब, सुन्दरदास, मलूकदास, पलटू प्रभृति संतों ने अद्वैतीय ब्रह्म को छोड़ अन्य देव का ध्यान करनेवाली आत्माओं को 'वेश्या' ही कहा है।*

---

* (क) 'एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
—एक भरोसो नाम कर याचक तुलसदीास॥
बूझहु तुलसी कर यह साखी पतिवरता एक पति चित राखी।
एह जग बेसवा बहुत भतारी एक भगति करु तनमन वारी॥
एकै नाम आस चित्त धरहु दूजा दुबिधा सब परिहरहु।
—दरियादास।

(ख) जो हरि को तजि आनि उपासत सो मतिमंद फजीहत होई।
ज्यूँ अपने भरतारहि छाड़ि भई बिभचारिणि कामिनी कोई॥
—सुन्दरदास

(ग) पति की ओर निहारिए औरन सों का काम।
सबै देवता छोड़िकै भजिए हरि को नाम॥—चरनदास।

(घ) रैन दिवस बेहोस पिया के रंग में राती।
तन की सुधि है नहीं पिया संग बोलत जाती॥
पलटू गुरु प्रसाद ते किया पिया को हाथ।
सोई सती सराहिए जरै पिया के साथ॥—पलटू।

(ङ) तुम्हें छाड़ि जानै जो दूजा तोहि पापी पर परिहैं गाज।
कहै मलूक मेरो प्राण रमइया तीनि लोक ऊपर सिरताज॥
—मलूक

साँइ मेरा एक तू और न दूजा कोय।
जो साहब दूजा कहौं दूजा कुल को होय॥—कबीर

इसी ताल पर दरिया साहब (बिहार वाले) कहते हैं कि 'एक' ही अनंत रूप होकर विश्व में व्याप्त है और सभी जड़-चेतन फिर अन्त में अनन्तत्व को छोड़कर 'एक' में ही तिरोहित हो जाते हैं—

एकै सो अनंत औ फूटि डारि विस्तार।
अंत हूँ फिर एक है ताहि खोजु निजु सार॥

गीता का स्वर भी इनसे भिन्न नहीं है जब वह 'नित्यं सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' कहती है। संतों ने जीव और ब्रह्म को एक ही मानकर दोनों में घुलामिला संबन्ध बतलाया है। जो भी फर्क मालूम पड़ता है वह सत्य नहीं है, मायाजनित है।

अब माया की बात आती है। शंकराचार्य ने माया को अत्यन्त गहन, दुस्तर एवं विलक्षण कहा है।[1] यह माया वस्तुतः नाम-रूपात्मक व्यक्त जगत की पूर्वावस्थामात्र है।[2] इसका अस्तित्व ब्रह्म से है परन्तु ब्रह्म इससे निरपेक्ष है, निर्लिप्त है। माया 'परिमाणी नित्य' है और ब्रह्म 'कूटस्थ नित्य' है। यही ब्रह्म का ऐश्वर्य है और इसके संयोग को पाकर ही ब्रह्म ईश्वर हो जाता है। इसीलिए श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है—'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'। (४।१०) गीता

---

१. 'अहो अतिगंभीरा दुरवगाह्या विचित्रा माया चेयम्।'
—कठोपनिषद्-भाष्य १।३।१२

२. परमेश्वराधीनात्वियमस्माभिः प्रागवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते...
अव्यक्ता हि सा माया।'—ब्रह्मसूत्र-भाष्य १।४।३

भी कही है—'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।' यह माया वैष्णव-शक्ति या ब्रह्म शक्ति है। शंकर ने कहीं-कहीं इसे अविद्या कहा है। परन्तु यह हमारी उस व्यष्टि अविद्या अथवा अज्ञान से भिन्न है जो हमारी परिच्छिन्न मानसिक अवस्था में ब्रह्म पर नाम-रूप का आरोप करती है। व्यष्टि अविद्या का विद्या से बाध हो जाता है किन्तु समष्टि माया या अविद्या ब्रह्म की शक्ति है अतः व्यष्टि विद्या से उसका निराकरण नहीं किया जा सकता। शंकर का कहना है कि प्रत्येक जीवात्मा दूसरे जीवात्मा से भिन्न है ठीक वैसे ही जैसे जड़ प्रकृति का प्रत्येक अणु दूसरे अणु से पृथक् है। किन्तु जैसे जड़प्रकृति के प्रत्येक अणु की सत्ता और अस्तित्व केवल अभिन्न ब्रह्म से है उसी प्रकार प्रत्येक जीवात्मा का अस्तित्व केवल ब्रह्म को लेकर है। ब्रह्म जीव से तनिक भिन्न नहीं है। अगर जीव अपने को आवरणों से मुक्त कर ले तो जो कुछ बच जाता है, वह शून्य नहीं, अभाव नहीं अपितु ब्रह्म ही होता है, जो शुद्ध चैतन्य और अनंत है।[१] यह शुद्ध नित्य अनंतब्रह्म जड़प्रकृति की भाँति जीव के

---

१. ब्रह्म का मुख चमकीली किरणों से आच्छादित है—यही चमकीली मोहिनी शक्ति माया है। सूर्य के समान प्रकाशवान किरणों के रहते हुए भगवान के श्रीमुख का दर्शन नहीं हो सकता। ईशावास्योपनिषद् में ऋषि की प्रार्थना है कि निरावरण दर्शन देने के लिए इस प्रतिबंधक को कृपया भगवान हटा लें—

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ ईशा० १५

द्वारा भी आंशिक रूप में ही व्यक्त होता है। मनुष्य की आँखों पर सदा अज्ञान का रंगीन चश्मा लगा रहता हैं इसी कारण वह उस सत्य को भी रंगीन और असत्य रूप में देखता है। उपनिषद के 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' के सुर में सुर मिलाकर सुन्दरदास ने कहा है—

'सुन्दर जानै ब्रह्म में ब्रह्म जगत द्वै नाहीं।

दरिया साहब (बिहार) ने भी कहा है—

दरिया दिल दरिआव है अगम अपार बेअंत।
सब मँह तुम तुममें सभै जानि मरम कोई संत॥

किन्तु शिवदयाल आदि के अनुसार सृष्टि का वास्तव में सृजन होता है, उसकी वास्तविक सत्ता है; वह ब्रह्म का माया-रूप नहीं है। इस संसार को माया और असत्य मानते हुए भी माया को सत्ताहीन नहीं मानने जैसा कबीर आदि ने माना है। माया या असत्यता से उनका अभिप्राय केवल वैसी चीज से है जिसका स्वरूप चिरंतन और अनित्य नहीं है, जो परिवर्तनशील और नश्वर हैं। इसलिए नानक कहते हैं—

जो कछु दीपै सकल बिनासै ज्यों बादल की छाँही।
जनु नानक रे यह जग झूठा रहो राम सर नाहीं॥

और दूसरे स्थान पर यह भी कहते हैं—

'साँचे तेरे खंड साँचे ब्रह्मण्ड।'

कबीर ने माया को सदा अविद्या या अज्ञान के रूप में ही देखा है। जिस प्रकार सामयी के यहाँ शैतान या नारद है जो ईश्वर-प्राप्ति

में विघ्न उपस्थित करता है उसी प्रकार कबीर के मार्ग में माया आती है जो साधकों को बहकाती है। यह पूरे साज-बाज के साथ आती है, इसकी चकमक पर लुट जाना मुश्किल नहीं।

कबीरा माया मोहिनी मोहें जान सुजान।
भागै हूँ छूटै नहीं भरि भरि मारै बान॥[1]

इसके पेंच में दौड़-दौड़कर मानव पड़ता जाता है—'माया दीपक नर पतंग भ्रमि-भ्रमि माहि परंत' और एक बार इसके चक्कर में आने पर फिर त्राण पाना असंभव है। सुख का नाश हो जाता है, मोक्ष की कल्पना भी दूर चली जाती है—'शीतलता सपने नहीं फल फीका तन ताप।' यह माया काफी प्रबल है, इसके जाल में देवता, मुनि सभी फँसे हुए हैं। यह माया राम की ही शक्ति है।—

राम तेरी माया दुंद मचावै।
गति मति वाकी समझ परै नहिं सुर नर मुनिहिं नचावै॥
का सेमर के साख बढ़े ये फूल अनूपम बानी।
केतिक चातक लागि रहे हैं चाखत रुवा उड़ानी॥
कहा खजूर बड़ाई तेरी फल कोई नहि पावै।
ग्रीपम ऋतु जब आइ तुलानी छाया काम न आवै॥[2]

यह माया पिशाचिनी है। हरि और जीव के बीच अंतर डालकर साधक को पथभ्रष्ट करने की यही चेष्टा करती है—

---

१. कबीर वचनावली १४०।५४६
२. " " १८६।४१

मैं जानूँ हरि से मिलूँ मो मन मोटी आस।
हरि विच डारै अंतरा माया बड़ी पिचास॥[1]

कबीर की माया की कितनी व्यापकता है यह देखिए—यह तीर्थ और पंडित में तो है ही; विष्णु, शिव तथा ब्रह्मा के घर में भी उसी का आधिपत्य है।—

माया महा ठगिनि हम जानी।
तिरगुन फाँस लिए कर डोले बोले मधुरी बानी॥
केशव के कमला ह्वै बैठो शिव के भवन भवानी।
पंडा के मूरति ह्वै बैठी तीरथ में भई पानी॥
भक्तन के भक्तिनी ह्वै बैठी ब्रह्मा के ब्रह्मानी।
कहै कबीर सुनो हो संतो यह सब अकथ कहानी॥[2]

यहाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश को भी माया में फँसा हुआ कहना संदेह उत्पन्न करता है। यदि त्रिदेव जो माया के स्वामी हैं उसके अधीन हैं तो फिर सारे ब्रह्माण्ड की स्वामिनी तो माया ही ठहरी, फिर कबीर का 'राम' उससे स्वयं कैसे बचा रह जाता है? कबीर ने सगुण भगवान को नहीं माना और न सगुण-निराकार ब्रह्म को ही। उनका ब्रह्म निर्गुण है, निराकार। कबीर का कहना है कि राम, कृष्ण और अन्य अवतार माया के फल ही हैं। अलख निरंजन को भला इस झंझट में पड़ने से क्या मतलब? अतः वे कहते हैं—

---

१ कबीर वचनावली १४०।५४८

'खंभ फारि जो बाहिर होइ ताहि पतिज सब कोई।
हिरनाकुस नख उदर विदारे सो नहिं करता होई ॥
बामन रूप न बलि के जाँचै जो जाँचै सो माया।
बिना विवेक सकल जग जँहड़े माया जग भरमाया ॥
परसुराम छत्री नहिं मारा इ छल माया कीन्हा।
सतगुरु भक्ति भेद नहिं जानै जीव अमिथ्या दीन्हा ॥
वे कर्त्ता नहिं भए कलंकी नहिं कलिगहिं मारा।
ई छलबल सब मायै कीन्हा जतिन सतिन सब टारा ॥'[1]

कबीर ने यह स्पष्ट कर दिया है कि माया अक्षयपुरुष राम की 'भुलानेवाली शक्ति' है—जा फेरे में पड गया, गया—

माया तो है राम की मोदी सब संसार।
जाको चिट्ठी ऊतरी सोई खरचनहार ॥[2]

संतों ने जिस ईश्वर को अपना आराध्य माना है वह माया से परे एक अखंड ज्योतिर्मय पिंड है। उसके चारो ओर प्रकाश ही प्रकाश है। यह अद्वैत ब्रह्म सूर्य, चन्द्र और ताराओं के प्रकाश से प्रकाशित नहीं होता, बिजली की प्रभा भी उसे आलोक नहीं देती। अग्नि की तो फिर बात ही नहीं आती। वास्तव में वह प्रकाशित होता है इसलिए संसार की सारी वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं, उसी से प्रकाश

---

१. कबीर वचनावली १६३।५
२. " " १४०, ५४४

ग्रहण करती है।[1] गीता में कृष्ण ने अपने को 'तेजस्तेजस्विनामहम्' कहकर उसी अलक्ष्य लोक की ज्योति से पूरित बतलाया है। कबीर का कहना है कि शून्य से एक प्रकाण्ड ज्योति की उत्पत्ति होती है जो निर्विकार है—

शून्य सहज मन सुरति ते प्रगट भई एक ज्योति।
बलिहारी ता पुरुख छवि निरालंब जो होति॥

वह लोक इतना सूक्ष्म है कि—

बिना ज्योति की जँह उजियारो सो दरसै वह दीपा।
निरतै हँस करै कौतूहल वो ही पुरुख समीपा॥

वहाँ करोड़ों सूर्यचन्द्र एक छोटे दायरे में ही सीमित होकर भुक् भुक् कर रहे हैं—'कोटिन भानुचंद तारागण एक फुचरियन छाजै'। वह ब्रह्म चौदह लोकों के ऊपर अपनी ज्योति का प्रसारकर शून्य में स्थित है—

चौदह लोक वसै यम चौदह तँह लग काल पसारा।
ताके आगे ज्योति निरंजन बैठे सुन्न मँझारा॥

वहाँ का दृश्य देखिए—

दिपै बहु दामिनी दमक बहु भाँति की,
जहाँ घनशब्द को घुमड़ लाई।
चंद और सूरगण ज्योति लागै नहीं
एक ही नक्ख परगास आई॥

---

१. *न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ कठोपनिषद् २।२।१५*

वह तीन लोक ते भिन्न राज,
तँह अनहद धुनि चहुँ पास वाज।
दीपकैं वरैं जँह निराधार,
विरला जन कोई पाव पार॥

कबीर कहते हैं कि इस अखंड ज्योति का एक कण भी जिसे प्राप्त हो जाता है वह सम्पूर्ण विश्व में उसी ज्योति का प्रसार देखने लगता है। उसे सारा विश्व ही ज्योतिर्मय मालूम पड़ने लगता है। विश्व में ही परमात्मा का दर्शन होने लगता है या परमात्मा ही विश्वमय मालूम होने लगता है।[1] जहाँ दृष्टि जाती है अपना-आप ही दिखाई देता है। सारा ब्रह्माण्ड ही साधक का शरीर बन जाता है।[2] वही ऊपर है, वही नीचे है, वही सब ओर है[3]—वही 'वह' बन जाता है। कबीर कहते हैं—

तूँ तूँ कहता तूँ भया तुझ में रहा समाय।
तुझ माहीं मन मिलि रहा अब कहुँ अनत न जात॥

---

१. ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्। कठ० २।२।११

२. साधक को इस व्यापक 'एक' आत्मा को ही जान लेने से सब कुछ का ज्ञान हो जाता है। ऐसा जाननेवाला ब्रह्म को समझ लेता है—

'एकस्मिन् विद्यते सर्वविदं विज्ञातं भवति।' (छान्दोग्योपनिषद्)

३. 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥

मुण्डकोपनिषद् २।२।११

तथा,

मैं लागा उस एक से एक भया सब माँहि।
सब मेरा मैं सबन का तहाँ दूसरा नाहिं॥

धरमदास भी सर्वत्र अपने साहेब का ही सायं-प्रातः दर्शन किया करते हैं—

'का साँझा क्या प्रात सवेरा जँह देखूँ तहँ साहब मेरा।'

पलटू कहते हैं कि वह तो सर्वत्र व्याप्त है, पर हम देखते हुए भी उसे नहीं देखते—

पलटू खाली कहूँ नहिं परगट है जग माँहिं।
नजर महैं सबको पड़े कोऊ देखै नाहिं॥

कबीर ने ब्रह्म की अद्वैतता को नदी और उसके तरंग से बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है। नदी की लहर और नदी में सिर्फ नाम का फर्क है, दोनों मूलतः एक ही हैं। जल ऊपर उठ जाता है और तरंग की संज्ञा धारण कर लेता है, वही जल बैठकर नदी बन जाता है। जगत वास्तव में ब्रह्म ही है दूसरा नहीं—जगत की विभूतियाँ ब्रह्म की विभूतियाँ ही हैं, उस ब्रह्म की जो 'एक' है—

दरियाव की लहर दरियाव है जी दरियाव और लहर भिन्न कोयम।
उठे तो नीर है बैठता नीर है कहो किस तरह दूसरा होयम॥
उसी नाम को फेर से लहर धारो लहर के कहे क्या नीर खोयम।
जगत ही फेर सब जगत है ब्रह्म में ज्ञान देख करि कबीर गोयम॥

यही वह स्थिति है जब 'जित देखौं तित स्याममयी है' की भावना आती है। जब 'पीव जीव मँह जीव पीव मँह' हो जाता है तब मैं-तू का झगड़ा मिट जाता है और संत रामतीर्थ के शब्दों में—

मैं तू हुआ, तू मैं हुआ, मैं देह हुआ तू प्राण हुआ !
अब कोई यह न कह सके मैं और हूँ तू और है !!

यही 'तत्त्वमसि' शब्द से व्यक्त की गई भावना है जिसे तुलसी ने 'सो तैं तोहि ताहि नहिं भेदा, बारि बीचि इव गावहिं भेदा' कहा है। यह पूर्णतः अद्वैतवादी मत है जिसे कबीर आदि निर्गुणमार्गी संतों ने मुख्य रूप से अपनाया है। वस्तुतः ब्रह्म एक ही है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसी का व्यक्त रूप है—दोनों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। भगवान तक पहुँचने की कामना करनेवाले अनेक साधकों ने अपने मतानुसार अनेक मार्ग निकाले हैं जिनके पचड़े में ये संत कभी नहीं पड़े। कबीर ने सदा-सर्वदा ब्रह्म को सूक्ष्म अद्वैत रूप में स्वीकार किया। संतों ने सदा यही समझा कि जिस प्रकार नदियाँ भिन्न-भिन्न मार्ग से बहती हैं, कहीं सीधी कहीं टेढ़ी, पर उनका एकमात्र गन्तव्य स्थान सागर ही है जो दो नहीं है, उसी प्रकार साधक अपनी रुचि की विचित्रता के कारण टेढ़ा-सीधा अनेक मार्ग पकड़ते हैं पर समुद्र की भाँति उनका भी एक मात्र गन्तव्य स्थान ब्रह्म ही है जो दो नहीं है, अद्वैत है।—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।

कबीर का राम-तत्त्व

स्वामी रामानंद के चरणों के निकट भक्ति की दीक्षा लेनेवाले युवक के मन में सर्वप्रथम जिस ब्रह्म को भावना आई होगी वह निश्चय ही सगुण एवं साकार होगी। गुरु की महत्ता में अविचल विश्वास करनेवाले कबीर के हृदय में रामानंदी 'राम' ने स्थान नहीं बनाया होगा, इसमें संदेह है। सगुण भक्त प्रथमतः अपने आराध्य से व्यक्तिगत संबंध जोड़ता है। उसे प्रायः असमञ्जस होता है कि वह उसे माँ कहे या बाप, पत्नी कहे या पति, स्वामी कहे या बन्धु! आकुल होकर वह एक रिश्ते को पकड़ता है फिर उसे ओछा समझकर दूसरे की ओर दौड़ता है। कबीर के मस्तिष्क में निर्गुण 'राम' की भावना एक ही दिन में जमकर नहीं बैठ गई। आजतक किसी भी ज्ञानी के पास 'राम' का निर्गुण रूप 'इल्हाम' द्वारा नहीं टपक पड़ा। रामानंद ने जो सिखाया उसकी तह तक पहुँचने में जागरूक कबीर को देर नहीं लगी—उन्होंने वहाँ से पैर आगे बढ़ाया जहाँ सगुण भक्त अपनी यात्रा

की समाप्ति समझकर थकान मिटाने के लिए बैठ जाता है। इस धरातल पर अपने राम की ओर दृष्टि डलाए कबीर हरि को न तो अद्वैत समझते हैं और न सर्वव्यापी ही। उनसे उनका व्यक्तिगत संबंध है और वे अपनी दीनावस्था की याद दिलाकर सिर्फ अपनी रक्षा की प्रार्थना करते हैं। 'बहुत दिनन के बिछुरे माधव मन नहिं बाँधै धीर' अथवा 'अजहूँ गोविन्द भूलि मत जाहु मानव जनम का एही लाहु' आदि पंक्तियाँ उनकी इस अवस्था को प्रकट करती हैं—यहाँ 'माधव' और 'गोविन्द' विशेषणों के विशिष्ट प्रयोगों पर ध्यान देकर हम कबीर के राम का स्थान-निरूपण भलीभाँति कर सकते हैं। ध्यान से देखने पर उनकी पुकार तुलसी के 'विनयपत्रिका' के स्वर से तनिक भी भिन्न नहीं मालूम पड़ती है, वही तड़प, वही भक्तभयहारी के 'यदा यदा हि धर्मस्य....' की याद दिलाने का जोश, वही उत्कंठा, वही व्याकुलता—

दीन दयाल कृपाल दमोदर भगतिबछल भैहारी।
कहत कबीर भीर जनि राखहु हरि सेवा करौ तुम्हारी॥

इतना ही नहीं, वैष्णव भक्त जिस प्रकार रामचन्द्र को साकेतधामवासी बतलाते हैं उसी प्रकार कबीर ने भी एक स्थान पर अपने राम की चर्चा करते हुए उसे साकेत का रहनेवाला कहा है—

जाय जाहूत में खुद खाविंद जँह वहीं मकान साकेत साजी।
कहै कबीर हाँ भिस्त दोजख थके बेद किताब काजी॥

अतः यह स्पष्ट है जिस निर्गुण 'राम' को कबीर ने आगे चलकर इतना महत्व बना दिया वह 'राम' प्रारंभ में सगुण ही था और वह वैष्णवों के राम से अभिन्न था।

हिन्दू-मुस्लिम कराकटी को दूर करने के प्रवचन में एक दिन कबीर ; मुँह से भगवान के प्रति ये शब्द निकले थे—

मेरा मुझ में कुछ नहीं जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते क्या लागैगा मोर॥

यहीं पर उन्हें अद्वैत का दर्शन हुआ और यही भावना विकसित होकर आगे बढ़ चली। कबीर ने देखा कि हमें इस विश्व के नाम-रूपात्मक जंजाल से आगे बढ़ना है। सगुण राम यहाँ का जीव है; भले ही ऊपर से आने के कारण उसमें विशिष्ट गुण हों, लेकिन है वह संसारी ही। यह संसार तो सीमाबद्ध है, 'हद' है—हमें 'बेहद' के देश में पहुँचना चाहिए। यहीं से निर्गुण एवं सूक्ष्म ब्रह्म का अन्वेषण प्रारंभ हो गया और कबीर को लगा जैसे यह भगवान जाना-पहचाना हो—सत्संगति में सुने हुए औपनिषदिक् ब्रह्म की छाप पहले से थी ही, इस नई भावना ने बुद्धि को कुरेद कर जगाया और कबीर के मन में एक बिजली कौंध उठी—हाँ, वह तो वही है जिसे वे जन्मजन्मान्तर से जानते हैं, अलख, अपार, अगोचर; सबसे बड़ा, सबसे दूर, सबसे भिन्न

नाद विन्दु तें अगम अगोचर पाँच तत्त्व ते न्यारा।
तीन गुनन ते भिन्न है पुरुख जो अलख अपारा॥

इस ब्रह्म का कोई आधार नहीं, वह अनंत है, असीम है। क्या कहा जाय, समझ में नहीं आता। कबीर की इस हिचकि को देखिए—

भारी कहौं तो बहुत डरौं,
हल्का कहौं तो मूठ।

मैं का जानौं राम कूँ,
नैनों कबहूँ न दीठ ॥

इसलिए

हरि जैसा है तैसा रहौ,
तू हरषि हरषि गुन गाइ ।

यहाँ खड़ा होकर कबीर ने 'राम' के अवतार स्वरूप को देखा तो उन्हें बड़ी ग्लानि हुई। वेद-पुराण को पाखंड माननेवाले अक्खड़ ने पुराणप्रतिपादित विष्णु के अवतार पर विश्वास नहीं किया। कहीं उनके 'राम' उच्चारण में लोगों को भ्रम न हो जाय इसलिए उन्होंने घोषणा की—'दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना राम नाम का मर्म है आना।' उनका राम दशरथ का पुत्र नहीं है, वह दूसरा है। न वह यशोदा का लाल है, न ग्वालों का सखा। बावन होकर बलि को छलना उसने नहीं सीखा। । न तो वह कभी मछली बना, न कछुआ। बद्रिकाश्रम और जगन्नाथपुरी में आसन मारकर बैठनेवाला कबीर का 'राम' नहीं है। कबीर का कहना है कि 'याहीं थे जे अगम हैं सो भिरति रह्या संसार।' यह ब्रह्म 'जनम मरन ते रहित है' उसको न मुँह है न सिर, न वह सुन्दर है, न कुरूप। वह रूप और अरूप से परे है। पार्थिव जगत की सीमाएँ उसका मूल्याङ्कन नहीं कर सकतीं। उसके सूक्ष्मरूप को स्पष्ट करने को कुछ-कुछ चेष्टा कबीर करते हैं—

जहाँ न चींटी चढ़ि सकै राई ना ठहराय।
मनुवाँ तँह लै राखिए तहईं पहुँचे जाय ॥

यहाँ ध्यान में रखना होगा कि कबीर का यह ब्रह्म उपनिषद् के उस ब्रह्म से तनिक भी भिन्न नहीं है जिसके संबंध में निर्मल, अवयव-रहित, प्रकाशमय कोश तथा सर्वदा जाननेवाला, दिव्य आकाशस्वरूप आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। माण्डूक्य ने तो स्पष्ट घोषणा की है कि ब्रह्म वह है जो न तो भीतर की ओर प्रज्ञावाला है न बाहर की ओर; न जाननेवाला है, न नहीं जाननेवाला। न तो उसे देखा जा सकता है न व्यवहार में लाया जा सकता। न तो उसका कोई लक्षण (चिह्न) है और न वह पकड़ में आ सकता है।

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम्...।' माण्डूक्य० ७

कबीर के मानस में ऐसा ही राम निवास करता है—अलख, अगम्य, अगोचर। वह क्या है, वास्तव उसे समझा नहीं जा सकता। सिर्फ मनस्तुष्टि के लिए हम निषेधात्मक ! ... णों से उसका आभास मात्र मानस प्रत्यक्ष करते हैं। न तो वह पिंड में है, न ब्रह्माण्ड में—दोनों से परे, दोनों से अलग वह अजर अमर शून्य में निवास करता है। ऐसे ब्रह्म के विषय में क्या कहा जाय—पुस्तकें लिख-लिख कर उसे कैसे समझाया जाय?

दृष्टि न मुष्टि न अगम अगोचर पुस्तक लिखा न जाई लो।
जिन पहिचाना तिन भल जाना कहे न तो पतिआई लो॥

ब्रह्म की इस पचपच स्थिति को ठीक-ठीक नहीं समझनेवाले कभी उसे निर्गुण निराकार समझते हैं, कभी सगुण, कभी सूक्ष्म, कभी स्थूल।

मनुष्य की कौन कहे ब्रह्मा, शिव और महेशादि भी हार गए; साधक, संन्यासी थक गए; मुनि, योगी निराश हो गए—इसलिए कि राम के जिस 'गुण' की खोज में ये दौड़े वह तो मिलता नहीं, उसका 'गुण' तो न्यारा है जिसे 'बूझनहार पिछाने।' कबीर का कहना है कि कितने रामचन्द्र ने तपसी बनकर संसार को धोखे में रखा, कितने मुरलीधर ने कान्ह बन ब्रह्म को पहचानने का निरर्थक प्रयास किया। यहाँ मच्छ आए, कच्छ और वराह भी आए वामन और बुद्ध भी आए; पर लाख सर पटकने पर भी 'तिन भी अंत न पाया'। सिद्धों और संन्यासियों की टोलियाँ जंगल में साधना करती-करती शून्य में समा गईं लेकिन ब्रह्म ज्यों का त्यों रहा, राम का पता नहीं मिला। कबीर ने निर्गुण 'राम' का चिंतन किया और उन्हें उसके तत्त्व का एक आभास मिला। लोग पूछते हैं 'तुम्हारा निर्गुण 'राम' कैसा है, बतलाओ?' कबीर आजीज होकर कहते हैं कि उसकी रूपरेखा हो तब तो कुछ कहा जाय और किसी ने उसे जाकर देखा हो तब तो वह कहने की कुछ चेष्टा भी करे! जिसका न आदि, न अन्त; न आकार; न प्रकार, उसके खान्दान का पता कौन बताये?

नहिं तारागन नहि रविचंदा। नहिं कछु होत पिता के बिंदा॥
नहिं जल नहिं थल नहि थिर पवना। को धर नाम हुकुम को बरना॥
नहिं कछु होत दिवस अरु राती। ताकर कहहुँ कौन कुल जाती॥

शून्य सहज मन सुरति ते प्रगट भई एक ज्योति।
बलिहारी ता पुरुख छवि निरालंब जो होति॥

कबीर ने ऐसे सूक्ष्म तत्त्व को सदा उपनिषद् की शैली में (न यह न वह) अभिव्यक्त किया है। इस ढंग से कहते-कहते कबीर थक जाते हैं आखिर 'सैना बैना' से कबतक उसे समझाया जा सकेगा। जिसके बारे में कुछ भी पता नहीं है उसका विवेचन कैसे संभव है? यदि कुछ कहने की चेष्टा भी की जाय तो वह ऐसी वाणी में कही जायगी जिसे सिर्फ कहनेवाला ही समझ सकता है, क्योंकि ब्रह्म संबन्धी अनुभूति तो साधक को होती ही है, गंभीर या छिछली, पर उस अनुभूति के प्रकटीकरण का माध्यम बड़ा कमजोर है इसीलिए साधक की बातें अटपटी मालूम पड़ती हैं, पागल के प्रलाप की तरह या उससे भी कड़ी ऊबानेवाली पचपची बातें। जो कुछ वह कहेगा उसका कोई खास मतलब हृदयंगम नहीं होगा! याज्ञवल्क्य की ब्रह्म-संबन्धी इस उक्ति को देखिए—'वह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न बड़ा है, न लाल है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न रस है, न गंध है, न नेत्र है, न कान है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है, उसमें न भीतर है, न बाहर, वह कुछ भी नहीं खाता है, उसे कोई भी नहीं खाता।'[१] यहाँ इतना तो कुछ-कुछ पता चला कि वह 'यह नहीं है', लेकिन 'वह क्या है?' इसका तो उत्तर यहाँ नहीं मिला—और शायद नहीं मिल सकेगा! ज्ञानबीन की भी एक सीमा होती है। सीमा में रहनेवाली सभी चीजें ससीम पदार्थों द्वारा देखी सुनी समझी जा सकती हैं। घेरे से बाहर की चीजों पर हम लालायित होकर देखते रह

१ बृहदारण्यक ३।८।८

ा सकता। कबीर का ब्रह्म कहाँ-कहाँ से विवर्जित है इसका दर्शन कीजिए और ध्यान में रखिए कि प्रत्येक मोड़ पर रुककर कबीर यह सोचते जाते हैं कि कहीं उनका 'राम' दाशरथी तो नहीं बन रहा है—ऐसा न हो कि वह सर्वलोकविवर्जित न बन सके ?

वेदविवर्जित भेद विवर्जित विवर्जित पाप रु पुन्यं।
ग्यान विवर्जित ध्यान विवर्जित विवर्जित आस्थूल सुन्यं॥
भेष विवर्जित भीख विवर्जित विवर्जित उचँभक रूपं।
कह कबीर तिहुँ लोक विवर्जित ऐसा तत्त अनूपं॥

ऐसे अनूप तत्त्व को साफ-साफ समझाने में कबीर सर्वथा हैरा हैं। 'राम' कहने से लोग सीतापति का स्मरण करने लगते हैं—क किस तरह बतलावें कि उनका राम स्थूल संसारी नहीं जो दीख पड़ता है वह तो वह है नहीं और जो वह है उसे कहना मुश्किल है फिर क्या किया जाय ?—'जो दीसै तो है नाहीं, है सो कहा न जाई।' अच्छा यह होगा कि इस सूक्ष्मतम रूप के साथ-साथ हम सर्वव्यापी रूप को भी र निरीन्द्रिय भगवान अगोचर और अगम होते हुए भी सर्वव्य जिस ब्रह्म की सूक्ष्मता इतनी अधिक है कि उसके संबन्ध में कुछ से ही तत्त्व नष्ट होने का डर (बोलत ही सब तत्त नसाई सर्वत्र देखकर कुछ आत्मसंतोष हो जाता है। उपनिषद 'ईशावास्यमिदं सर्वं' का सहारा लिया है और परमात्मा में आश्रय पाते हैं अथवा सभी में परमात्मा विद्यमान है—की अंगीकार कर निर्गुण ब्रह्म को सर्वत्र बिखेरकर देखने

हैं; परंतु वे गहनता से डालकर उसे भेदकरों में विभक्त कर, संश्लेष-ण कर समझने की चेष्टा की है। पिप्पलाद ऋषि ने ब्रह्म की व्याप्ति के संबंध में विचार करते हुए काफी गंभीर होकर कहा है कि परमेश्वर (अक्षर ब्रह्म) में संसार की सारी वस्तुएं समाहित है—'पृथ्वी और उसका सूक्ष्म गंध भी, जल और रस की मात्रा भी, तेज और रूप भी, वायु और स्पर्श भी, नभ, आकाश और शब्द भी, नेत्र-इन्द्रिय और देखने में आनेवाली वस्तु भी, श्रोत्र इन्द्रिय और सुनने में आनेवाली वस्तु भी, घ्राणेन्द्रिय और सूँघने में आनेवाली वस्तु भी, रसनाइन्द्रिय और रसना के विषय भी, वाक्-इन्द्रिय और बोलने में आनेवाला शब्द भी, दोनों हाथ और पकड़ में आनेवाली वस्तु भी, उपस्थ-इन्द्रिय और उसका विषय भी, गुदा-इन्द्रिय और उसके द्वारा परित्याग योग्य वस्तु भी, दोनों चरण और अन्तव्य स्थान भी, मन और मनन में आनेवाली वस्तु भी, बुद्धि और जानने में आनेवाली वस्तु भी, अहंकार और उसका विषय भी, चित्त और चिंतन में आनेवाली वस्तु भी, प्रभाव और उसका विषय भी, प्राण और प्राण के द्वारा धारण किये जानेवाले पदार्थ भी।'[1] तात्पर्य यह कि सारा विश्व ब्रह्म में समाहित है और ब्रह्म विश्व में। इसी तथ्य को कबीर ने 'सारा खल्क ही खालिक है और, खालिक ही सारा खल्क है—दोनों में कोई फर्क नहीं, पार्थक्य नहीं'—कहकर स्पष्ट किया है। परमात्मा इस प्रकार सब 'घट' में व्याप्त है—ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्। कठोपनिषद् में उसकी सर्वरूपता[2] और सर्वोपलब्धि

१ प्रश्नोपनिषद् ४।८

२ कठोपनिषद् २।२।९

आतम में परमातम दरसै परमातम में झाँई।
झाँई में परिछाहीं दरसै लखै कबीरा साँई।

यह ब्रह्म सृष्टि में भी है और उसके बाहर भी। जल से भरा हुआ घडा यदि जल में रखा जाय तो पानी दोनों ओर रहता है, भीतर भी बाहर भी। कबीर का 'राम' कोटि ब्रह्माण्ड में व्याप्त है और उसके बाहर भी यदि कुछ शून्य है तो वह उस शून्य में भी समाविष्ट है।[1] हाँ, यदि कोई उसका नाम पूछे तो कबीर चुप्पी लगा लेते हैं—अजी, नाम कहने में धोखा खाने का डर है, अतः बस 'समुझि मनहिं मन रहिए' बोलने से क्या फायदा ? —'उनको नाम कहन को नाहीं दूजा धोखा होई।' इस ब्रह्म-जीव समष्टि की भावना को कबीर ने काफी स्थलों पर जोरदार शब्दों में प्रतिपादित करने की चेष्टा की है। दरियाव और लहर के प्रसिद्ध रूपक में वे जगत, जीव और ब्रह्म की एकता[2] एवं तादात्म्य पर काफी सुलझी हुई दलील पेश करते हैं—

दरिआव की लहर दरिआव है जी दरिआव और लहर भिन्न कोयम्।
उठे तो नीर है बैठता नीर है कहो किस तरह दूसरा होयम्॥

---

१ यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥
श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।९

२ ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥
श्वेताश्वतर १।९

इसी नाम को फेर के लहर धरो लहर के फेर क्या नीर खोयम्।
जाको ही फेर जब जाना है ब्रह्म में ज्ञान करि देख कबीर गोयम्॥

कबीर का राम 'घट घट में रमता' है, वह सबके 'तन में, मन में, नैन में' निवास करता है, उसे 'सब सांसों की सांस में', अनुभव किया जा सकता है। उसे देखकर समझने की चेष्टा करना मूर्खता है। बात से समझाने का प्रयत्न हास्यास्पद है।—'दिष्टि न मुष्टि न परगट अगोचर, बातन कहा न जाई।' इसका मुख्य कारण यह है कि कबीर का कर्त्ता वही नहीं है जिसे हम-आप समझते हैं—

दस औतार निरंजन कहिए सो अपना ना होइ।
यह तो अपनी करनी भोगैं कर्ता औरहि कोइ॥

वैसे कबीर उस ब्रह्म का निर्देश करने में डरते हैं, कहीं उसकी स्थूलता न व्यंजित हो जाय! पर मस्ती के क्षणों में अपने 'साहब' की चामत्कारिक स्थिति को वे नहीं भूल पाते और उनके अंतर की वाणी फूट पड़ती है। उनका हरि वहाँ रहता है जहाँ निरंतर वसंत छाया रहता है, अनहद की झंकार से दिशाएँ मुखरित होती रहती हैं, ज्योति की धारा से दिकमंडल डूबता रहता है। वहाँ करोड़ों कृष्ण हाथ जोड़े खड़े रहते हैं, करोड़ों विष्णु दंडवत् करते रहते हैं, करोड़ों महेश ध्यान लगाकर रहते हैं। वहाँ करोड़ों सरस्वती और इन्द्र, अगणित मुनि, गन्धर्व और देव वंदना में निरत हैं—यहीं कबीर के 'साहब' की क्षीण झलक मिलती है। उस स्थल की सूक्ष्मता का दर्शन कीजिए—

गगन गरजै तहाँ सदा पावस झरै होत झनकार नित बजत तूरा।
गगन के भवन में गैव का चाँदना उदय और अस्त का नाँव नाहीं।
दिवस और रैन तँह नेक नहि पाइए प्रेम परगास के सिंध माहीं॥
सदा अनंद दुख दंद व्यापै नहिं पूरनानंद भरपूर देखा।
भर्म और भ्रांति तँह नेक नहिं पाइए कहैं कबीर रस एक पेखा।
खेल ब्रह्मांड का पिंड में देखिया जगत की भरमना दूर भागी।
वहरा भीतरा एक आकासवत धरिया में अधर भरपूर लागी॥

यहाँ की झाँकी पाकर कबीर इस अक्षय, अलक्ष्य पुरुष की वंदना में तन्मय हो जाते हैं—हे निर्गुण, निर्जाप! तुम्हारा आदि, मध्य और अंत नहीं है; तुम में न अंधकार है, न प्रकाश; तुम भूमि, पवन और आकाश से निर्लिप्त हो; तुम्हारा निवास न अग्नि में है, न जल और मरुत में; तुम्हारे पास न पाप-पुण्य है, न वेद-पुराण, न कतेब-कुरान। तुम्हारे गुण विचित्र हैं, न तुम कुछ खाते-पीते हो, न मरते-जीते हो; न तुम्हारा कुछ रूप-रेख है, न वर्ण-वेश; जाति-गोत्र, शून्य, रूप-अरूप से रहित, बिना नाम-गाँव के तुम निर्विकार स्थित में रहते हो[1] 'निराकार और निर्गुना हैं पूरन सब ठाँव'। कबीर कहते हैं—

---

१ करता कछु खावै नहि पीवै। करता कबहूँ मरै न जीवै॥
करता के कछु रूप न रेखा। करता के कछु वरन न भेखा॥
जाके जाग गोत कछु नाहीं। महिमा वरनि न जाय मो पाहीं॥
रूप अरूप नहि तेहिं नाँव। वर्ण अवर्ण नहिं तेहि ठाँव॥

कबीर, पृ० २६२

साधो, यह घर सबसे न्यारा जँह पूरन पुरुष हमारा।
नहिं दिन रैन चन्द नहिं सूरज बिना ज्योति उँजियारा॥
घर नहिं अधर न बाहर भीतर पिंड-ब्रह्मंड कछु नाहीं।
पाँच तत्व गुन तीन नहीं तँह साखी शब्द न ताहीं॥
मूल न फूल बेल नहिं बीजा बिना वृच्छ फल सोहैं।
ओहं-सोहं अरध-उरध नहिं स्वासा लेखन को हैं॥
नहिं निरगुन नहिं सरगुन भाई नहिं सूक्ष्म अस्थूल।
नहिं अच्छर नहिं अविगत भाई ये सब जग के मूल॥
जहाँ पुरुष तहवाँ कछु नाहीं कह कबीर हम जाना।
हमरो सैन लखै जो कोई पावै पद निरबाना॥

हमने देखा है कि तुलसी के राम में काफी शक्तियाँ हैं। वह धनुर्धारी होने के नाते राक्षसों का संहार करता है, मुनियों को त्राण दे सकता है, सुग्रीव की रक्षा कर सकता है, विभीषण को राज्य दे सकता है, अहल्या, शबरी एवं जटायु को मोक्ष प्रदान कर सकता है। प्रश्न होता है, क्या कबीर का 'राम' भी यह सब कर सकता है? क्या उसमें भी कुछ करने की शक्ति है? यह स्पष्ट है कि कबीर के राम की सीमाएँ खुली हुई हैं; अतः वह किसी व्यक्ति शबरी या व्यक्ति अहल्या, सुग्रीव, जटायु का उद्धार नहीं कर सकता—इन ससीम जीवों के साथ निपटना सीमाबद्ध ब्रह्म का ही काम है। असीम ब्रह्म की असीम शक्तियाँ विश्व ही नहीं, ब्रह्माण्ड को अपने भीतर समाहित रखती हैं। अतएव वहाँ व्यक्ति गौण हो जाता है। कबीर के सामने राम का विराट् रूप दृष्टिगोचर होता है। उनके राम की महत्ता एवं

गरिमा तुलसी के राम से तनिक भी कम नहीं है। कोटि चन्द्र उसके यहाँ दीप जलाते हैं, तैंतिस करोड़ देवता उसके बावर्ची हैं, कोटि नवग्रह उसके दरबान हैं, कोटि धर्म उसके नौकर हैं, कोटि पवन उसके दरबार में झाड़ू देते हैं, करोड़ों कुवेर उसके भण्डारी हैं, कोटि लक्ष्मी उसका शृंगार करती हैं, और कोटि इन्द्र उसके दास हैं[1]—ऐसा है वह कबीर का विराट् 'राम'। सूरदास के 'हरिराई' में यह शक्ति है कि वह अपनी कृपादृष्टि से अंधे को आँखें, बहिरे को कान और मूक को कंठ दे देता है। तुलसी का राम भी इसी तरह की अलौकिक क्रियाएँ करता रहता है। कबीर का अलख 'राम', अगम अगोचर, निर्विकार 'राम' इस क्षेत्र में पीछे क्यों रहेगा—वह

१ इस सिलसिले में उपनिषद् का 'ब्रह्म' कबीर के 'राम' अभिन्न दिखलाई पड़ता है। उपनिषदों ने 'अनेक सिरवाले, अनेक और पैर वाले' जिस ब्रह्म की चर्चा मिलती है वह वही है जो के यहाँ 'साहब' नाम से पुकारा गया है। श्वेताश्वतर में ब्रह सब जगह आँखवाला, सब जगह मुखवाला, सब जगह ह वाला, आकाश और पृथ्वी की सृष्टि करनेवाला आदि व उसके विराट् रूप की चर्चा की गई है। यह विराट् ब्र का 'राम' ही है।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस
सं बाहुभ्याम् धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव ए

श्वेत

और-और भी वहुत-सी बातें कर सकता है जो तुलसी के राम को मयस्सर नहीं। देखिए, उनका राम कितना शक्तिशाली है—

रंक निवाज करै वह राजा भूपति करै भिखारी ॥
ये ते लवंगहि फल नहि लागै चंदन फूल न फूलै।
मच्छ शिकारी रमै जंगल में सिंह समुद्रहि झूलै ॥
रेंडा रूख भया मलयागिर चहुँ दिसि फूटी वासा।
तीन लोक ब्रह्माण्ड खंड में देखे अंध तमासा ॥
पंगुल मेरु सुमेरु उलंघै त्रिभुवन मुक्ता डोलै ॥
गूँगा ज्ञान विज्ञान प्रकासै अनहद वाणी बोलै ॥
बाँधि अकाश पताल पठावै सेस स्वरग पर राजै।
कहै कबीर राम है राजा जो कछु करै सो छाजै ॥

तुलसी का 'अवध नृपति सुत' सगुण रूप में अवतरित होकर भी विना पैर का चल सकता है, विना कान का सुन सकता है, विना मुख के सभी रसों का भोग कर सकता है आदि। कबीर का 'राम' तो निर्गुण है हीं, वह यदि यह सब करता नहीं हो, तभी आश्चर्य है। सच पूछिए तो तुलसी के राम के व्यक्तित्व के साथ यह निराकार रूप मेल नहीं खाता। अपने 'रघुकुलमनि' को सदा जगत के राग-विराग से शून्य दिखलाने के लिए तुलसी को ब्रह्म के मूल निर्गुण व्यक्तित्व का परिचय जगह-जगह देना जरूरी था। यही कारण है कि 'बिनु पद चलै सुनै विनु काना' आदि पंक्तियाँ उन्हें अपने राम के बारे में लिखनी पड़ीं। कौन ज़ाने इस प्रसंग को लिखते समय उनके मन में कबीर की ये पंक्तियाँ न गरज उठी हों !!

बिन पग चलना बिन पर उड़ना बिना चोंच का चुगना।
बिना नैन का देखन-पेखन बिन स्रवन का सुनना॥
चंद न सूर दिवस नहिं रजनी तहाँ सुरत लौ लाई।
बिना अन्न अमृत रस भोजन बिन जल तृषा बुझाई॥

तो, ऐसे ही ब्रह्म के जिम्मे कबीर ने अपने को सौंप दिया है। वह यदि रखे तो उसकी इच्छा, मारे तो उसकी मर्जी। जहाँ वह नचाए, कबीर नाचने के लिए तैयार हैं।[1] यदि वह खबर नहीं ले तो कबीर की नैया डूबी ही समझिए।[2] संसार-सागर में कबीर के मन-पंछी को एक राम-पोत का ही आश्रय है—वह यमदूतों से भयभीत है अतः राम की शरण आया है—'हूत भैभीत डरौं जमदूतनि आयें सरना तुम्हारी।' यहाँ वह निश्चिन्त हो जाता है—देखा जायगा, रक्षक तो है ही, परवाह' किसकी? वह जो तीनों लोक, समग्र ब्रह्माण्ड का पालन करनेवाला है, क्या एक व्यक्ति को ठुकरा देगा? इसी भावना से कबीर को एक मस्ती मिली है और वे भवसागर में डूबने का भय छोड़कर टाँग फैलाकर सो जाते हैं—

कबीर क्या मैं चितहूँ मत चितै क्या होय।
मेरी चिंता हरि करै चिंता मोहि न कोय॥

---

1. कबीरा कूकर राम का मोतिया मेरा नाँव।
गले हमारे जेवरी जँह खींचें तहँ जाँव॥
2. सुरति करौ मेरे साँइयाँ हम हैं भवजल माहिं।
आपे ही बहि जायंगे जो नहि पकरौ बाहिं॥

अंडा पालै काछुई बिन थन राखै पोख।
यों करता सबकी करै पालै तीनउ लोक॥

राम निरमोही ने उनके मन को छीन लिया है—उससे कबीर का अनुरोध है कि वह उन्हें अपना बना ले, हृदय में भक्ति और प्रेम की लौ लगा दे।[1] कबीर का साँईं अपने साधक की आस पूरी करे या न करे, निष्काम भाव से अपने को अर्पित करनेवाला कबीर समझता है कि उसके हरि ने उसे बिना दिये ही बहुत कुछ दे दिया है। 'अहद अगाह' 'भवसागर की नदी अगम' में जहाँ 'बिरले उतरे पारा हो' वहाँ यदि कबीर को दूर के तट से झिलमिल प्रकाश दिखलाई पड़ जाता है तो वही क्या कम है ?

हरि ने अपना आप दिखाया, हरि ने नफीज कर दिखराया।
हरि ने मुझे कठिन बिच घेरी, हरि ने दुविधा काटी मेरी।
हरि ने सुख-दुख बतलाये, हरि ने सब दुंद मिटाये।
ऐसे हरि पै तन-मन वारूँ प्राणहिं तजूँ हरि नहिं बिसारूँ।

कबीर तो ज्ञानी थे अतः 'राम' के निर्गुण-रूप की परिछाहीं मिलने में उन्हें विशेष कष्ट नहीं होता। लेकिन यह बात ज्ञानियों तक ही सीमित रह सकती है—संसार का साधारण मानव जिसे ज्ञान के क ख ग से मतलब नहीं शायद कबीर के 'राम' की ओर थोड़ा भी आकर्षित

---

१. अब हरि हूँ अपनो करि लीनौं प्रेम भगति मेरो मन भीनो।
जरै शरीर अंग नहीं मोरौं, प्रान जाइ तौ नेह न तोरौं।
च्यंतामणि क्यों पाइए ठोली मन के राम लियो निरमोही।

ीं हो सकता ! तुलसी ने अपने राम ... बने की छूट भी का दे रखी थी और यही कारण है उनके 'दसरथ-सुत' का घर-घर में पहुँचने के प्रयत्न में परेशान नहीं होना पड़ा। कबीर ने इस बात को सोचा अवश्य कि वे अपने अलख 'राम' को सबके दरवाजे तक उस तरह नहीं पहुँचा सकते जिस तरह विद्यापति और जयदेव ने पहुँचा दिया था; लेकिन किसी भी क्षेत्र में हार नहीं माननेवाली उनकी बुद्धि ने यहाँ भी उन्हें रास्ता निकालने के लिए उकसाया। कबीर ने सोचा कि प्रथमतः लोग निर्गुण ब्रह्म की उपासना धड़ल्ले से शुरू नहीं कर सकते, लेकिन 'राम' तो कहीं गया नहीं है—'राम' का चिंतन न सही उसका नाम-जप तो सभी कर सकते हैं !! रामनाम का जप यदि एकाग्र चित्त होकर किया जाय तो फिर बचता क्या है ?—हाँ, यह सदा ध्यान में रखना होगा कि 'राम' उच्चारण के पीछे कहीं किसी स्थूल मूर्ति की आभा नहीं आ रही हो, बस।

यहाँ यह निर्देश करना आवश्यक है कि जहाँ भी कबीर ने राम-नाम जपने का उपदेश दिया है वहाँ 'साधो' 'सन्तों' आदि संबोधनों के स्थान पर आपको सर्वदा 'भाई' संबोधन मिलेगा—कबीर के विद्यार्थि... को पता है कि 'भाई' से वे साधारण सांसारिक प्राणी का बोध क... हैं जिसे कर्मचक्र में इतनी आसक्ति है कि ज्ञान की बातें सो... समझने का तनिक अवकाश नहीं मिलता। ऐसे असंस्कृत लो... लिए नाम-जप का नुस्खा बताकर कबीर ने अपने राम को लोक... होने से बचा लिया है। वे बार-बार कहते हैं कि अविगति ... ... नहीं जा सकती अतः हे भाई ! निर्गुण राम का ज...

उसे न तो कोई देवता समझ सका न मुनि-किन्नर-गन्धर्व जान सके। अतः सिर्फ एक उपाय है उसके पास पहुँचने का—'सब तज हरि भज।' इस निर्गुण राम के जप से सारी लुप्त चेतना लौट आती है। विष (सांसारिक विषया) के फेरे में रे अभागे, तुम राम न भजकर किस लालच के जाल में पड़ गया है? अरे बाबा, बार-बार कहता हूँ राम रस के मधुप सहज ही तर जाते हैं। एक बार सिर्फ एक बार निर्गुण 'राम' का जप करने से 'फिर कहिबे को कछु न रह्यो रे।' यह सब इस लिए कि कबीर का राम-नाम कोई साधारण सस्ती चीज नहीं है—ब्रह्मा और सनकादि भी जिसका पार नहीं पा सकते उसका नाम 'राम' है। इस 'राम' के नाम का जिसने स्मरण नहीं किया उसके लाख जप, योग, यज्ञ और दान से क्या लाभ? राम 'नाम' की महत्ता बतलाने में कबीर नहीं थकते, नहीं ऊबते।

राम का नाम संसार में सार है राम का नाम अमृत बानी।
राम के नाम ते कोटि पातक हरै राम का नाम विश्वास मानी॥
राम का नाम चौवेद का मूल है निगम निचोर करतत्व छानी।
राम का नाम षट् सास्तर मथिए चली षटदरसनों में कहानी॥
है परम जोति औ गुन निराकार है तासु को नाम निरंकार मानी।
रूप बिन रेख बिन निगम स्तुति करें सत्त की राह अनकथ कहानी॥

बहुत कुछ कहने के बाद भी कबीरदास को बार-बार ऐसा लगता है जैसे वे 'राम' के निर्गुणत्व को ठीक-ठीक व्यक्त नहीं कर रहे हों। वे अपने 'राम' को इतना सूक्ष्म मानते हैं कि उससे सूक्ष्म और कुछ चीज हो ही नहीं सकती—एकमात्र उसी तथ्य को समझाने के लिए

उन्होंने सैकड़ों प्रवचन दिए होंगे। लोगों के मन में 'राम' के प्रति इतनी जबरदस्त स्थूल-भावना जमकर बैठ गई थी कि उसके स्थान पर निर्गुण 'राम' को प्रतिष्ठा करने के लिए सचमुच काफी साहस और तीव्रता की आवश्यकता थी। उनके मन में बराबर 'राम राम सब कोई कहै नाम न चीन्है कोई' को शंका रहती थी और यही कारण है कि कबीर साहित्य में 'किरतिम सरगुन सकल पसारा किरतिम कहिए दस औतारा' तथा 'करता एक अगम है आप वाके कोई माय न बाप' आदि भावनाओं का लच्छेदार पंक्तियों में स्पष्टीकरण मिलता है। कबीर का राम इतना सूक्ष्म है कि उसके पास न आँख की पहुँच है, न वाणी की, न मन की।[१] वह शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, रसरहित और गन्धरहित है। वह अविनाशी नित्य, अनादि और अनन्त महत्तत्व से परे का तत्व है जो किसी तरह भी पकड़ में नहीं आ सकता।[२] वह महान दिव्य और अचिन्त्यस्वरूप है—सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म, दूर से भी अति दूर, समीप से भी अति समीप। उसी में समस्त लोक स्थित हैं—वही अविनाशी ब्रह्म प्राण है, वाणी है, मन है।[३] वह सिर्फ एक है, दूसरा कहने से कबीरदास को धोखे में पड़ जाने का डर मालूम पड़ने लगता है।[४] वह 'एक' भी इतना 'झीना' है

---

१ तुलना के लिए देखिए कठोपनिषद् २।३।१२, केनोपनिषद् ।२ तथा मुण्डकोपनिषद् ३।१।८

२ कठोपनिषद् १।३।१५

३ मुण्डकोपनिषद् ३।१।७ और २।२।२

४ एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।

कि उसका साक्षात् वर्णन करने में कबीर असमर्थ हैं। उपनिषदों की लटपट वाणी में यदि वे काफी कोशिश करने के पश्चात् कुछ कह सकते हैं तो केवल इतना ही कि वह न स्थूल है, न अणु है; न क्षुद्र है, न विशाल है; न वायु है, न आकाश है, उसमें न अंतर है, न बाहर है आदि। इस तत्व को तो सिर्फ समझा जा सकता है, समझाया नहीं जा सकता—'कह कबीर गूँगे गुड़ खाया पूछै सों का कहिए।' गूँगा बहुत करेगा तो गाँय-गूँय करके इशारे से कुछ समझाने का प्रयत्न करेगा लेकिन उसे क्या जो भी चाहे समझ सकेगा? कबीर का कहना है कि ब्रह्म सम्बन्धी इस मूक अभिव्यक्ति को समझने के लिए मूक ही बनना पड़ेगा। जिसके हृदय में निर्गुण 'राम' ने अपना मिठास नहीं भर दिया है वह मिठास से आप्लावित दिल के उफान को बर्दाश्त नहीं कर सकेगा। यह ऐसा स्वाद है जिसे मुख और वाणी से नहीं कहा जा सकता, हर्गिज नहीं; जो उस स्वाद का मजा पायेगा वह मनहि मन प्रसन्न होकर उछलता रहेगा—उसे मौन रहने का अभिशाप है। उस अलौकिक अनुभूति को व्यक्त करने के सारे माध्यम जड़वत् हो जाते हैं, वह गूँगा हो जाता है और मजा यह कि उसकी भाषा सिर्फ गूँगे ही समझ सकते हैं—

मुक्ख वानी तिको स्वाद कैसे कहै
स्वाद पावै सोइ सुक्ख मानै।
कहै कबीर या सैन गूँगातई
होय गूँगा सोई सैन जानै॥

यह ब्रह्म घट-घट व्यापी है, यही खैरियत है अन्यथा इसका

चैतन अति दुर्लभ था। समस्त विश्व में इसका विस्तार देखकर साधक अपने 'राम' को अपने पास ही देखने का अभ्यासी हो जाता है—वह समझने लगता है कि सर्वत्र व्याप्त रहने के कारण राम उसके सुख-दुख में साथ ही रहता है। कबीर ने जगत के जीवों को कस्तूरी मृग के दृष्टान्त द्वारा सदा बहलाने की चेष्टा की है कि ब्रह्म कहीं दूर नहीं है, वह पास में ही है। यह 'राम' सारे कष्टों को दूर करनेवाला है, समग्र ग्रंथियों को काटनेवाला है। कबीर ललकारते हैं, अरे संसारी, दौड़ो इस अविचल-अखंडित 'राम' के पैर पकड़ लो, बेड़ा पार हो जायगा !

राम सरूप अखंडित अविचल निर्भय वे परवाई।
कहै कबीर ताहि पग परसो घट-घट सब सुखदाई॥

—इस 'राम' के बिना मनुष्य की गति रास्ते में पड़े गोबर की ढेर की तरह है। पीछे तो पछताना ही पड़ेगा, अच्छा है, अभी चेत जाओ नहीं तो अरे मूरख, जब इस घर से उस घर में जावोगे तो कोई चारा नहीं रह जायगा—अभी से सम्हल जा, चेत जा। बालू के घर में बैठे हुए अज्ञानी को परिस्थिति की भयंकरता का ज्ञान नहीं होता। कबीर कहते हैं कि यह दशा सिर्फ अज्ञानियों की ही नहीं है, राम से विमुख अनेक चतुर भी यूँ ही नष्ट हो जाते हैं 'कह कबीर एक राम भजे बिन बूड़े बहुत सयाना।' इसीलिए लोगों से तत्त्वज्ञानी का बार बार आग्रह है 'नाम सुमिर, पछतायगा।'

कबीर हैरान हैं कि 'राम' के 'निरगुन और सरगुन' रूप के लिए लोग व्यर्थ में सिरफुटौवल करते हैं और परमतत्त्व की छी

करते हैं। ब्रह्म यदि सगुण हुआ तो क्या और निरगुन हुआ तो क्या—सिर्फ विधिनिषेध से तो वह अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता! वेद का कहना है कि परमात्मा का विश्रामस्थल 'सरगुन' के आगे 'निरगुन' की भूमि में है। कबीर इसे गलत मानते हैं। न तो वह 'सरगुन' में है न 'निरगुन' में—वह इन दोनों के परे रहता है, सर्वथा अलक्ष निर्विकार।

कोई ध्यावै निराकार को कोई ध्यावै साकारा।
वह तो इन दोऊ ते न्यारा जानै जाननहारा॥

इस ब्रह्म ने अपना निवास कण-कण में बना लिया है—'रोम-रोम में परगट कर्ता काहे भरम भुलाना' 'निरगुन सरगुन के परे' रहनेवाला ब्रह्म सहज ही में 'घट' में खोजने से मिल सकता है। उसकी चेष्टाएँ इतनी अद्‌भुत हैं कि उन्हें छिपाकर रखने में ही कल्याण है, क्योंकि जो भी सुनेगा वह तो उन बातों पर विश्वास करेगा नहीं, फिर कहने से क्या लाभ? निर्गुण 'साँई' से दिल लगाकर कबीर कभी पश्चात्ताप नहीं करते। यह जानते हुए कि है जन्मजन्मान्तर तक अन्वेषण करते-करते भी उससे भेंट होने की आशा नहीं है, वे थकते नहीं। 'हद' को छोड़कर वे 'बेहद' के देश में भटक रहे हैं—कौन जाने उनका 'राम' उन्हें मिलेगा या नहीं? लेकिन 'बेहद' की शून्य पगडंडी पर उन्हें एक ऐसा महल जरूर मिल गया है जहाँ सिर्फ वे ही अबतक पहुँच पाये हैं।—यह संतोष क्या कम है? जिस महल तक पहुँचने के लिए कोटि मुनि-तापस गल-पच गए वहाँ कबीर आज विश्राम कर रहे हैं—'राम' की असीम कृपा

चिंतन अति दुर्लभ था। समस्त विश्व में इसका विस्तार देखकर साधक अपने 'राम' को अपने पास ही देखने का अभ्यासी हो जाता है—वह समझने लगता है कि सर्वत्र व्याप्त रहने के कारण राम उसके सुख-दुख में साथ ही रहता है। कबीर ने जगत के जीवों को कस्तूरी मृग के दृष्टान्त द्वारा सदा बहलाने की चेष्टा की है कि ब्रह्म कहीं दूर नहीं है, वह पास में ही है। यह 'राम' सारे कष्टों को दूर करनेवाला है, समग्र ग्रंथियों को काटनेवाला है। कबीर ललकारते हैं, अरे संसारी, दौड़ो इस अविचल-अखंडित 'राम' के पैर पकड़ लो, बेड़ा पार हो जायगा!

राग सरूप अखंडित अविचल निर्भय वे परवाई।
कहै कबीर ताहि पग परसो घट-घट सब सुखदाई॥

—इस 'राम' के बिना मनुष्य की गति रास्ते में पड़े गोबर की ढेर की तरह है। पीछे तो पछताना ही पड़ेगा, अच्छा है, अभी चेत जाओ नहीं तो अरे मूरख, जब इस घर से उस घर में जावोगे तो कोई चारा नहीं रह जायगा—अभी से सम्हल जा, चेत जा। बालू के घर में बैठे हुए अज्ञानी को परिस्थिति की भयंकरता का ज्ञान नहीं होता। कबीर कहते हैं कि यह दशा सिर्फ अज्ञानियों की ही नहीं है, राम से विमुख अनेक चतुर भी यूँ ही नष्ट हो जाते हैं 'कह कबीर एक राम भजे बिन बूड़े बहुत सयाना।' इसीलिए लोगों से तत्वज्ञानी का बार-बार आग्रह है 'नाम सुमिर, पछतायगा।'

कबीर कहते हैं कि 'राम' के 'निरगुन और सरगुन' रूप के पीछे लोग व्यर्थ में सिरफुटौवल करते हैं और परमतत्त्व की छीछालेदर

करते हैं। अब यदि सगुण हुआ तो क्या और निरगुन हुआ तो क्या— सिर्फ विधिनिषेध से तो वह अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता! वेद का कहना है कि परमात्मा का विश्रामस्थल 'सरगुन' के आगे 'निरगुन' की भूमि में है। कबीर इसे गलत मानते हैं। न तो वह 'सरगुन' में है न 'निरगुन' में—वह इन दोनों के परे रहता है, सर्वथा अलक्ष निर्विकार।

कोई ध्यावै निराकार को कोई ध्यावै साकारा।
वह तो इन दोऊ ते न्यारा जानै जाननहारा॥

इस ब्रह्म ने अपना निवास कण-कण में बना लिया है—'रोम-रोम में परगट कर्ता काहे भरम भुलाना' 'निरगुन सरगुन के परे' रहनेवाला ब्रह्म सहज ही में 'घट' में खोजने से मिल सकता है। उसकी चेष्टाएँ इतनी अद्भुत हैं कि उन्हें छिपाकर रखने में ही कल्याण है, क्योंकि जो भी सुनेगा वह तो उन बातों पर विश्वास करेगा नहीं, फिर कहने से क्या लाभ? निर्गुण 'साँई' से दिल लगाकर कबीर कभी पश्चात्ताप नहीं करते। यह जानते हुए कि है जन्मजन्मान्तर तक अन्वेषण करते-करते भी उससे भेंट होने की आशा नहीं है, वे थकते नहीं। 'हद' को छोड़कर वे 'बेहद' के देश में भटक रहे हैं—कौन जाने उनका 'राम' उन्हें मिलेगा या नहीं? लेकिन 'बेहद' की शून्य पगडंडी पर उन्हें एक ऐसा महल जरूर मिल गया है जहाँ सिर्फ वे ही अबतक पहुँच पाये हैं।—यह संतोष क्या कम है? जिस महल तक पहुँचने के लिए कोटि मुनि-तापस गल-पच गए, वहाँ कबीर आज विश्राम कर रहे हैं—'राम' की असीम कृपा

की चाँदनी में।[1] यह चाँदनी इतनी मादक है कि कबीर सुध-बुध खो देते हैं। उन्हें अब कुछ नहीं कहना है। मस्ती का जाम रंग ला रहा है, पलकें झप रही हैं, ओठ हिल-हिलकर मौन हो जाते हैं। उनका व्यक्तित्व लोप हो गया है—'मैं' चला गया है सिर्फ 'तू' शेष है! कबीर 'राम' बन गया है—समुद्र में मिलकर लहर का अस्तित्व गायब हो गया है। इस शून्य प्रदेश में जो कुछ भी है सिर्फ 'तू' है। कबीर 'अब कछु कहा न जाय' कहकर लुढ़क जाते हैं—'राम' की छाँह में।

कहना था सो कह दिया, अब कछु कहा न जाय।
एक रहा दूजा गया, दरिया लहर समाय॥

---

1 हद छाड़ि बेहद गया किया सुन्न असनान।
मुनिजन महल न पावई तहाँ किया बिसराम॥

प्रमुख संतों के दार्शनिक सिद्धान्त

(क) दादू

आशिकाँ मस्ताने आलम खुरदनी दीदार।
चंद दिह चे कार दादू यारे मा दिलदार॥

दादूदयाल का जन्म फाल्गुन शुक्ल अष्टमी बृहस्पतिवार संवत् १६०१ (सन् १५४४) में अहमदाबाद में नागर ब्राह्मण के घर होना दादूपंथी मानते हैं। लेकिन 'दादू की बानी' पढ़ने से तथा अन्य भी कई साधनों से यह सिद्ध होता है कि वे जाति के मुसलमान धुनिया थे। पंडित सुधाकर द्विवेदी तथा ग्रियर्सन के अनुसार वे जौनपुर-निवासी मोची थे। परन्तु पुष्ट प्रमाणों के अभाव में दादू की 'बानी' के सहारे यही निश्चय होता है कि वे मुसलमान थे। कहा जाता है कि बचपन में भगवत् कृपा से इन्हें दिव्यज्ञान की प्राप्ति हो गई थी। उन्नीस वर्ष की अवस्था में ये पर्यटन में निकले और साँभर आए। यहाँ ये रूई धुनकर जीवन निर्वाह करते थे। बारह वर्षों तक घोर तपश्चर्या तथा

धना के पश्चात् अनेक स्थानों से होते हुए ये संवत् १६५९ में जयपुर समीप नरायणे नामक स्थान पर पहुँचे और यहीं एक वर्ष के बाद ज्येष्ठ कृष्ण अष्टमी शनिवार संवत् १५३० को उनसठ वर्ष की उम्र में इनका देहावसान हुआ। ये तुलसीदास के समकालीन थे।

दादू ने स्वतः कोई पंथ नहीं चलाया; लेकिन इनकी मृत्यु के पश्चात् इनके शिष्यों ने गुरु की यादगारी के लिए पंथ चला ही दिया। इनके शिष्यों की संख्या एक सौ बावन तक थी जिनमें हिन्दू और मुसलमान दोनों थे। हिन्दी साहित्य में इनकी शिष्य-परंपरा का काफी महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुख्य शिष्यों में महापंडित संत-सुन्दरदास, जगजीवनदास गरीबदास, काजी मुहम्मद और रजब की गणना कर सकते हैं। मध्व के 'ब्रह्म-सम्प्रदाय' से अपनी पृथकता और महत्त्व सूचित करने के लिए इन शिष्यों ने अपने पंथ का नाम 'परब्रह्म सम्प्रदाय' रखा।

दादू में कबीर की तरह तीखा स्वर कहीं नहीं मिलता। उन्होंने इस बात पर सदा जोर दिया है कि भक्त होने के लिए नम्र और शीलवान होना चाहिए। मूर्ति-पूजा, तीर्थयात्रा, छापा-तिलक, पशु-बलि आदि का अग्राह्य करते समय इनकी शैली कहीं भी उद्दंड नहीं हुई है। यह सत्य है कि इन बाह्याचारों से इनका आत्मा भी उतनी ही मात्रा में क्षुब्ध थी जितनी मात्रा में इन कुसंस्कारों ने कबीर के दिल पर आघात किया था, लेकिन जहाँ कबीर ने मर्माहत व्यंगों इनकी खबर ली है वहाँ दादू ने तटस्थ चिंतक की भाँति सौम्यभाव समझा-समझाकर जनता के हृदय से उन विषाक्त आचारों को दूर क की चेष्टा की।

अन्य संतों की तरह दादू के यहाँ भी गुरु का स्थान काफी ऊँचा है। इनकी साखियों के प्रत्येक 'अंग' की आरंभिक पंक्तियाँ गुरुदेवता की वंदना करती हैं—

नमो नमो निरंजनम् नमस्कार गुरु देवतः।
वंदनं सर्व साधवा प्रणामं पारंगतः॥

इस संसार में गुरु की सहायता के बिना एक पग भी आगे बढ़ना सर्वथा कठिन है। दसों दिशाओं में जल तो भरा हुआ है, लेकिन गुरु प्रसाद के अभाव में पंछी प्यासा ही लौट जाता है। यह गुरु ही आत्मा को यह ज्ञान देता है कि भगवान कहाँ मिलेगा और उसकी प्राप्ति के कौन-कौन-से उपाय हैं। स्वयं आत्मा तो अंधी है—गुरु उसे आँख देता है, संसार और ब्रह्म का मर्म बतलाता है। वह आत्मा को अगम अगोचर सत्ता से मेल भी करा देता है—

दादू उस गुरुदेव की मैं बलिहारी जाऊँ।
जहँ आसण अमर अलेख था ले राखे उस ठाऊँ॥

यह सतगुरु साधारण जीव नहीं होता। वह स्वयं राम के प्रेमरस में मस्त रहता है और अपने संसर्ग में आनेवाले जीवों को उस 'राम' का पता बतलाता है। इस भवसागर से पार उतार देना तो उसके बाएँ हाथ का खेल है। दादू के शब्दों में ऐसे गुरु का लक्षण देखिए—

सतगुरु ऐसा कीजिए राम रस माता।
पार उतारै पलक में दरसन को दाता॥
दादू गुरु गरुवा मिलै ता थैं सब गमि होइ।
लोहा पारस परसताँ सहज समाना सोइ॥

सतगुरु मिलैं तो पाइए भगति मुकति भंडार।
दादू सहजैं देखिए साहिब का दीदार॥

इस प्रकार गुरुप्रदत्त ज्ञानदीप के पाते ही सारी वस्तुएँ स्पष्ट दिखाई पड़ने लगती हैं और संसार के तत्त्व का ज्ञान हो जाता है। जीव ब्रह्म के निकटतर होता जाता है—द्वैत का पर्दा हट जाता है और धीरे-धीरे ब्रह्म और जीव में कोई भेद नहीं रह जाता। अतः इस स्थिति की प्राप्ति के लिए यह सर्वथा आवश्यक है कि किसी गुरु की सत्कृपा प्राप्त हो।

जबहीं कर दीपक दिया तब सब सूझन लाग।
यूँ दादू गुर ज्ञान थैं राम कहत जन भाग॥
दादू पड़दा भरम का रहा सकल घटि छाइ।
गुरु गोविन्द किरपा करैं तौ सहजैं ही मिटि जाइ॥

× × ×

दादू साचा गुरु मिलै जीव ब्रह्म है जाइ॥

इन्हीं सब बातों को देखकर दादू ने सोचा कि गुरु का प्रताप इतना अधिक है कि उसके अभाव में यदि एक लाख चाँद और एक कोटि सूर्य भी मानव के अन्तर का अंधकार दूर कर उसमें प्रकाश की किरणें उड़ेलने की चेष्टा करें तो उनका प्रयत्न विफल हो जायगा। यह गुरु के सामर्थ्य की ही बात है कि मन के तमिस्र को दूर कर ज्ञान की अरुणिमा बरसा दे।

इक लख चंदा आणि घर सूरज कोटि मिलाइ।
दादू गुरु गोविन्द बिन तौं भी तिमिर न जाइ॥

दादू का परमसाध्य निराकार निरंजन परम पुरुष अलख-अगोचर ब्रह्म है। वह अतिसूक्ष्म है। वह शून्य में निवास करता है। उसकी अगम और अलक्ष्य स्थिति को समझने के लिए दादू कहते हैं–वह वहीं रहता है जहाँ से सूर्य, चन्द्र और व्योम की उत्पत्ति होती है। उसी ने जल, वायु और अग्नि की सृष्टि की है—

जहाँ थैं सब ऊपजे चंद सूर आकास।
पानी पवन पावक किये धरती का परकास॥
काल करम जिव ऊपजें माया मन घट साँस।
तहँ रहिता रमता राम है सहज सुन्न सब पास॥

यदि उसे पाना है तो वहाँ जाइए जहाँ 'शब्द' उत्पन्न होता है। उस एकान्त स्थान में एक अखंड और व्यापक ज्योतिपुंज का प्रकाश छिटका हुआ है। न तो वहाँ सूर्य उदय होता है न चाँद—हाँ, इनके अभाव में भी सर्वत्र तेज व्याप्त रहता है—

खोजि तहाँ पिउ पाइए जँह चंद न ऊगै सूर।
निरंतर निरधार है तेज रह्या भरपूर॥

दादू इस तेज से चौंधिया जाते हैं। भगवान की उस तीक्ष्ण ज्योति के अद्भुत खेल को भौंचक होकर दादू देखते रहते हैं। उन्हें आश्चर्य होता है कि बिना बाती और तेल के 'दह दिसि दीपक तेज' कैसे होता है। उसके रोम-रोम में 'सूरज कोटि प्रकास' है और उस 'अमर वेलि आकास' से निरंतर अमृत का स्राव होता रहता है। सूरज वहाँ नहीं है फिर भी सूर्य-प्रकाश का वहाँ दर्शन होता है—चन्द्र के अभाव में भी चाँदनी छिटकी रहती है। तारों के अभाव में उस सत्ता की झिल-

मिली देखकर दादू अवाक हैं। वे समझ नहीं पाते कि वहाँ बिना बादल की वर्षा किस तरह होती रहती है, बिना शब्द के भी गर्जन कैसे होता है और बिजली के अभाव में चमक कैसे दिखाई पड़ती है!

सूरज नहिं तहँ सूरज देख्या चंद नहीं तँह चंदा।
तारे नहिं तहँ झिलमिल देख्या दादू अति आनंदा॥
बादल नहिं तँह बरसत देख्या सबद नहीं गरजंदा।
बीज नहीं तँह चमकत देख्या दादू परमानंदा॥

दादू ने इस झिलमिली का प्रत्यक्षीकरण किया है। उन्हें निर्गुण ब्रह्म के निरंजन रूप ने अधिक आकर्षित किया और अविचल अविनाशी की उत्पत्ति और आकार को व्याख्या करते हुए उसके निवास की छानबीन भी उन्होंने की है। वह ब्रह्म कितना सूक्ष्म है, इसका परिचय देखिए—

निर्मल तत निर्मल तत निर्मल तत ऐसा।
निर्गुण निज निधि निरंजन जैसा है तैसा।
उतपति आकार नाँही जीव नाहीं काया।
काल नहीं कर्म नहीं रहिता रमराया॥
सीत नाँही घाम नाँही धूप नाँही छाया।
बाव नाँही बरण नाँही मोह नाँही माया॥
धरणी - आकास अगम चंद सूर नाँही।
रजनी निसि दिवस नाँही पवना नहिं जाहीं॥
कृत्तिम घट कला नाँही सकल रहित सोई।
दादू निज अगम निगम दूजा नहिं कोई।

दादू जिस ब्रह्म की वंदना करते हैं; वह ऐसा है—

परब्रह्म परापरं सो मम देव निरंजनं।
निराकारं निर्मलं तस्य दादू वंदनं॥

दादू के इस सूक्ष्म ब्रह्म के साथ-साथ भक्ति और प्रेम की डोर भी लटकती चलती है और उसी डोर का आश्रय ग्रहण कर दादू को विश्वास है, वे मुक्ति पा जायेंगे। प्रेम ने उनके हृदय का बहुत अधिक मधुरिम बना दिया है और साँई से 'सँइयाँ' का रिश्ता जोड़ने के लिए बाध्य किया है। दादू उसका दरस-परस अपने अंतर में ही करना चाहते हैं। उनकी आकांक्षा है कि वह उनके मस्तक पर पाँव धरकर उनके शून्य मंदिर में आवे जिससे वे अपनी इच्छा पूरी करें—'सँइयाँ सोवे सेज पर दादू चापैं पाँव।' बहुत दिनों के बाद यह सौभाग्य उन्हें प्राप्त भी हो जाता है—सुहाग की सेज मिल जाने के बाद दादू 'पिव' के साथ तन्मय होकर खेलने लगते हैं—

सुन्दरि कौं साँई मिला पाया सेज सुहाग।
पिव सौं खेले प्रेम रस दादू मोटे भाग॥

दादू पर सूफीमत का काफी प्रभाव पड़ा है और उनकी विरहिणी की तड़प और चीख सूफियों के प्रेम की 'पीर' से भिन्न नहीं है। दिन रात प्रियतम के आने की आशा लगाए टकटकी बाँध कर राह देखना—देर होने पर 'कुरले कुंज' की तरह 'तलफना' कबीर को प्रिय था। दादू की आत्मा में भी कबीर की विरहिणी ने ही रुदन की तान फूँक दी है। वह बिचारी मार्ग देखते-देखते वृद्धा हो गई है—प्रतीक्षा की मधुर कसमसाहट और तीखी तड़प को वह किससे कहे? किससे संदेश भेजे?

विरहिनि दुख कासनि कहै कासनि देइ संदेस।
पंथ निहारत पीव का विरहिनि पलटे केस॥

यह वियोगिनी जायसी की लाड़िली है, मंझन की सहेली है और दादू के लिए तो सब कुछ यही है। प्रिय के दर्शन के लिए वह वियोगिनी से वैरागिन बन गई है—'दरसन कारन बिरहिनि बैरागिन होवे।' 'पीव मिलन के कारणे' न जाने कितने कष्ट उसे झेलने पड़ते हैं, लेकिन 'मुहब्बत-ए दर्द' को हृदय में सँजोए आशिक बढ़ता चलता है और जीवन का बलिदान करने में भी नहीं हिचकता। दादू का यह अटल विश्वास है कि 'जब लग सीस न सौंपिए तब लग इसक न होइ।' दादू का प्रिय बेदर्दी है—तड़पते-तड़पते विरहिणी मर जाती है, विरह की अग्नि में जलकर चीखती रहती है, लेकिन वह बात भी नहीं पूछता; ऐसा निर्दय है वह—

तलफि तलफि विरहिनि मरै करि करि बहुत बिलाप।
विरह अगिनि में जलि गई पीव न पूछै बात॥

इतना होने पर भी आँखों में करुणा छिपाए दादू की आत्मा सिसक-सिसककर पुकारती रहती है, आकुल होकर कहती रहती है—ओ निर्मोही आ जा, कितनी सहूँ? कोई उसे जाकर कह तो दे कि वह अपनी प्यारी सूरत दिखा जाय! लेकिन ऊहूँ, उसका 'पिय' नहीं सुनता, पुकार शून्य में विलीन हो जाती है, चीख प्रतिध्वनित होकर लौट आती है। शून्य भला उसका उत्तर क्या दे? अब दादू समझ गए कि बाहर से चीखने-चिल्लाने से कोई लाभ नहीं, मन ही में रोना-तड़पना अच्छा है। दाह हो, छाले भी पड़ें लेकिन सब भीतर-भीतर।

सूक्ष्म ब्रह्म को पाने के लिए सूक्ष्म पीर भी चाहिए। दादू ने निश्चय किया है कि बिना आँखों के वे रोयेंगे, बिना मुँह के चीत्कार करेंगे और बिना हाथों सिर पीटा करेंगे !

मन ही माहैं झूरणाँ रोवै मन ही माँहि।
मन ही माहैं धाह दे दादू बाहर नाहिं॥
बिन ही नैनों रोवणाँ बिन मुख पीड़ पुकार।
बिन ही हाथौं पीटना दादू बारंबार॥

और तब कहीं वह ब्रह्म रीझता है। अब वह भी इश्कबाजी करने लगता है और आशिक को अपने पास खींचने लगता है। स्वयं उसके हृदय में भी प्रेम की ज्योति जलती है, विरह की ज्वाला धधकती है और वह भी तड़पने लगता है। इसके बाद किस तरह दोनों—आशिक और माशूक—तद्रूप होते हैं यह कहने की आवश्यकता नहीं।

आसिक मासुक ह्वै गया इसक कहावै सोइ।
दादू उस मासूक का अल्लहि आसिक होइ॥

आत्मा परमात्मा के संबंध में विचार करते हुए दादू कहते हैं कि परमात्मा के साथ आत्मा को इस प्रकार मिल जाना चाहिए 'ज्यों पाणी मैं लूण', और इस प्रकार जब 'तन मन एक रस' हो जायगा तो एक से दूसरे को पृथक् कौन कह सकता है ! लेकिन यहाँ ध्यान में रखना चाहिए कि दादू का परमात्मा एकदेशीय नहीं है जहाँ पहुँचकर राह की थकान मिटाकर, आप धूलगर्द झाड़कर, 'तत्त्वमसि' कहकर उसका चरणस्पर्श कर लें और वह सिर के ऊपर हाथ फैलाकर एक छोटा-सा वाक्य 'तथास्तु' कह दे और सारा किस्सा समाप्त हो जाय !

दादू का ब्रह्म सर्वव्यापी है, वह जड़-चेतन में सर्वत्र व्याप्त है। अपनी आत्मा का विस्तार कर समग्र विश्व में अपने-आपको ही देखिए फिर ब्रह्म आप से दूर नहीं है। मंसूर का 'अनल्हक्' ही ब्रह्म है और उसकी समष्टि ही परमात्मा है।

अपने नैनहुँ आपकौ जब आतम देखे।
तहँ दादू परमातमा ताही कूँ पेखे॥

और भी,

जहँ आतम तहँ राम है सकल रह्या भरपूर
अंतरगति ल्यौ लाइ रहु दादू सेवग सूर॥

इस धरातल पर द्वैत की भावना लेकर चलनेवाला पग-पग पर ठोकर खाएगा। दादू बार-बार अपने मन को समझाते हैं, बचके चलना भाई, खतरा आगे है। ममता नहीं मिटी और दनादन इश्क फरमाये जा रहे हैं तो लगातर पटकन खाना पड़ेगा! इसलिए कि 'दादू महल बारीक है द्वै को नाहीं ठाम'। इस बारीक महल में जानेवाला साधक 'पूरा देखौं पीव को बाहर भीतर सोइ' की भावना हृदय में छिपाए आगे बढ़ना है। वह सर्वात्मवाद में विश्वास करता है—'हूँ तौ देखौं पीव कौं सबमें रह्या समाय।' ब्रह्म ने अपना विस्तार कर समस्त विश्व को आच्छादित कर लिया है, वह रोम-रोम में रम गया है। उससे अलग किसी दूसरे की सत्ता नहीं है। वही सब जगह फैला हुआ है और आत्मा अपना विस्तार कर ब्रह्म के विराट् रूप का दर्शन कर रही है।—

दादू देखौं दयाल कौं सकल रह्या भरपूरि।
रोम रोम मैं रमि रह्या तूँ जिनि जाणै दूरि॥

यह ब्रह्म ऐसा है कि जहाँ भी आँख खोलकर देखिए उसका दर्शन सहज ही में हो सकता है।—'जीधर देखौं नैनभरि तीधर सिरजनहार।' दादू को स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि न तो वह किसी तनविशेष में है, न मनविशेष में; न माया में, न जीव में। वह दसों दिशाओं में एक ही साथ समान रूप से व्याप्त है। अर्जुन ने एक दिन ऐसे विश्वव्यापी ब्रह्म के विराट् रूप का दर्शन किया था। दादू भी उसके अद्भुत स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण करते हैं। सभी दिशाएँ उसके लिए बराबर हैं, सभी दिशाओं में उसका मुँह है और सभी जगहों से उसकी वाणी सुनाई पड़ती है। वह सभी दिशाओं की बातें अपने विराट् कान से सुनता रहता है और सभी दिशाएँ उसकी आँखें हैं जिनसे वह विश्व की समग्र वस्तुओं को प्रतिक्षण देखता रहता है। दिशाएँ ही उसके पैर हैं, सिर हैं, मन हैं, अंग हैं—सब-कुछ हैं। दादू को विस्मय होता है कि बिना कानों के वह सबकुछ सुनता है, बिना आँखों के सबकुछ देखता है और बिना जीभ के सबकुछ बोलता है—आखिर यह सब वह कैसे कर पाता है!

सबै दिसा सो सारिखा सबै दिसा मुख बैन।
सबै दिसा स्रवणहुँ सुनै सबै दिसा कर नैन॥
सबै दिसा पग सीस है सबै दिसा मन चैन।
सबै दिसा सनमुख रहै सबै दिसा अंग ऐन॥
बिन स्रवणहुँ सबकुछ सुनै बिन नैनहुँ सब देखै।
बिन रसना मुख सबकुछ बोलै यह दादू अचरज पेखै॥

है—वह झूठी चीजों की झिलमिली में हमें दौड़ाती है और हम वयस्क होकर भी नाच-कूद कर गुड़ियों का खेल खेलते रहते हैं।

जे नाहीं सो देखिए सूता सुपिनै माँहि।
दादू झूठा ह्वै गया जागे तौ कछु नाहिं॥
यह सब माया मिर्ग-जल झूठा झिलमिलि होई।
दादू चिलका देखि करि सति करि जाना सोई॥

यह माया कनक और कामिनी के स्थूल-रूप में संसार को अपने चरणों पर लोटने के लिए विवश करती है। 'माया गह के कूप' में चराचर विश्व औंधे होकर निरंतर गिरता जा रहा है और इसी में अपने जीवन की पूर्णता समझता है। वह यह नहीं समझता कि 'मोह्या कनक अरु कामिनी नाना विधि के रूप' और वह 'विष सुख माहें रमि रहा माया हित चित लाइ।' दादू का कहना है कि यदि पारस और लोहे को साथ-साथ रखा जाय और उनमें एक बाल बराबर भी अंतर हो तो करोड़ों वर्ष के संसर्ग से भी लोहा सोना नहीं बन सकेगा। ठीक इसी प्रकार जीव और ब्रह्म की सान्निध्य अवस्था में यदि वासना (माया) का थोड़ा-सा अंश भी पर्दे के रूप में दोनों के बीच में स्थित रहा तो सम्मिलन नहीं हो सकता।

कोटि बरस लौं राखिए जीव ब्रह्म संगि दोइ।
दादू माहे वासना कदे न मेला होइ॥

दादू का यह दृढ़ विश्वास है माया का फंदा तभी तक लगा रहता है जबतक निरंजन से प्रेम नहीं होता। एक बार भक्ति की डोर पकड़ लेने पर माया का जादू छूमंतर हो जाता है। भक्त के सामने माया

चेरी बन जाती है। ब्रह्म की कृपा का अधिकारी इस डाकिनी से तनिक नहीं डरता—उसके पास फटकने का साहस वह स्वयं नहीं कर सकती। वह तो दुर्बलों को सताती है—भक्ति के मार्ग का पथिक कभी कमजोर नहीं होता!

भक्त मुक्ति की परवाह नहीं करता। उसके सामने अष्ट सिद्धियाँ और नवो निधियाँ तुच्छ हैं। जिसे इतनी सम्पदाएँ नहीं लुभा सकीं उसे दासी माया क्या डिगा देगी? यदि संत के पास कोई संबल नहीं रहता तो शायद माया अपना प्रभाव दिखा देती, पर उसके पास तो ऐसी बिजली की छड़ी है जिसको देखकर दूर से ही माया दुम दबाकर सटक जाती है। वह भक्त की चेरी जो ठहरी, उसकी बिसात ही क्या?

चारि पदारथ मुक्ति बापुरो अठ सिधि नौ निधि चेरी।
माया दासी ताके आगैं जँह भक्ति निरंजन तेरी॥

जहाँ ब्रह्म की ज्योति नहीं रहती है वहीं माया का जोर चलता है। माया के पीछे-पीछे अंधकार का समूह लुढ़कता चलता है। प्रकाश का सामना करने की हिम्मत इस अंधकार में कैसे हो सकती है? यही कारण है कि जिस आत्मा में ब्रह्म की भक्ति, उसकी ज्योति का प्रस्फुरण नहीं होता है वहाँ माया मंगल गान गाती है। यह स्थिति तबतक ही रह पाती है जबतक उस घर में ज्योति का प्रसार नहीं होता। एक बार भक्त की आत्मा हँस पड़ी, प्रेम की एक किरण चमक उठी कि माया को टिकने का स्थान नहीं। वह ऐसी गायब होती है कि बस।

जेहि घर ब्रह्म न परगटै तहँ माया मंगल गाइ।
दादू जागै जोती जब तब माया भरम बिलाइ॥[२]

है—वह झूठी चीजों की झिलमिली में हमें दौड़ाती है और हम वयस्क होकर भी नाच-कूद कर गुड़ियों का खेल खेलते रहते हैं।

जे नाहीं सो देखिए सूता सुपिनै माँहि।
दादू झूठा ह्वै गया जागै तौ कछु नाहिं॥
यह सब माया मिर्ग-जल झूठा झिलमिलि होई।
दादू चिलका देखि करि सति करि जाना सोई॥

यह माया कनक और कामिनी के स्थूल-रूप में संसार को अपने चरणों पर लोटने के लिए विवश करती है। 'माया गृह के कूप' में चराचर विश्व औंधे होकर निरंतर गिरता जा रहा है और इसी में अपने जीवन की पूर्णता समझता है। वह यह नहीं समझता कि 'मोह्या कनक अरु कामिनी नाना विधि के रूप' और वह 'विष सुख माहें रमि रहा माया हित चित लाइ।' दादू का कहना है कि यदि पारस और लोहे को साथ-साथ रखा जाय और उनमें एक बाल बराबर भी अंतर हो तो करोड़ों वर्ष के संसर्ग से भी लोहा सोना नहीं बन सकेगा। ठीक इसी प्रकार जीव और ब्रह्म की सान्निध्य अवस्था में यदि वासना (माया) का थोड़ा-सा अंश भी पर्दे के रूप में दोनों के बीच में स्थित रहा तो सम्मिलन नहीं हो सकता।

कोटि वरस लौं राखिए जीव ब्रह्म संगि दोइ।
दादू माहे वासना कदे न मेला होइ॥

दादू का यह दृढ़ विश्वास है माया का फंदा तभीतक लगा रहता है जबतक निरंजन से प्रेम नहीं होता। एक बार भक्ति की डोर पकड़ लेने पर माया का जादू छूमंतर हो जाता है। भक्त के सामने माया

चेरी बन जाती है। ब्रह्म की कृपा का अधिकारी इस डाकिनी से तनिक नहीं डरता—उसके पास फटकने का साहस यह स्वयं नहीं कर सकती। यह तो दुर्बलों को सताती है—भक्ति के मार्ग का पथिक कभी कमजोर नहीं होता !

भक्त मुक्ति की परवाह नहीं करता। उसके सामने अष्ट सिद्धियाँ और नवों निधियाँ तुच्छ हैं। जिसे इतनी सम्पदाएँ नहीं लुभा सकीं उसे दासी माया क्या डिगा देगी ? यदि संत के पास कोई संबल नहीं रहता तो शायद माया अपना प्रभाव दिखा देती, पर उसके पास तो ऐसी बिजली की छड़ी है जिसको देखकर दूर से ही माया दुम दबाकर सटक जाती है। यह भक्त की चेरी जो ठहरी, उसकी बिसात ही क्या ?

चारि पदारथ मुक्ति बापुरो अठ सिधि नौं निधि चेरी।
माया दासी ताके आगैं जँह भक्ति निरंजन तेरी॥

जहाँ ब्रह्म की ज्योति नहीं रहती है वहीं माया का जोर चलता है। माया के पीछे-पीछे अंधकार का समूह लुढ़कता चलता है। प्रकाश का सामना करने की हिम्मत इस अंधकार में कैसे हो सकती है ? यही कारण है कि जिस आत्मा में ब्रह्म की भक्ति, उसकी ज्योति का प्रस्फुरण नहीं होता है वहाँ माया मंगल गान गाती है। यह स्थिति तबतक ही रह पाती है जबतक उस घर में ज्योति का प्रसार नहीं होता। एक बार भक्त की आत्मा हँस पड़ी, प्रेम की एक किरण चमक उठी कि माया को टिकने का स्थान नहीं। वह ऐसी गायब होती है कि बस।

जेहि घर ब्रह्म न परगटै तहँ माया मंगल गाइ।
दादू जागै जोती जब तब मायां भरम बिलाइ॥[२]

जब ब्रह्म की ज्योति हृदय में चली आती है तो सर्वत्र 'वही' दिखाई देने लगता है। द्वैत की भावना सर्वथा मिट जाती है। बीच का पर्दा गायब हो जाता है। माया का व्यवधान समाप्त हो जाता है। फिर तो एक 'वह' रह जाता है दूसरा हम 'यह'—आत्मा और परमात्मा का पार्थक्य मिट जाता है—चिनगारी अग्निपिंड से मिल जाती है। ऐसे समय सारा विश्व दर्पण बन जाता है। जहाँ भी साधक देखता है उसे परमात्मा का ही बिंब दिखलाई पड़ता है। कंकड़-पत्थर भी आरसी बनकर परमात्म दर्शन में सहायता देते हैं। रेणु की सत्ता में ही भगवान की कोटि मेरु-सी महत्ता का आभास मिलने लगता है।

दर दीवार दरपन भए जित चितवों तित तोहिं।
काँकर पाथर ठीकरी भए आरसी मोहिं।

इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि अल्प शिक्षित दादू के वचन उपनिषदों की विचारधाराओं से कितना अधिक मेल खाते हैं। 'तत्त्वमसि' का जिस तीव्रता से प्रतिपादन वहाँ मिलता है ठीक वही तीव्रता दादू की वाणी में भी प्रतिध्वनित हो गई है 'एकोऽहं बहु स्याम' की भावना दादू में भी ठीक-ठीक उतर आया है—चिंतन के क्षेत्र में दादू ऋषियों से ठीक पीछे हैं, अधिक दूरी पर नहीं। कहना नहीं होगा इन सारी बातों को उन्होंने आत्मज्ञान या अनुभव के बल पर ही कहा था।

यह सत्य है कि दादू का प्रिय सब घट व्यापी —'हौं तौं देखौं पीव को सब में रह्या समाई', लेकिन उन्होंने सदा इस बात पर बल दिया है कि उसे यदि पाना चाहते हो, ढूँढ़ना चाहते हो तो बाहर भटकने से

कोई लाभ नहीं। अपने भीतर ही उसका अन्वेषण करो। वह तुम्हारे साथ है, तुम में ही है—वह तुम्हीं हो। हम आचार्य शुक्ल की इस उक्ति को नहीं मानते कि 'घट के भीतर रहस्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति इनमें बहुत कम है।' 'दादू बानी' पढ़ने से तो ऐसा पता मिलता है कि दादू सर्वत्र अन्वेषण से थककर घट (शरीर) के भीतर भगवद्दर्शन के आदी हो गए थे—'सबै दिसा सौं फिरि करि पाया घट ही मांहि।' यह सूक्ष्म ब्रह्म बाहर नहीं देखा जा सकता। वह 'पुरुषप्राण में पातला सो सदा हमारे संग' रहता है। उसे प्राप्त करने के लिए दादू की सलाह सुनिए—

(दादू) काया अंतरि पाइआ निरंतर निरधार।
सहजैं आप लखाइया ऐसा समरथ सार॥
(दादू) काया अंतरि पाइया सब देवन का देव।
सहजैं आप लखाइया ऐसा अलख अभेव॥

दादू के गुरु ने उन्हें शिक्षा दिया है कि भीतर-भीतर ही सेवा और बंदगी करते रहो बाहर भटकने की कोई जरूरत नहीं—'भीतर सेवा बंदगी बाहर काहे जाइ।' यही वजह है कि वे घट के भीतर ही सारे ब्रह्माण्ड का दर्शन करते हैं—काया में ही आकाश है, पृथ्वी है, सारा ब्रह्माण्ड है, सारे पिंड हैं, सभी खंड हैं—

काया माँहैं सब आकास काया माँहैं धरती वास।
काया माँहैं सब ब्रह्मण्ड काया माँहैं है सब खंड॥

यह महाज्ञान की अवस्था है। सच्चे मन और सच्ची भावना से परमात्मा का स्मरण करने पर विश्व का अणु-अणु 'उसकी' अरुणिमा से चमकने लगता है। इस धरातल पर साधक ब्रह्ममय हो जाता है और

ब्रह्म साधकमय बन जाता है। उपासक और उपास्य की दूरी समाप्त हो जाती है। दोनों परस्पर एकाकार हो जाते हैं—'अरस परस हम दोउ मिले।'[1] यहाँ आत्मज्ञान का स्तर काफी ऊँचा हो जाता है और जीव दूसरों को यह बतलाने का अधिकारी बन जाता है कि साँई के सहवास में नहीं रहने से जीव का मृत्यु होने लगती है और हरदम खिन्न मन रहते-रहते उसका जीवन व्यर्थ मालूम होने लगता है। इस पीठिका पर प्रेमशून्य आत्मा सतत अंधकार-युत दिखलाई पड़ती है—दिल में मुहब्बत ही नहीं तो जीना कैसा? न जरा तड़प, न तनिक टीस—बस सीधी पटरी पर चले जा रहे हैं, भोगविलास में मस्त, चंचल मन, जर्जर-तन, भला यह भी कोई जीवन है? दादू की आँखों में आँखें गड़ाइए वहाँ ये पंक्तियाँ लिखी मिलेंगी—

कैसे जीविये रे साँई संग न पास।
चंचल मन निहचल नहीं निसदिन फिरै उदास॥
नेह नहीं रे राम का प्रीति नहीं परकास।
साहिब का सुमिरन नहीं करै मिलन की आस॥
तौ जीवीजै जीवणाँ सुमिरै सासौं सास।
दादू परगट पिव मिलै अंतरि होइ उजास॥

'एक राम के नाव बिन जिव की जळनि न जाइ' का संदेश घर-घर पहुँचाने का संकल्प कर आगे बढ़ने वाला साधक, उस राम के लिए कितना तड़पता होगा, इसे कौन जाने! दादू का अल्लाह इश्क ही है; वही उनकी जाति है, रंग है, वही प्राण भी है, मोक्ष भी। इश्क की ज्वाला काफी तीखी होती है, शराब के कड़वे घूँट की तरह, लेकिन

क्या जलने वाले मानते हैं, किसी की बात सुनते हैं? पीने वालों को कौन रोके—जलनेवालों से कौन बोले? यह मर्ज जब एक बार हुआ तो फिर उसकी दवा जिन्दगी ही है। सारी उम्र प्रेम की टीस में हूक भरते रहना, कराहते रहना, सिसकते रहना प्रेमियों को क्यों अच्छा लगता है यह कोई दीवाना ही बता सकता है और उसकी भाषा एक दीवाना ही सुन-समझ सकता है। दादू ने नयनों में सावन बसा लिया है और प्राण में चातक। हृदय की ज्वाला तीखी होती है तो मेघ बरसने लगते हैं; तंत्री के तार कसे जाते हैं, तो पपीहा चीत्कार करने लगता है—'पी कहाँ!' सावन भादों के महीने में जब पृथ्वी हरी साड़ी पहनकर अपने 'पिय' से अभिसार करने निकलती है तो दादू के अंतर की नारी चीख उठती है—पी कहाँ—कहाँ !!

रोम रोम रस प्यास है दादू करहिं पुकार।
राम घटा दल उमँगि करि बरिसहु सिरजनहार॥

(ख) नानक

नानक का जन्म वीरभूमि पंजाब के गुजरानवाला जिला (शारकपुर के तहसील में) रावी नदी के किनारे तालवंडी नामक गाँव में कार्तिक पूर्णिमा (नवंबर) सन् १४६९ ई०. में हुआ था। इनके पिता मेहता कालूचंद (वेदी खत्री) तथा माता तृता ने बड़े लाड़-प्यार से इनको पालन किया। बचपन से ही ये संसार से विरक्त रहे। खेल में बंद्द पद्मासन पर बिठाकर 'सत्तकर्तार' जप करवाना तो साधारण बात ::।

पिता ने शुद्धोदन की तरह सांसारिकता के आँचल में समेटने के लिए अट्ठारह वर्ष की उम्र में ही परमसुन्दरी युवती सुलक्षिणि से इनकी शादी कर दी, लेकिन उस ओर से ये वीतराग ही रहे। यद्यपि श्रीचंद और लक्ष्मीचंद नाम के दो इनके पुत्र भी हुए फिर भी परिवार से इनकी आसक्ति नहीं बढ़ी। कृषि और पशुपालन में पुत्र को बोदा समझकर व्यापारी पिता ने पुत्र को व्यापार के 'फन' में उस्ताद बनाने के लिए कुछ माल लेकर भेजा—साधु पुत्र ने उन्हें संतों में बाँट कर 'सच्चा सौदा' कर लिया। सभी क्षेत्रों में असफल होने के बाद बहनोई जयराम की सिफारिश से सुल्तान दौलत खाँ लोदी के खजाने में दान देनेवाले कोष को देखरेख का काम मिला। वहाँ असावधानी के कारण गबन का इल्जाम लगा और आश्चर्य के साथ नानक ने दूसरे दिन देखा कि किसी शक्ति ने सारे रुपये ठीक कर दिए हैं। भगवान इनके लिए कष्ट करें यह बर्दाश्त न कर इन्होंने त्यागपत्र दे दिया और पूर्णरूपेण विरक्त होकर देश-देशान्तर घूमते रहे—कभी मक्का, कभी काश्मीर, कभी आसाम, कभी सीलोन। अंत में पंजाब में आकर जम गए। इनके मतों का प्रभाव मुख्यतः यहीं पड़ा।

नानक कबीर की ही तरह निर्गुणोपासक थे। समाज के उस निचले स्तर से इनका आगमन नहीं हुआ था जिससे कबीर का। इसीलिए इनकी उक्तियों में कबीर की तरह तीव्रता नहीं है। फिर भी उन्होंने समाज में प्रचलित भेदभाव, मूर्तिपूजा, छापा, तिलकादि बाह्याडंबरों को नहीं माना और यथाप्रसंग इनकी आलोचना की। हिन्दू-मुस्लिम एकता के तो ये कट्टर पक्षपाती थे। कभी-कभी, अवतारवाद

का खंडन करते हुए भी, इनकी वाणी में त्रिमूर्तियों में विश्वास की ध्वनि मिलती है। ऐसा लगता है, वे हिन्दू-विचारधारा के उतने ही निकट थे जितने संतों में कबीर मुस्लिम विचारधारा के। ब्रह्मा, विष्णु महेश की चर्चा इनके यहां मिलती है और वे ठीक उसी रूप में ग्रहण किए गए हैं जिस रूप में ब्राह्मण-ग्रंथों में उनका उल्लेख मिलता है। त्रिमूर्तियों के विभिन्न कार्यकलापों तक की विवेचना इन्होंने की और मूलतः उन तीनों को एक ब्रह्म का अंग माना।

एका माई जगत बिआई तिन चेले परवाना।
एक संसारी एक भंडारी एक लाए परवाना॥

यही कारण है कि इनका सिक्ख-सम्प्रदाय जो पहले विशुद्ध निर्गुण-सम्प्रदाय था और मूर्तिपूजादि को नहीं मानता था, इन दिनों कट्टर मूर्तिपूजक बन गया है। यहाँ तक कि आज गुरुद्वारों में 'ग्रंथ-साहब' तथा गुरुओं की मूर्तियों की आरती तक उतारी जाती है! नानक ने स्वयं कोई ग्रंथ नहीं लिखा। सन् १५३८ में इनकी मृत्यु हुई और उसके पश्चात् क्रमशः नौ गुरुओं की परंपरा चली। चौथे गुरु अर्जुनदेव ने इनकी बानियों का संग्रह 'ग्रंथसाहब' के नाम से किया—इसमें नानक के पदों के साथ कबीर के पद भी सम्मिलित हैं। नानक की मुख्य बानियाँ जपजी, पट्टी, आरती, ओंकार आदि हैं।

पंजाब की भूमि पर भारत में आनेवाले प्रत्येक विदेशी आक्रमणकारी का प्रमुख प्रभाव पड़ा है। पश्चिम से आकर वे पहले यहीं बसे, फिर आगे बढ़े। मुसलमानों का जोर यहाँ आज की अपेक्षा उन दिनों और भी अधिक था। दोनों जातियाँ पड़ोस में रहकर भी दुश्मन थीं। तनातनी बढ़ती जा रही थी। इन दोनों को लड़ते देखकर नानक की

आत्मा तड़प उठी और दोनों के बीच के पहाड़ को काटकर इन्होंने एक दूसरे को मिलाने का सबल प्रयत्न किया। उन्होंने यह ठीक-ठीक समझ लिया कि सामाजिक द्वैत को दूर करने के लिए धार्मिक एकता की अनिवार्य आवश्यकता है। उन्हें ऐसा लगा जैसे दोनों जातियाँ बहुत दिनों से उनकी मध्यस्थता की प्रतीक्षा में थी।[१] इसे उन्होंने ईश्वरीय कार्य समझा और संदेशों के प्रसार-प्रचार के समय अपने को भगवान का पैगम्बर माना। उन्होंने यह स्वीकार किया कि भगवान से उन्हें ऐतन सुरह और हदीस मिले हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस्लामी पैगम्बरवाद को उन्होंने स्वीकार किया। इनकी बानियों को देखने से पता लगता है कि इनकी चेतावनी के शब्दों और शिक्षाओं पर इस्लाम का काफी प्रभाव पड़ा है। नानक ने ब्रह्म को कहीं खसम (पति) और कहीं हाकिम कहा है।[२] इस्लामी पैगम्बर की

---

१. 'Thou art my son go into the world, all have gone astray from the path, direct them upon the right path. Go thou into the world and make them all repeat the one name, Nanak, go thou as the third over the head of both. Establish the religion of truth and remove evil, who ever comes to you from the two recieve him, let not life be taken unnecessarily, protect the poor, remember that God pervades the eighty four lakhs of species.'—KhazanSingh—'The History & Philosophy of Sikhism' vol. II p. 348.

२. 'ऐसा गियान जपहु मन मेरे होवहु चाकर साँचे केरे।'

तरह ये भी अपने अनुयायियों को भगवान (हाकिम) के चरणों में पूर्ण समर्पण करने की सलाह देते हैं—उसकी आज्ञाओं का आँख मूंदकर पालन करना ही सबका फर्ज है; वैसा नहीं करने से वह नाराज हो जायगा और मालिक के नाराज हो जाने पर नौकर के लिए सहारा ही कहाँ है ? मोक्ष के लिए नानक ने चार साधन बतलाए हैं—भगवान का डर, सत्याचरण, सत्तनाम में विश्वास और गुरुभक्ति। सूफियों की तरह नानक का भी दृढ़ विश्वास है कि आत्मा की साधनात्मक यात्रा के लिए गुरु का पथप्रदर्शन आवश्यक है। नानक की मृत्यु के बाद यह गुरु-भावना और भी आगे बढ़ी और ये भगवान-तुल्य माने जाने लगे।[1]

---

१. 'When Nanak expired his spirit became incarnate in the person of Angad, who attended him as his confidential servant. Angad at his death, transmitted his soul into the body of Amardas and this guru in the same manner conveyed his spirit into the body of Ramadas whose soul transmigrated into the person of Arjunmal; in short they (sikhs) believe that with a mere change of name, Nanak the first became Nanak the second and so on, to the fifth in the person of Arjunmal.' Macauliff 'The Sikh Religion p. 147 quoted by Dr. Tara chand in 'Influence of Islam on Indian culture' P. 176.

दार्शनिक दृष्टि से नानक की रचनाओं को पढ़ने पर असंतोष ही होता है। उनका दर्शन पुष्ट एवं सबल नहीं कहा जा सकता। पृथ्वी को छोड़कर भगवान के प्रकाशमय लोक में जाने को तो ये जाते हैं, पर ऐसा लगता है, उन्हें वहाँ से हटने की बहुत हड़बड़ी रहती है, झट-झट काम खतम कर ये जल्दी से फिर नीचे झूल पड़ते हैं। सांसारिक कष्ट उन्हें जोरशोर से खींचते हैं और जगत के उलझनों को सुलझाने के प्रयत्न में ही ये सदा सचेष्ट रहते हैं। नौकरी पर सुबह से निकला हुआ बाप जिस तरह दोपहर के बाद जल्दी-जल्दी काम समेटकर घर के बच्चों की देखभाल के लिए आतुर होकर चल पड़ता है वैसे ही नानक सांसारिक जीवों के दुःखदैन्य की याद कर उनकी निवृत्ति के लिए तुरत उस सूक्ष्म लोक से लौट आते हैं—"अंधकार में भटकते होंगे बिचारे, चलूँ, उन्हें कौन राह बताएगा, समझाए-बुझाएगा ?"

नानक पुनर्जन्म पर विश्वास करते हैं और कुकर्म करनेवालों से चिल्ला-चिल्लाकर कहते हैं कि चेत जाओ, आज नहीं तो कल इसका फल अवश्य मिलेगा। संसार के मायाजाल का भयावह रूप दिखाकर ही भगवान की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा इनके पदों द्वारा मिलती है। संसार की असारता दिखलाकर ये बार-बार समझाते हैं—यह क्षणभंगुर है, तुम्हारा जीवन भी क्षणिक है, समय कम है, अपने सुधारना है तो सुधार लो, नहीं तो अवसर बीतता जा रहा है।

चेतना है तो चेत ले निसिदिन में प्रानी।
छिन-छिन अवधी बिहात है, फूटे घट ज्यों पानी।
हरि गुन काहे न गावही मूरख अज्ञानी॥

संसार स्वार्थियों का अड्डा है, तुम्हारा कोई नहीं। माता-पिता, स्त्री-पुत्र कोई किसी का नहीं—सभी निर्दय, निस्सत्व हैं। 'मृग तृष्णा ज्यों जग सपना' है अतः इसे छोड़ने में ही कल्याण है। इनका निर्वेद देखिए--

या जग मीत न देख्यो कोई।
सकल जगत अपने सुख लाग्यो दुख में संग न होई॥
दारा मीत पूत संबंधी सिगरे धन सों लागे।
जबहीं निरधन देख्यो नर को, संग छाड़ि सब भागे॥

इतना ज्ञान प्राप्त करने के बाद जीव की आँख खुल जानी चाहिए। शरीर नश्वर है—यदि कोई वस्तु इस संसार में सत्य है तो शरीर के भीतर बसनेवाली आत्मा ही है, वही राम है, उसे पहचानना चाहिए। मिथ्या संसार को छोड़ने में जीव को हिचक कैसी? एक बार भगवान से नाता जोड़ लो—सारे सांसारिक संबन्ध कच्चे धागे की तरह टूट जायेंगे। नानक की चेतावनी सुनिए—

साधो यह तन मिथ्या जानो।
या भीतर जो राम बसत है साचो ताहि पिछानो।
यह जग है संपति सुपने की देख कहा ऐड़ानो॥
संग तिहारे कछु न चालै ताहि कहा लपटानो।
अस्तुति निंदा दोऊ परहरि हरि कीरति उर आनो।

अथवा,

मृग तृस्ना ज्यों जग सपना यह देखो हृदै बिचार।
कहु नानक भजु राम नाम नित जातें होत उधार॥

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' से वेदों में ऋषियों ने जिस दार्शनिक चिंतन का आरंभ किया था उसी का पूर्ण विकास वेदान्त में हुआ और उसका सार लेकर नानक ने '१ ॐ सतिनामु करता पुरुख निरभउ निरवैरु मूरति अजूनी सैभं' को भक्ति का प्रसार किया। जिस प्रकार वैदिक मंत्रों में ॐकार को प्रणव, उद्गीथ आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है उसी प्रकार नानक ने अपने मंत्र को 'सत्तनाम' कहकर पुकारा है। नानक का ओंकार बहुत व्यापक है। नदी-पहाड़, आकाश-पाताल, पवन-अग्नि, सूर्य-चन्द्र—जड़ चेतन जो कुछ भी ब्रह्माण्ड में है, सभी में ओंकार व्याप्त है।

ओ३मकार पानी अरु पवन सूर्य चन्द्र धनि महि पवन।
ओ३मकार पूजा अरु मान ओ३मकार जप संयम ज्ञान॥

एक बार इस 'सत्तनाम' का रस पी लेने पर संसार के सभी रस फीके दिखाई पड़ने लगते हैं। एकमात्र 'ओंकार' का रसपान करनेवाला व्यक्ति ही खरा रसज्ञ है—वही दुनिया के मजे उड़ा सकता है।

अवर स्वाद सब फिक्के लागे जब सच नाम सुख दीया।
कह नानक सो खरा सवादी एक उँकार रस पीया॥

यह नाम ही सारे कुकर्मों का नाशक है। हृदय में पाप का कीचड़ तह पर तह बैठा हुआ है, उसे धो-पोंछकर साफ करने के लिए हरि का नाम ही एकमात्र गंगाजल है। इस नाम के अभाव में सारा उपकरण ठीक उसी तरह है जैसे विधवा को सिन्दूर। यह 'नाम' सर्वसुलभ है, जब खोजो तभी पास में है। इसके लिए 'नाहीं गुन नाहीं कछु जप तप' और जंगल-पहाड़ की धूल फाँकने की जरूरत नहीं; वह तो

सबके साथ है, उसे ढूँढ़ना कैसा—जो 'घट ही भीतर बसै निरंतर' उसकी खोज कैसी? भगवान को बाहर-बाहर ढूँढ़नेवालों से जरा सख्ती के साथ नानक पेश आते हैं। वे हैरान हैं कि जो प्रभु प्रत्येक जीव के भीतर विद्यमान है उसकी ऊटपटांग तलाश कैसे शुरू हो जाती है—वाह जी, गोद में लड़का शहर में ढँढोरा! फूलों के बीच सुगंधि छिपी रहती है, दर्पण में छाया छिपकुड़ी रहती है—दोनों रहते हुए भी दिखाई नहीं पड़ते। शरीर में भी परमात्मा निवास करता है जिसे हम देखते नहीं। एक बार आँखों का दिल खोल दीजिए या दिल को आँखें दे दीजिए, वह दिखाई पड़ने लगेगा। जाँच-पड़ताल आप-से-आप बंद हो जायगी। पहले अपने को पहचानिए।

काहे रे वन खोजन जाई।
सर्व निवासी सदा अलेपा तोहे संग समाई॥
बाहर भीतर एकै जानो यह गुरु ज्ञान बताई।
जन नानक बिन आपा चीन्हें मिटै न भ्रम की काई॥

नानक ने अपने अनुयायियों को चार स्तरों से पार होकर ब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग बतलाया। ये स्तर क्रमशः शरण, ज्ञान, कर्म और सच्च हैं। ध्यान से देखने पर ये सूफियों के शरीअत, तरीकत, मारिफत, और हकीकत या लाहूत की तरह ही मालूम पड़ते हैं। लाहूत की अवस्था में मृत्यु का भय जाता रहता है, आवागमन के चक्र का घूमना बंद हो जाता है। इस स्थल पर आत्मा के चारों तरफ प्रकाश फैल जाता है और वह उस प्रकाशपुंज से मिल जाती है जहाँ से उसने प्रकाश ग्रहण

किया था। यहाँ नानक को 'अनहद सबद बजत भेरी' सुनाई पड़ती है और वे तन्मय हो जाते हैं। सर्वत्र विश्व में ज्योत्स्ना फैल जाती है। इस चाँदनी की छाया में बैठकर नानक का हृदय नाच उठता है—

सब महँ ज्योति ज्योति है सोइ।
जाके चानणि सब महँ चानणि होइ॥

(ग) सुन्दरदास

एक समय था जब साधु लोग वस्त्र के लिए गृहस्थों से सूत माँगा करते थे। कहते हैं कि एक बार दादूदयाल के एक शिष्य (जग्गा) सूत माँग रहे थे और रट लगा रहे थे—'दे माई सूत, ले माई पूत।' इनकी आवाज सुनकर एक महाजन के घर से एक क्वाँरी कन्या निकली और सूत दिखाकर कहा—'लो बाबाजी सूत'। इसी धुन में शिष्य के मुँह से निकला—'लो माई पूत।'

सूत लेकर दादू के पास पहुँचने पर गुरु ने ब्रह्मज्ञान से सबकुछ जानकर कहा—'आज तो तू ठगा गया। इस लड़की के भाग्य में पुत्र है ही नहीं; अतः वचन की रक्षा के लिए अब तुझे ही उसके गर्भ में

जाना पड़ेगा।' कालक्रम से उस कन्या की शादी जयपुर राज्य की राजधानी द्यौसा में हुई और चैत्रसुदी नवमी संवत् १६५३[1] का ये शिष्य उसके गर्भ से प्रकट हुए। यही महात्मा सुन्दरदास थे। यह नामकरण इनके सौन्दर्य से आकर्षित हुए गुरु दादू द्वारा ही हुआ था। कुछ बड़ा होने पर दादूदयाल ने इनके पिता परमानंद और माता सतीदेवी से इन्हें माँग लिया। संवत् १६६० तक ये उनके पास ही रहे। आठ वर्ष में ही उनकी प्रतिभा ने लोगों को आश्चर्य में डाल दिया। इनके काव्यप्रेम, ईश्वरोपासना तथा वैराग्य को देखकर लोग चकित हो जाते थे।

ग्यारह वर्ष की उम्र में ये विद्याध्ययन करने काशी गए।[2] वहाँ वेदान्तदर्शन तथा योग में शिक्षा ग्रहण कर देशाटन के लिए निकले। इस भ्रमण के कारण इनके ज्ञान में काफी वृद्धि हुई जिससे अनेकानेक ग्रंथों का प्रणयन इनके द्वारा संभव हुआ। सुन्दरदास ने कुल मिलाकर छोटे-बड़े पैंतालिस ग्रंथ लिखे जिनमें 'सुन्दरविलास' और 'ज्ञानसमुद्र' काफी प्रसिद्ध हैं। अन्य ग्रंथ प्रायः साम्प्रदायिक हैं जिनमें सर्वाङ्गयोग पांचेन्द्रिय चरित्र, सुख-समाधि, गुरुकृपाष्टक, विवेक चेतावनी आदि उल्लेखनीय हैं।[3] इनकी मृत्यु साँगानेर में कार्तिक सुदी नवमी (बृहस्पतिवार) सं० १७४६ में हुई।

---

१ कल्याण 'योगाङ्क' पृ० ८१६

२ 'एकादस वरस में त्यागो घरवार सब.
वेदान्त पुरान सुनै वारानसी जाय कै।—'भक्तमाल'।

३ राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा—मो० मेनारिया, पृ० ७६

सुन्दरदास का स्थान संत-साहित्य में बड़ा ही महत्त्व...
...र और दादू के बाद इनका नाम ही आता है। यह सत्य है कि ...नुभव की जितनी गंभीरता कबीर और दादू में थी उतनी इनमें नहीं ...ाई, लेकिन दार्शनिक और साहित्यिक दृष्टिकोण से देखने पर इनका ...स्थान संत-साहित्य के सभी कलाकारों से श्रेष्ठ दिखलाई पड़ता है। संतों की मंडली में विद्वान संत शायद ही मिलते थे—सभी निम्नवर्ग के घुमक्कड़ वैरागी, घरफूँक, दीवाने; 'मसिकागद' छूने से वास्ता नहीं, पोथी-पत्रा से फाल्तू संबन्ध नहीं—आँख खोलकर दुनिया देखी, जो अच्छा लगा सराहा, बुरा लगा फटकारा। सुन्दरदास को इन संतों की पंगत में नहीं बैठाया जा सकता। शास्त्रों के आचार्य कलाविद् विद्वान संत की बात ही कुछ दूसरी थी!

अन्य संतों की तरह सुन्दरदास की रचनाओं में भी परंपरागत गुरु, महिमा, छुआछूत-निरोध, मंदिर-मस्जिद-सम्मिलन आदि पर स्पष्ट विचार मिलते हैं। लेकिन जहाँ दूसरों में कर्कशता मिलती है और सर्वदा उठा-पटक की नियत से कही गई बातें मिलती हैं वहाँ सुन्दरदास की रचनाओं में एक शिक्षित और सुबुद्ध कलाकार की संयत और अलंकृत वाणी सुनाई पड़ती है। गुरु की महत्ता सुन्दरदास के लिए भी ठीक उतनी ही है जैसी कबीर या दादू अथवा पलटू या गरीबदास की थी। सुन्दरदास का गुरु भी विलक्षण पुरुष है। जब 'परमातम सों आतमा जुदे रहे बहुकाल' और मिलने का कोई उपाय नहीं दिखलाई पड़ता, सिर्फ अंधकार में टटोलने पर कुछ भी पाना मुश्किल हो जाता

है—तब गुरु ही दोनों का सम्मिलन करा देता है।[1] यह गुरु कोई साधारण संसारी नहीं है। यह मायामोह-विहीन एक परमसिद्ध 'पुरुष' है जो परमपुरुष से शक्तियों में थोड़ा भी कम नहीं है। सुन्दरदास का कहना है कि गुरु में परमेश्वर से एक विशेषता यह रहती है कि परमेश्वर हमें ज्ञान का पाठ पढ़ाकर मार्ग दर्शन नहीं कर सकता; लेकिन गुरु वैसा करने में सर्वथा समर्थ है और इसी गुण के कारण वह भगवान से ऊँचा उठ जाता है।[2] प्रौढ़ सुन्दरदास को पीछे चलकर यह ज्ञात हुआ कि गोविंद तो हमें नित नए बंधनों में जकड़ने की चेष्टा करता रहता है—मर्त्यलोक में चक्कर लगाने को भेजता है, माया के फाँस में लपेटता है और गुरु सदा उस फंदे को काटने की चेष्टा करता है, आवागमन के चक्र को रोकता है—फिर कौन बड़ा हुआ, गुरु या गोविन्द? गोविन्द के सामर्थ्य से तो जीव रसातल में जाता है, लेकिन गुरु के प्रयत्न से उसे जमफंद से छुटकारा मिल जाता है। गोविन्द जीव को अनेक कर्मों के फेरे में डालता है, लेकिन गुरु की चेष्टाएँ उसे स्वच्छंद घूमने का मार्ग बतलाती हैं। और—

---

१ *परमातम से आतमा जुदे रहे बहुकाल।*
सुन्दर मेला करि दिया सतगुरु मिले दयाल॥
परमातम अरु आतमा उपज्या यह अविवेक।
सुन्दर भ्रम थैं दोय थे सतगुरु कीरा एक॥

२ *परमेसर अरु परमगुरु दोनों एक समान।*
सुन्दर कहत विशेष यह गुरु तें पावै ज्ञान॥

गोविन्द के किए जीव बूड़त भवसागर में।
सुन्दर कहत गुरु काढ़ै दुख--द्वंदे ते॥
और हूँ कहा लौं कछु मुख तें कहूँ बनाय।
गुरु की तौ महिमा अधिक है गोविन्द तें॥

सुन्दरदास एक ज्ञानो संत थे। ज्ञान की मर्यादा का पालन इनकी पुस्तकों में सर्वत्र दिखलाई पड़ता है। 'सुन्दरविलास' में ज्ञानी संतों की काफी तारीफ की गई है। सुन्दर का गुरु इसीलिए पूज्य है कि वह ज्ञान सिखलाता है। संत बनने के लिए ज्ञानी होना जरूरी है। इनके अनुसार बिना ज्ञान के वह निर्लिप्त नहीं रह सकता। जिसके पास ज्ञान का भंडार है वह निर्द्वंद्व पृथ्वी पर विचरण करता है; उसके पास न क्रोध है, न काम; न लोभ, न मोह; न राग और न द्वेष। वह योग और भोग से दूर है, संग्रह और त्याग से भी अतीत है।

राग हू न द्वेष कोऊ सोक न उछाह दोऊ।
ऐसी विधि रहे कहूँ रति न बिरति है॥
बाहरि ब्योहार ठानै मन में सुपन जानै।
सुन्दर ज्ञानी की कछु अद्भुत गति है॥

ज्ञानी में इतने गुण इसलिए चले आते हैं कि वह सत्वगुण को अंगीकार करता है। सुन्दर ने एक दृष्टान्त द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट करने की सफल चेष्टा की है। उनका कहना है कि तमोगुण-सम्पन्न बुद्धि काले तवे के समान है जिस पर सूरज की रश्मियों का प्रतिबिंब नहीं पड़ सकता। रजोगुण-उत्पन्न बुद्धि दर्पण के पृष्ठभाग की तरह है

जिसके बीच 'सूरज की कछुक उद्योत है' लेकिन सात्विक बुद्धि इन दोनों से श्रेष्ठ है। वह वैसी है जैसे दर्पण का मुख-भाग (आरसी की सुधी ओर)। उसके बीच में प्रभाकर की किरणें। पूर्णरूपेण पड़ती हैं और उनका वहाँ बिंब ग्रहण होता है। यहाँ त्रिगुण प्रायः मिट जाता है और वह दर्पण तरणिमय हो जाता है।

ऐसे प्रकाशवान ज्ञानी संतों के साथ रहकर कोई भी जीव मुक्त हो सकता है। अपने प्रकाश से ये दूसरों का तिमिर दूर करते हैं। सुन्दरदास ने इनसे सत्संग करने को जोरदार शिफारिस की है और इन्हें गंगा के समान पापनाशक बतलाया है—

जो कोउ जाय मिले उन सूँ नर होत पवित्र लगै हरि रंगा।
दोष कलंक सबै मिटि जाइसु नीचहु जाइ जु होत उतंगा॥
ज्यूँ जल और मलीन महा अति गंग मिल्या हुइ जातहि गंगा।
सुन्दर सुद्ध करै तत्काल जु है जग माहिं बड़ी सतसंगा॥

इनके समाज में निशिदिन ज्ञान-भक्ति की बातें होती रहती हैं जिसके कारण मन शुद्ध और निर्मल होकर द्वैत के प्रभाव से शून्य हो जाता है, जीव की प्रीति प्रचंड रूप से ब्रह्म के साथ लग जाती है, उसको छोड़ संसार की सारी चीजें फीकी मालूम पड़ती हैं।

गोष्ठी रु ज्ञान अनंत चलै जँह सुन्दर जैसो प्रवाह नदी को।
ताहि तें जानि करौ निसिवासर साधु को संग सदा अति नीको॥

हमारे मन का स्वभाव कुछ ऐसा है कि वह अच्छी चीजों को छोड़ बुरी वस्तुओं की ओर वेग से लपकता है। उसे घेरिए तो छटक जायगा, समझाइए तो सुनेगा नहीं, न नीति देखता है न विधि,

सर्वदा अपने मन के अनुसार चलता है। न गुरु का डर है उसे, न लोकलाज की परवाह है; स्वर्ग की उसे कामना नहीं, ब्रह्म से वह बेफिक्र है। न किसी की सुनना न किसी से डरना—ऐसे उद्धत मन को साथ लिए कितने दिनों तक संसार में हम शुभ कर्म कर सकते हैं? इस चंचल मन को दुरुस्त करने के लिए साधुओं की संगति ही परम श्रेष्ठ ताड़ना है, वहीं उस लोहे को ठोक-पीट कर गला-तपा कर सुन्दर-सुदृढ़ पात्र बनाया जा सकता है। सुन्दरदास का कहना है कि इसके अभाव में तो मन ऐसा उच्छृङ्खल हो जायगा कि 'मन की प्रतीत कोऊ करै सो दिवाना है।' मन पर तृष्णा का जोर खूब चलता है। यही तृष्णा उसे नई-नई रश्मियों की चकमक में लुभाकर पथभ्रष्ट कर देती है। मन की चंचलता और तृष्णा की कुटिलता के संबन्ध में प्रायः सभी संतों ने उक्तियाँ कही हैं। सुन्दरदास के उद्गार देखिए—

जो दस बीस पचास भए सत।
होइ हजार तु लाख मँगैगी॥
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य।
पृथ्वीपति होन की चाह जगैगी॥
स्वर्ग पताल को राज करौं।
तृष्णा अधिको अति आग लगैगी।
सुन्दर एक संतोष बिना सठ।
तेरी तौ भूख कभी न भगैगी॥

इस रोग को दूर करने के लिए सुन्दरदास ने 'राम-नाम की मिश्री' औषधि बतलाई है। इसके अतिरिक्त जितनी औषधियाँ

(जप तप साध योग आदि) हैं वे सब अच्छी नहीं हैं। रामनाम महापापों को भी नाश करनेवाला है। जो कोई 'रामनाम का सुमिरन करता है वह राममय हो जाता है, चिन्रूप ब्रह्म बन जाता है,

जाही को सुमिरन करै है ताही को रूप।
सुमिरन कीए ब्रह्म के सुन्दर है चित् रूप॥

योगी सुन्दरदास में बहुत हद तक कबीर का स्वर साफ-साफ सुनाई देता है। लोकाचार-संबन्धी रूढ़ियों से जितनी विरक्ति कबीर एवं अन्य संतों को थी उससे तनिक भी कम घृणा सुन्दरदास को नहीं थी। इन मिथ्याचारों के खंडन के साथ-साथ योगियों की नारी-भर्त्सना भी सुन्दरदास के हृदय पर बैठ गयी है। योगियों ने सदा से नारी को कोसा, डपटा है, सुन्दरदास के सामने भी नारी नरक के द्वार के रूप में ही आती है। उसके साथ बैठे कि लू लग गई, तनिक सटे कि जल गए। उसका शरीर एक भीषण दर्दनाक जंगल है जिसमें प्रवेश करने पर गुमराह होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। उस वन में घुसकर कोई अबतक बाहर नहीं निकला। नारी की गति में हाथी है, कटि केहरि है और प्रायः सभी अंगों में खूँखार जानवरों का भय है। उसकी काली अलकें नागिनियाँ हैं जो निकट में आनेवालों को डँसने के लिए विकराल जीभ निकाले जोरशोर से लपकती हैं। और—

कुच हैं पहार जहाँ काम चोर रहै तहाँ।
साधि के कटाच्छ बान प्रान कूँ हरतु है॥
सुन्दर कहत एक और उर जा में अति।
राच्छसी वदन खाँऊ खाँऊ ही करतु है॥

नारी का संसर्ग मायाच्छित मानव के लिए ठीक उसी तरह का है जैसे असाध्य रोगग्रस्त व्यक्ति के लिए बाजार से बाजारू मिठाई खाना। नारीयुक्त नर की स्थिति बड़ी भयानक होती है। सुन्दरदास के मन में स्थित नारी के कामिनी-रूप का चित्र देखिए।

रसिक प्रिया रसमंजरी और सिंगारहिं जान।
चतुराई करि बहुत विधि विषय बनाई आन॥
विषय बनाई आन लगत विषयिन कूँ प्यारी।
जागै मदन प्रचंड सराहे नखशिख नारी॥
ज्यूँ रोगी मिष्टान खाइ रोगहि विस्तारै।
सुन्दर ये गति होइ रसिक जो रस प्रिया धारै॥

मेद मज्जा मांस रग रग में रकत भर्यौ।
पेट हू पिटारी सी मैं ठौर ठौर मली है॥
हाड़न सूं भर्यौ मुख हाड़न के नैन नाक।
हाथ पांउ सोऊ सब हाड़न की नली है॥
सुन्दर कहत याहि देखि जिनि भूलो कोई।
भीतर भंगार भरी ऊपर तौ कली है॥

ज्यों अमृरि खाइ के मुखहि न बोले बैन।
टुकुर-टुकुर देख्या करै सुन्दर विरहा ऐन॥

इन विरह-रूप परमाराध्य की ज्योति सर्वत्र फैली हुई है; आत्मा की कामना यही रहती है कि वह 'ज्योति में ज्योति मिलै मिलि जैये।' अद्वैती सुन्दरदास के अनुसार प्रत्येक जीव के भीतर वह प्रकाश विराजमान है, वह 'राम' मौजूद है; भेद केवल इतना ही है कि 'वह है' इसका हमें सांसारिक पर्दे (माया) के कारण ज्ञान नहीं होता। लौकिक स्तर से ऊँचा उठकर देखिए छोटा प्रकाश बड़े प्रकाश का ही अंग दिखलाई पड़ेगा—'दूर किया संदेह सब जीव ब्रह्म नहीं भिन्न'। एक ही कुँए के जल से ईख, अफीम, आम और अनार के पौधों को सींचा जाता है—जल एक ही रहने पर स्वाद भिन्न-भिन्न होता है; मीठा, कड़ुवा, खट्टा और खारा। इसी तरह एक ही स्थान से निकलकर एक ही जगह से बहकर हम सभी संसार के घाट पर दिखलाई पड़ते हैं—परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न हो जाती हैं, उपाधियाँ अलग-अलग मिल जाती हैं और हम एक दूसरे से अलग दिखलाई पड़ते हैं। तत्त्वतः हम सब एक हैं और उसी 'एक' के समान हैं, लेकिन उपाधि संयोग से हम निर्विकल्प जीव विकार-ग्रस्त हो जाते हैं। विशुद्ध आत्मा कीचड़ में मिल जाती है जो जितना ही इस गंदले फाँस से दूर रहने की चेष्टा करता है वह उतना ही अपने पूर्वरूप की शुद्धता लिए रहता है। ईख के रस से भिन्न-भिन्न तरह की मिठाइयाँ बनती हैं, लेकिन फिर उन्हें उनका रस इकट्ठा किया जाय तो 'ईख रस ही लहतु है।' इसी तरह घी से बनी चीजों में से भी रासायनिक क्रिया द्वारा विश्लेषण करने पर घी का

ही परिणाम मिलता है। पानी जमकर बर्फ बन जाता है। देखने पर पानी और बर्फ दो भिन्न पदार्थ दिखलाई पड़ते हैं—न रंग एक न रूप एक; लेकिन बर्फ के चट्टान को ताप देने पर वह पानी होकर ही बहता है! इसी तरह सुन्दरदास का कहना है, यह सारा संसार भी तत्त्वतः ब्रह्ममय है—ब्रह्म का ही यह परिवर्तित रूप है। जगत और ब्रह्म का भेद ठीक उसी तरह है जैसे पानी और बर्फ का।

जैसे पानी जमि के पापाणहू सों देखियत।
सो पापाण फेरि, पानी होय के वहतु है॥
तैसे ही सुन्दर यह जगत हैं ब्रह्ममय।
ब्रह्म सो जगतमय वेद सो कहत है॥

इसी विचार धारा को अपनाते हुए सुन्दरदास ने ब्रह्म के विश्व-व्यापकत्व का प्रतिपादन किया है। इनका सर्वात्मवाद अति पुष्ट है। ब्रह्म प्रकाण्ड अग्निपिंड है और उसकी ज्योति सब में व्याप्त है—

ब्रह्म निरंतर व्यापक अग्नि अरुप अखंडित है सब माहीं।

ब्रह्म और जीव का पार्थक्य स्थूलरूप से स्पष्ट दिखलाई पड़ता है; लेकिन जब मैं-तू का द्वैत मिट जाता है तो बीच का परदा खिसका हुआ मालूम पड़ता है; दोनों विपरीत बहनेवाली धाराएँ आकुलता से एक दूसरे की ओर दौड़ती हैं और जीव का ईश्वर से तादात्म्य स्थापित हो जाता है, वह तद्रूप एवं तल्लीन हो जाता है—'सुन्दर द्वैत उपाधि मिटै जब ईसुर जीव जुदे कछु नाहीं।' यह तल्लीनता पहले इसलिए नहीं हो पाती थी कि आत्मा अपने शुद्ध रूप को पहचानती नहीं थी। जब हम अपने को पहचान लेते हैं तो संसार के पंकिल उपाधियों से

अपने को दूर रखने की चेष्टा करते हैं। हंस दूध और पानी में से दूध को शुद्ध समझकर ग्रहण कर लेता है, जल को त्याज्य समझकर छोड़ देता है। सोने में अनेक द्रव्य मिले हुए मिलते हैं, लेकिन चतुर स्वर्णकार उनमें से शुद्ध सोने को ही तपाकर स्वीकार करता है—ठीक इसी तरह सुन्दरदास जी कहते हैं हमारी आत्मा संसार के मायाजाल में पड़ गई है, उसकी विशुद्धता नष्ट हो गई है और मन को चाहिए कि सारी मलिनताओं को दूरकर, त्रिगुणात्मक जगत के जंजाल को छोड़कर आत्मा के शुद्धरूप को अपनावे। यह तभी संभव है जब हम अपने आप को पहचानने की कोशिश करेंगे। वहाँ 'मैं' का अस्तित्व तिरोहित मिलेगा सिर्फ 'तू' ही 'तू' शेष बचा रह जायगा। यही सांख्य का मत है। सुन्दरदास ने जीव और ब्रह्म के पार्थक्य को निम्नाङ्कित शब्दों में व्यक्त करते हुए यह बतलाने की चेष्टा की है कि वस्तुतः आत्मा का परमात्मा से ही शुद्धरूप में उद्भव होता है लेकिन जगत् में आकर, वह त्रिगुण से युक्त होकर गंदली हो जाती है; इसी विकार को छोड़ देने से सारा प्रश्न हल हो जाता है और विशुद्ध आत्मा विशुद्ध ब्रह्म से मिलने योग्य हो जाती है।—

छीर नीर मिले दोऊ, एकठे ही होइ रहे।
नीर छीर छाड़ि हंस छीर कूँ गहत है॥
कंचन में और धातु मिलि करि बनि पर्यो।
सुद्ध करि कंचन सुनार ज्यों लहत है॥
तैसे ही सुन्दर मिल्यो आतमा अनातमा जू।
भिन्न-भिन्न करें सो तो सांख्य ही कहत है॥

हिन्दू की हद छाड़ि के तजी तुरक की राह।
सुन्दर सहजे चीन्हिया एकै सम अल्लाह॥

अन्त में सुन्दरदास के कवि-रूप पर विचार कर लें। काव्यकला की दृष्टि से निर्गुण संतों में इनका अन्यतम स्थान है। निरक्षर संतों के झुंड में इनकी ऊँचाई दूर से ही देखी जा सकती है। इन्होंने अन्य संतों की तरह सिर्फ सुनी-सुनाई बातें ही नहीं लिखीं—पहले काफी पढ़ा, मनन किया और आत्मानुभव से विषय को हृदयंगम कर उसे कलम की नोक पर रखा। यही कारण है कि इनकी कविताओं में दर्शन का परिमार्जित रूप मिलता है। सांख्य और न्याय इन्होंने जमकर पढ़ा था। सुन्दरदास का व्यक्तित्व सम्पूर्णतः साहित्यिक रंग में सराबोर था। संतों ने प्रायः नीरस पदावलियाँ ही लिखी हैं जिनमें चेतावनी, वैराग्य, नीति और उपदेश के दोहे और चौपाइयाँ खंडहर की ईंटों की तरह बिखरी पड़ी हैं। इस मरुभूमि में जहाँ-तहाँ परमात्म-विरह के पद कुछ जंगली फूलों की तरह फूट पड़े हैं जिनकी सुरभि एक कोने से उमड़कर दूसरे कोने तक पहुँचते-पहुँचते वातावरण की गंभीरता के कारण डरकर गर्द-झाड़ में दुबक जाती है। सुन्दरदास-जैसा गंभीर व्यक्तित्व का संत चूँकि एक कवि-हृदय रखता था, ऐसे मौके पर काफी सरस हो उठा है और उसकी विरहिणी के शब्दों में रसखान, देव और पद्माकर की कोमलाङ्गी भयातुर नायिका बोल उठती है। घनानन्द की 'सुजान' को सुन्दरदास की इन पंक्तियों में आप ढूँढ़ सकते हैं—

'पीव को अंदेसो भारी, तो सूँ कहूँ सुन प्यारी।
यारी तोरि गए सों तौ, अजहूँ न आए हैं॥

मेरे तो जीवन प्रान, निसिदिन उहैं ध्यान।
मुख सूँ न कहूँ आन, नैन उर लाए हैं॥
जब ते गए बिछोहि, कल न परत मोहिं।
ताते हूँ पूछत तोहि, किन बिलमाए हैं॥
सुन्दर विरहिनी को, सोच सखि बार बार।
हमकूँ विसार, अब कौन के कहाए हैं॥

सुन्दरदास की शैली में सरल और कठिन दोनों तरह के पदविन्यास मिलते हैं। जहाँ भाव सरल होते हैं वहाँ भाषा भी बड़ी सीधी और चुलबुली होती है, गहन भावों के प्रकटीकरण में सुन्दरदास दार्शनिक शब्दावलियाँ जुटाने लगते हैं और पद दुरूह हो जाते हैं। ऊपर के उद्धरण की चलती-फिरती प्रवाहमयी शैली और हल्के शब्द-विन्यास को देखिए और 'ब्रह्म से पुरुष और प्रकृति प्रगट भई, प्रकृति से यह तत्व पुनि अहंकार है' जैसी दार्शनिक पंक्तियों से इनकी तुलना कीजिए तो अन्तर एकदम स्पष्ट हो जायगा। इसके अतिरिक्त सुन्दर-दासजी ने सिर्फ दोहे और चौपाइयों में ही कविताएँ नहीं कीं; परन्तु रीतिकाल की बपौती कवित्त और सवैये पर भी अधिकार जमाया। और, तारीफ यह कि सभी छंदों में सफलता के साथ रचनाएँ कीं। संतों में अगर किसी ने छत्रबंध, मुरजबंध आदि बाह्य आलंकारिता को प्रश्रय दिया तो वे एकमेव सुन्दरदासजी ही हैं। इनकी भाषा ब्रजभाषा है जिसमें राजस्थानी के कुछ प्रयोग भी मिलते हैं। शांतरस तथा वेदान्त-संबन्धी कविताओं के रचयिताओं में इनका सर्वश्रेष्ठ स्थान है। संत होते हुए भी ये हास्यरस के प्रेमी थे।

१५ वीं शताब्दी में रैदास का जन्म काशी की एक तंग गंदली गली में हुआ था। रग्घू चमार और घुरबिनिया चमारिन को पुत्र के प्रारंभिक लक्षणों को देखकर काफी प्रसन्नता हुई और उन्हें यह आशा बँधी कि उनका खानदान डूबने से बच जायगा, लड़का होनहार है। लेकिन ज्यों-ज्यों रैदास बड़े होते गए उन्हें घरबार से बहुत कम मतलब रहने लगा और भजन-कीर्तन में मस्त रहनेवाला तथा साधुओं के साथ घूमनेवाला यह नवयुवक अपने बाप को भली आँखों नहीं सुहाया तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं, और इस अपराध पर वह घर से निकाल दिया गया। टूटे छप्पर के नीचे जूते सी-सीकर जीवन बिताना कम कष्टप्रद नहीं था, पर संतों की सेवा का इससे अच्छा रास्ता भी नहीं था—रैदास मस्त होकर, संसार को भूलकर, कीर्तन करने लगे—'रामा हो जग जीवन मोरा।'

रैदास का महत्त्व हिन्दी-साहित्य के भक्तिक्षेत्र में बहुत कुछ इसलिए है कि उन्हें मेवाड़ की रानी मीराबाई के गुरु बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मीरा हमारे सामने स्त्री-भक्त के प्रतीक-रूप में आती है, उसका साहित्य में एक विशिष्ट स्थान है। वह जिसे गुरु के रूप में स्वीकार करेगी, निश्चय है, वह उत्कृष्ट संत होगा।

रैदास की कविताओं में एक भक्त-हृदय की आकुलता मिलती है। दार्शनिक सिद्धान्तों के गहन पचड़े में रैदास नहीं पड़े। उनकी विचारधाराएँ मूलतः कबीर-जैसी ही हैं और भाषा के क्षेत्र में भी

रैदास ने 'राम' को 'सत राम' के रूप में स्वीकार किया है जिसका कोई स्थान नहीं है। जो कहते हैं कि राम शरीरी हो सकता है उनसे रैदास प्रश्न करते हैं—'भाई रे ' राम कहाँ मोहिं बताओ ?' जिस राम को संसार पूजता है, उनका राम उससे भिन्न है—'राम कहत सब जगत भुलाना सो यह राम न होई।' उनका राम ऐसा है—

निरंजन निराकार निरलेपी निरविकार निसासी।
काम कुटिलता ही कहि गावै हरहर आवै हाँसी॥
गगन धूर धूप नहिं जाके पवन पूर नहिं पानी।
गुन निरगुन कहियत नहिं जाके कहौ तुम वात सयानी॥

संसार के प्रत्येक कण में उन्होंने अपने आराध्य की छाया देखी है। ब्लेक ने जिस तरह रेणु में मेरु का दर्शन किया था उसी तरह रैदास ने जड़-चेतन सभी में 'हरिराई' की झाँकी पाई है।—

थावर जंगम कीट पतंगा पूरि रह्यो हरिराई

वह 'एक' ही रैदास का सर्वस्व है—'करता' भी 'हरता' भी। उसे न तो धर्म और अधर्म से भय है, न मोक्ष और बंधन से डर है। जरा-मरण भी उसे नहीं सताते। वह अति सूक्ष्म है [१]।—

सर्वेस्वर सर्वंगी सबगति करता हरता सोई।
सिव न असिव न साध अस सेवक उनै भाव नहिं होई॥
धरम अधरम मोच्छ नहिं बंधन जरा मरन भव नासा।
दृष्टि अदृष्टि गेय अस ज्ञाना एकमेव रैदासा॥

---

१. तुलना कीजिए—'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः।' मुण्डक २।१।२

यह ब्रह्म घट-घट व्यापी है—

अबरन बरन कहै जनि कोई,
घट घट व्यापि रह्यो हरि सोई।

'पूरन ब्रह्म बसै सब ठाँईं।'

रैदास ने नाथपंथियों की तरह इस ब्रह्म को 'निरंजन' कहा है।—

अविगति नाथ निरंजन देवा।
मैं क्या जानूँ तुम्हारी सेवा॥
बाँधू न बंधन छाऊँ न छाया।
तुमहीं सेऊँ निरंजन राया॥

इस 'निरगुन' 'निरंजन' की महत्ता बतलाने के लिए रैदास ने उस लोककथा का आश्रय लिया है जिसके अनुसार कबीरदास सशरीर परलोक चले गए थे। रैदास का कहना है कि यदि निर्गुण की शक्ति देखना चाहते हो तो देखो, कबीर जीवित ही निर्गुण ब्रह्म की उपासना के बल पर स्वर्ग चले गए!—

निरगुन का गुन देखो आई।
देही सहित कबीर सिधाई॥

लेकिन इतना होते हुए भी रैदास ने अनेक स्थलों पर 'आराध्य' को गोपाल, केशव, दीनानाथ के रूप में स्मरण किया है और ऐसा करते समय उनकी वाणी सूरदास और मीरा से भिन्न नहीं मालूम पड़ती। 'जो तुम गोपलहि नहिं गैहो' का स्वर तुलसी की 'विनय-पत्रिका' से दूर नहीं ज्ञात होता। भगवान को पतितोद्धारक मानकर अपने पापों का पिटारा खोलना और 'कामी कुटिल' का सर्टिफिकेट

लेकर भवसागर पार करने की प्रार्थना करना संतों के भजन की शैली नहीं है। निर्गुण संतों को भगवान के अवतार और भिन्न-भिन्न अवतारों में पतितों के उद्धार की कहानी से क्या मतलब? रैदास में सगुण निराकार ब्रह्म के दर्शन होते हैं। वे राम-नाम-जप के प्रसंग में गणिका, अजामिल के तारने की याद दिलाकर वैकुंठ का भी स्मरण करते हैं जिसे सामान्यतः संत स्वीकार नहीं करते।—

ऐसे जानि जपो रे जीव जपि ल्यो राम न भरमो जीव।
गनिका थी किस करमा जोग पर पुरुष सो रमती भोग।
निसिबासर दुष्करम कसाई राम कहत वैकुंठे जाई।
मोर कुचिल जाति कुचिल में बास भगत चरन हरिचरन निवास।

कहीं-कहीं रैदास त्रिदेवों में विश्वास करते दिखलाई पड़ते हैं और शिव की स्तुति ठीक एक शैव की तरह करते हैं। शिव के जिस रूप की वंदना तुलसी आदि ने की है, हूबहू वही रूप इनके यहाँ भी चित्रित है।—

गोबिंदे तुम्हारे से समाधि लागी।
उरु भुअंग भसम अंग संतत बैरागी॥
जाके तीन नैन अमृत बैन सीस जटाधारी।
कोटि कलप ध्यान अलप मदन अंतकारी॥
जाके नील बरन अकल ब्रह्म गले रुंडमाला।
प्रेम मगन फिरत नगन संग सखा बाला।
अस महेस निकट भेस अजहुँ दरस आसा।
कहै राम मिलौं तोहिं गावै रैदासा॥

दीनानाथ के सामने उनकी आकुल तड़प देखिए—

दीनानाथ सुनहु अब विनती कवने हेत विलंब करीजै।
रैदास दास संत चरनन मोहिं अब अवलंबन दीजै॥

कबीरदास ने माया को 'महा ठगिनी' कहकर तिरस्कार किया था। रैदास ने उसे भगवान की विभूति समझकर अंगीकार किया और 'केसव' से ही उसे दूर करने की विनती की।—'केसवे त्रिकट माया तोर ताते विकल गति मति मोर।' पर इस माया से 'भाजि कहाँ अब जैये' और समाधान यही है कि 'भगतजन भवहरन कहिए ऐसे परमनिधान' से नाता लग गया है जिससे 'इत उत तुम गोविन्द गोसाईं तुमही माहिं समैये।'

यह माया ही वह वस्तु है जिसके द्वारा ब्रह्म जगत् में अनेक कौतुक किया करता रहता है। रैदास ने इस कौतुकी परमेश्वर को बाजीगर कहा है और जगत् को बाजी माना है। उनका कहना है कि संसार की सृष्टि का रहस्य जादूगर के मन की मौज है; कोई इस खेल का रहस्य नहीं जान सकता। इस खेल में बाजीगर ही सत्य है, बाजी असत्य है—इसे समझनेवाला सृष्टि का तात्पर्य समझने में समर्थ होता है।—

बाजीगर सों राचि रहा बाजी का मरम न जाना।
बाजी झूठ साँच बाजीगर जाना मन पतियाना॥

यह माया सब को अपने वश में रखती है। इसके बिना 'जोगी तपी संन्यासी पंडित रहन न पावे'। इस जादू के करिश्मे निराले हैं और सभी इस खेल में नाचते रहते हैं।—

बाजीगर के बाजी कारन सबको कौतुक भावै।
जो देखे सो भूलि रहै वा का चेला मरम जो पावै ॥
षड् ब्रह्मण्ड लोक सब जीते येहि विधि तेज जनावै!
सबही का चितचोर लिया है वा के पीछे लागे धावै ॥

यदि जगत् कौतुक है तो फिर जीव की क्या स्थिति है? रैदास ने जगत् को असत्य मानते हुए जीव की भी स्वतंत्र सत्ता नहीं मानी है। जीव परमात्मा का ही अंश है। एक ही ब्रह्म ने अपने को विस्तार करके संसार का रूप धारण किया है। वट का बीज कितना सूक्ष्म है, पर विस्तार कितना व्यापक है उसका—इसे तो सोचिए। वृक्ष अंत में नष्ट होकर बीज ही बीज रह जाता है—व्यापक संसार सूक्ष्म ब्रह्म में तिरोहित हो जाता है जहाँ से एक दिन उसकी उत्पत्ति हुई थी। ब्रह्म और जीव का यही संबन्ध है।—

वट का बीज जैसा आकार।
परस्यो तीनि लोक पासार॥
जँह का उपजा तहाँ बिलाई।
सहज सुन्न में रह्यो लुकाई॥

भक्ति के आवेश में भजन गाते-गाते रैदास भाषा का बंधन ढीला कर देते हैं। उन्हें यह पता नहीं लगता कि फारसी में बोल रहे हैं या लोकभाषा में। संत का हृदय उछल पड़ा, शब्द फूट पड़े—भाषा का ज्ञान रहता ही कहाँ है? ऐसे क्षण रैदास के जीवन में कम ही आए जब उन्होंने फारसी-अरबी मिश्रित बोली में राम का गुणगान किया निम्नांकित पद में ईश्वर सुलतान माना गया है और भक्त उस

कसमसाते हुए नवयुवक के मुँह से आप मलूकदास का यह दोहा सुनकर उन्हें तुरत पहचान सकते हैं—

अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम।
दास मलूका कहि गए सबके दाता राम॥

पता नहीं चलता, 'रतखान' और 'ज्ञानबोध' के गंभीर मलूकदास को भूलकर ऊपर की दो पंक्तियोंवाले आलसी मलूकदास को हम क्यों याद रख सके! वास्तव में मलूक के पास मस्ती और बेफिकी का जो आलम है वह इतना सुहावना और मधुर है कि उसके कारण हम सहसा उन्हें भूल नहीं पाते। उन्होंने इश्क का जाम पी लिया है इसीलिए तन की सुधि नहीं है उन्हें—'हुआ अलमस्त खबर नहीं तन की पीया प्रेम पियाला।' उनकी अवस्था देखिए और सोचते रहिए कि 'सबके दाता राम' का मन्त्र जाननेवाला इसके अधिक और क्या कर सकता है?—

खड़ा रहूँ दरबार तुम्हारे ज्यों घर का बंदाजादा।
नेकी की कुलाह सिर दीये गले पैरहन साजा॥
तौजी और नमाज न जानूँ ना जानूँ धरि रोजा।
बाँग जिकिर तबहीं से बिसरी जब से यह दिल खोजा॥
कहै मलूक अब कजा न करिहौं दिल ही सों दिखलाया।
मक्का हज्ज हिये में देखा पूरा मुरसिद पाया॥

उमरखय्याम ने अपना स्वर्ग शराब की सुराही, काव्य-पुस्तक और कुछ रोटी के टुकड़ों को लेकर एकान्त में, वृक्ष की शीतल छाया में, अपनी प्राणेश्वरी के साथ बिताने में माना था; मलूकदास का संसार भी

'दिल ही सों दिल लाने' में है जब साकी के मतवाले हुस्न पर दीवाना बनकर, उसके रंग में मस्त होकर लड़खड़ाते, पैर बढ़ाते, लटपटाते, होठों से गुनगुना उठते हैं—'तेरा मैं दीदार दीवाना।' अजी, देखो—

ठाढ़ होऊँ तो गिर-गिर पड़ता तेरे रंग मतवाला।'

ऐसे 'दर्द दिवाने बावरे अलमस्त फ़कीरा' के समीप जाकर किसी ने कुछ टोका तो वह ठहाका मारकर हँसते हुए कह उठेगा—'बंधन तोड़े मोह के फिरते हैं निहसंक।' जिस मदिरा को उसने पी लिया है वह बेहोशी का वरदान देती है—जीकर भी मुर्दा बने रहो, मरकर भी जीते रहो। मलूक को इसीलिए न मक्के की जरूरत है, न तांजो और नमाज़ की; न काशी से मतलब है, न द्वारिका से; न शंख से, न घड़ियाल से; न शेख से, न पंडित से; न वेद से, न कुरान से। उसके पास जो कुछ है वह स्वयं है और वह स्वयं ही सब-कुछ है—'यह' भी और 'वह' भी। वह मस्ती की आँधी में उस अटारी पर पहुँच जाता है जहाँ हवा का प्रवेश भी असंभव है—झीना-झीना सूक्ष्म-मार्ग, निर्विकार-निराकार। वहाँ पहुँचकर अपनी साक़ी से वह मिल जाता है—गले लगकर जी की जलन मिटा लेता है, दिल खोलकर।

साहिब मिलि साहिब भए कछु रहै न तमाई।
कहैं मलूक तिस घर गए जँह पवन न जाई॥

मलूकदास इसी 'साहब' की प्रतीक्षा में सारी जिन्दगी बिताने के लिए सन्नद्ध हैं—इन्तजार का मजा लेना चाहते हैं। 'विषय सेती आजिज होके' मलूकदास 'अब तेरी सरन आयो राम' चिल्ला उठते हैं। भगवान के दीनदयालु नाम ने उनपर विचित्र जादू किया है और जिस

दिन से उन्होंने इस नाम के प्रताप का पता पाया है उसी दिन से अपना सब-कुछ पुरुषार्थ छोड़कर एक उसी पर भरोसा किए बैठे हुए हैं— पतवार गिरा दिया है, हवा जिधर चाहे नाव को बहा ले चले। डूब गए तो हवा की बदनामी, पार हो गए तब तो पार ही हैं—

दीन दयालु सुनै जब तें तबतें, मन में कुछ ऐसी बसी है।
तेरो कहाय के जाऊँ कहाँ, तुम्हारे हित की पट खैंचि कसी है॥
तेरो ही आसरो एक मलूक, नहीं प्रभु सों कोउ दूजो जसी है।
ए हो मुरार पुकर कहौं अब मेरी हँसी नहिं तेरी हँसी है॥

जरा अंतिम पंक्ति को एक बार फिर पढ़िए और उसके भीतर छिपे हुए हृदय के असीम दैन्य को देखिए—यहीं 'सबके दाता राम' का कारण दिखलाई पड़ेगा, 'रामधनी पाइके अब का की सरन जाइए' की लापरवाही मिलेगी और सब कुछ छोड़कर एक के भरोसे जीवन का जय-क्षय करने की अटल प्रतिज्ञा मिलेगी। यह प्रतिज्ञा पूरी तब होगी जब एक घूँट प्रेमरस का पान किया जाय—फिर तो मस्ती ही मस्ती है, सारी जिन्दगी ही नहीं, युग-युग तक कभी न उतरनेवाली मस्ती।

कठिन पियाला प्रेम का पियै जो हरि के हाथ।
चारो युग माता रहै उतरै जिय के साथ॥

यह प्रेम गली-गली चिल्ला-चिल्लाकर विज्ञापनबाजी नहीं खोजता। यदि प्रेम का नशा चढ़ गया है तो बकबक बंद कर दो। कहना किससे—उससे, जो सब-कुछ जानता है? जिससे कहना है 'वह' तो 'तू' है—तेरे भीतर की चीज़ ही कहेगी और वही सुनेगी भी। फरियादी ही काज़ी है तो चुप बैठ—'तेरे दिल की गुपचुप उनको खबर हो जायगी'—

जो तेरे घट प्रेम है तो कहिके न सुनाव।
अंतरजामी जानि है अंतरगत का भाव॥

हृदय बार-बार समझाता रहता है 'अपने में है साहिब हमारा, अजहूँ चेतु दिवानी'; लेकिन हम उसकी सुनते कहाँ हैं? साधारण मनुष्यों के मन की यही अवस्था है—माया बराबर उन्हें मार्ग से विचलित करने का प्रयत्न करती रहती है। मलूकदास का कहना है कि यदि चुपचाप उसके इंगितों के पीछे-पीछे हम लुढ़कने चलेंगे तो वह खींचकर हमें इतनी दूर ले जायगी जहाँ से पुनः हरिभक्ति मार्ग पर आना कठिन ही नहीं, असंभव हो जायगा; अतः सबसे सीधा एवं सरल उपाय है कि प्रेम से 'नमो निरंजन निरंकार अविगत पुरुष अलेख' का सुमिरन किया जाय और तब माया का चकमा हमें नहीं छलेगा। 'रच्छपाल अविनासी' की बाँह पकड़ लेने के कारण मलूकदास में माया को खट्टी-मिठी सुनाने का साहस हो आया है; उनकी ललकार सुनिए—

हमसे जनि लागै तू माया।
थोरे से फिर बहुत होयगी, सुनि पैहैं रघुराया॥
तर ह्वै चितै लाज करु जन की डारु हाँथ की फाँसी।
जन तें तेरो जोर न लहिहैं रच्छपाल अविनासी॥
कहै मलूका चुप करु ठगनी औगुन राखु दुराई।
जो जन उबरै राम नाम कहि तातें कछु न बसाई॥

मलूकदास की दृष्टि में भक्त और भगवान का संबन्ध गाय और बछड़े का है। ध्यान में रखना होगा कि इस संबन्ध की विवेचना संतों में किसी और ने नहीं की है और न उनकी मंडली की ज्ञानचर्चा

में इस प्रकार के समर्पण की बात उचित मानी जाती है। सगुण भक्ति की यह विशेषता मलूकदास में इसलिए चली आई है कि उनके निष्कपट हृदय ने ज्ञान को अपनाते हुए भक्ति को उससे दूर नहीं माना। यहाँ तक कि निर्गुण के क्षेत्र में राम की वंदना करते-करते 'ए हो मुरारि पुकार कहीं अब मेरी हँसी नहीं तेरी हँसी है' द्वारा उन्होंने ब्रह्म को सगुण लीलाओं का भी स्मरण किया जो 'मुरारि' संबोधन से स्पष्ट है। हाँ, तो मलूकदास का कहना है कि 'राम' तो संतों के वश में हैं—वे जहाँ उसे नचाते हैं, वहीं वह नाचता है। तुलसी ने एक दिन भक्तों की इस मर्यादा को समझकर घोषणा की थी—'राम ते अधिक राम कर दासा।' मलूक के संतों के पीछे-पीछे भी उनका भगवान चक्कर काटता रहता है, जैसे बछड़े के पीछे गाय दौड़ती रहती है। बछड़े में नादानी है, वह गाय की ममता और स्नेह को नहीं समझता; और तो और, वह अपनी रक्षा भी स्वयं करने में समर्थ नहीं, पग-पग पर खटका लगा रहता है कि कहीं गिर न जाय और इसीलिए उसकी माँ पीछे लगी रहती है—भक्त भी नादान है अबोध शिशु की तरह, अंधकार में रास्ता मालूम नहीं; विषयवासनाओं की खींचखाँच में पैर डगमगाते रहते हैं; भगवान उनका साथ नहीं छोड़ता—इसलिए कि कहीं वह प्रेमी लड़खड़ाकर गिर गया तो ?

जहाँ जहाँ बच्छा फिरै तहाँ तहाँ फिरै गाय।
कहै मलूक जँह संत जन तहाँ रमैया जाय॥

कहा जा चुका है, सभी संत भगवत्प्रेमी होने के साथ-साथ समाज-

की निंदा, अहिंसा की प्रशंसा, सत्संग की शिक्षा और गुरुभक्ति की महत्ता बतलाने में ही इनकी शक्ति खर्च हुई। छोटे संतों से लेकर बड़े संतों तक सभी एक ही स्कूल के विद्यार्थी मालूम पड़ते हैं। मलूकदास इस दृष्टि से अपवाद नहीं हैं। आत्माराम को न पहचानकर जो पत्थरों की पूजा करने के लिए तीर्थों में दौड़ते फिरते हैं उनकी 'कैसेहु मुक्ति न होइगी कोटिक सुनो पुरान।' कृत्रिम देवों को पूजने से क्या लाभ कि तनिक ठोकर लगने पर ही उनका जनाजा निकल जाय!

किरतिम देव न पूजिए ठेस लगे फुटि जाय।
कहै मलूक सुभ आतमा चारो जुग ठहराय॥

और,

देवल पूजै कि देवता की पूजै पाहाड़।
पूजन को जाँता भला जे पीस खाय संसार॥

हरि का हीरा हृदय में बस जाने पर सभी तीर्थ वहीं चले आते हैं—'जिसके हिरदे हरि बसे कोटि तिरथ तिन पास,' इसलिए मक्का, मदीना और द्वारिका जाने की क्या जरूरत। मन को सच्चा करो प्रयाग और काशी तुम्हारे पास है—'राम' को त्रिवेणी के संगम और विश्वनाथ की गली में खोजना व्यर्थ है।

राम राय घट में बसै ढूँढ़त फिरैं उजाड़।
कोइ कासी कोइ प्राग में बहुत फिरैं झख मारि॥

हिंसा के संबन्ध में इनकी अनमोल उक्तियाँ सुनिए—

पीर सभन की एक-सी मूरख जानत नाहिं।
काँटा चूभै पीर ह्वै गला काट कोउ खाय॥

निर्गुण साधकों ने अद्वैतवाद की ओर मोड़कर लोगों को अनीश्वरवादी होने से बचा लिया। बीसवीं सदी के सामने भी अँग्रेजी राज्य की शोषण-नीति थी जिसके कारण लोगों को पार्थिव जगत की ओर से विरक्ति हो गई थी। इस लोक में कोई ऐसा तत्त्व नहीं था जिससे कुछ कहा-सुना जा सके। द्विवेदीयुग ने ब्रह्म की स्थूल भावना को आगे बढ़ाया था—छायावादी युग ने सूक्ष्म की ओर अपनी दृष्टि फेरी। इस युग में कबीर-युग की ही तरह स्थूल-पूजा-भावना का जोश ठंढा हो गया था और सूक्ष्म के सिवाय और कोई चारा नहीं था।

इस प्रसंग में हम देखेंगे कि कबीर की प्रेरणा ही बहुत अंशों तक आधुनिक साधकों की निर्गुण-भावना के पीछे काम करती रही है और सचमुच रवीन्द्र और गाँधी के शब्दों में तो जैसे बीसवीं सदी का कबीर ही बोलता दिखलाई पड़ता है। प्रसाद और महादेवी ने कबीर की 'बहुरिया' को अपनाया है, 'निराला' को कबीर के 'गरीबनेवाज' का रूप अतिप्रिय है और 'पंत' की प्रेयसि कबीर के 'लाल' से भिन्न नहीं दिखलाई पड़ती। मीरा के दिल में जो विरहिणी निवास करती थी वही एक दिन कबीर के हृदय में 'दुलहिन' बनकर तड़प उठी थी और महादेवी की 'मैं' की अँगड़ाई में आँसू बनकर बरस पड़नेवाली तुहिनकणिका भी वही है। कौन जाने, रवीन्द्र के 'आमार माझारे जे आछे से गो कोनो विरहिणी नारी' की आवाज में उसी की झङ्कार सुनाई पड़ती हो !! यह विरहिणी पीड़ा के संसार में निवास करती है—चीखना, तड़पना, पछाड़ खाना इसका स्वभाव है, आँसू इसका जीवन-संबल है। दुःख की रजनी इसके लिए अभिशाप नहीं, वरदान

है। यह विरहिणी कबीर की ओर से 'पिय' से प्रेम करती है, महादेवी की ओर से 'प्रिय' से दिल लगाती है, रवीन्द्र को 'सुन्दर' की ओर जाने का इशारा करती है। सबका प्रियतम निष्ठुर है—बेदर्दी, निर्मोही। पर उसके द्वारा दिया गया दर्द ही संसार की सबसे मधुर चीज बन जाती है—यहाँ तक कि उसके अभाव में जीना मुश्किल है—यही मर्ज है और यही उसकी दवा भी।

(क) कबीर और प्रसाद

प्रसाद मूलतः प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं। उनके 'अरूप' की साधना में लौकिक 'रूप' बाधक बनता है। बहुत बार तो प्रसाद की आत्मा 'रूप' के रस को झाड़-पोंछकर दूर असीम की थाह लेने के लिए उड़ने का सचेष्ट प्रयत्न करती दिखलाई पड़ती है; पर उस रस का गाढ़ापन इतना जबरदस्त है कि पंख फड़फड़ाकर ही पंछी मौन हो जाता है। 'लहर' का कवि अलकों के अंधकार में आँखमिचौनी खेलता रहता है, लेकिन उषा के कपोल की लाली को चूमने के प्रयास में वह इतना दत्तचित्त हो जाता है कि क्षितिज के पार का लोक विस्मृत हो जाता है। कबीर का 'राम' जितना सूक्ष्म है, सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रसाद का ब्रह्म भी उससे कम सूक्ष्म नहीं; किन्तु व्यवहार की दुनिया में प्रसादजी उस सूक्ष्म ब्रह्म की ओर बढ़ने का साहस नहीं कर सकते। हाँ, ब्रह्म के विराट् रूप का दर्शन उन्होंने उतनी ही एकाग्रता से की है जितनी तन्मयता से कबीर ने की थी। सर्वात्मवाद दोनों में काफी पुष्ट है।

प्रसाद झरना की गति में प्रियतम की पदचाप सुनते हैं, प्रभात को देखकर उनका 'मन पवित्र उत्साहपूर्ण-सा' हो जाता है, पावस और वसंत में कवि की वाणी पपीहे की 'पी कहाँ' के रूप में 'निकल-निकलकर भूल या कि अनजान में, लगती है खोजने किसी को प्रेम से।' 'झरना' में कवि ने सारी प्रकृति में 'प्रियतम' का दर्शन किया है; पर यह दर्शन कुतूहल-जन्य ही है, गंभीर दार्शनिक स्तर पर टिका हुआ नहीं। बार-बार 'खोलो प्रियतम, खोलो द्वार' की बेकली सुनाई पड़ती है और 'कौन ?' की जिज्ञासा मिलती है। पथ की दूरी देखकर जहाँ कबीर 'ओ मन धीरज काहे न धरे' कहते हैं और 'जाग पियारी अबका सोवै, रैन गई दिन काहे को खोवै' कहकर आत्मा को आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करते हैं वहाँ प्रसादजी मार्ग की अनन्तता को देखकर आरंभ से ही हताश हो जाते हैं—'दूर ! कहाँ तक दूर ! थका भरपूर चूर सब अंग हुआ।' इसका प्रधान कारण यह है कि कबीर एक विरक्त संन्यासी थे और प्रसाद एक सरस गृहस्थ। यौवन को प्रसाद अंत-अंत तक नहीं भूल सके। जब कभी वे प्रार्थना करने में दत्तचित्त होते हैं 'तभी कामना के नूपुर की हो जाती झङ्कार' और पारलौकिक प्रेम नीचे खिसक आता है। सूक्ष्म प्रियतम की अर्चना करने चलते हैं और स्थूल प्रियतम सामने चला आता है—फिर उसीसे बातें होने लगती हैं। कवि इस दोष से पूर्ण अवगत है। इसीलिए गंभीर चिंतन के क्षणों में कहता है—'सकल कामना स्रोत लीन हो पूर्ण विरति कब पावेगी ?'

यह सत्य है कि साँईं के बिना कबीर के कलेजे में भी हूक उठती है—'साईं बिन दरद कलेजे होई', लेकिन वे यह भलीभाँति जानते

हैं कि भक्ति के झीने मार्ग में इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं, साधक को अविलम्ब अपना सिर देना पड़ता है—'साँई, सेवन में देत सिर कुछ बिलम न कीना रे।' यही दृढ़ता कबीर को यौवन के दिनों में भी लौकिक पंक से बचाए रखती है—वे तब भी ज्ञान-गली में इठलाते चलते हैं। वे प्रेम करने का अर्थ मरना जानते हैं—उनको 'अबिनासी' पिया की पाती मिलती है और 'अब हां मरने को न डराती' का गीत गाते हुए 'प्रेम को कौन सिखावता है त्याग माहीं भोग को पावना जो' का मंत्र जीवन में प्रविष्ट करा लेते हैं। प्रसाद का दृष्टिकोण इस धरातल तक नहीं पहुँच पाया है। उनके प्रेम के मूल में भोग की भावना ही प्रमुख है—त्याग तो बहुत पीछे चलकर आता है। उनके 'अनुनय' में 'निवेदन' और 'प्रार्थना' में अरुण-यौवन के प्रति आसक्ति की ही भावना मिलती है—दर्शन की चाट इतनी कड़वी है कि कवि आजीवन विश्व का सौन्दर्य-निरीक्षण ही करना चाहता है, प्रकृति के इंगित से ही मोक्ष की उपलब्धि करना चाहता है—'जन्म हो, निरखूँ तव सौन्दर्य मिले इंगित से जीवन मुक्ति।'

प्रसाद के अध्यात्म को 'लहर' के बाद थोड़ी स्थिरता और दृढ़ता मिली है। 'कामायनी' में उनका दर्शन पूर्णरूपेण मुखरित है। 'आशा' सर्ग में कवि गहराई में नहीं उतर सका है—वहाँ जिज्ञासा है मुग्धता है, कुतुहल है। लेकिन 'झरना' का 'राम' उन्हें भूला नहीं है। जिस राम के सम्बन्ध में उन्होंने कहा था—

जीवन जगत के विकास विश्ववेद के हो,
परम प्रकाश हो, स्वयं पूर्ण काम हो;

विधि के विरोध हो, निषेध की व्यवस्था तुम
खेद भय रहित, अभेद अभिराम हो।
रमणीय आप महामोदमय धाम, तो भी,
रोम-रोम रम रहे, कैसे तुम राम हो?

यह 'राम' कम सूक्ष्म नहीं है। कबीर के 'राम' की तरह बेहद का वासी नहीं होते हुए भी यह 'निर्गुण' ही है। 'कामायनी' के 'दर्शन' में कबीर का 'बेहद' लोक ही वर्णित है—वह लोक जहाँ 'केवल प्रकाश का था किलोल' और 'मधु-किरणों की थी लहर लोल' जहाँ; 'अन्तर्निनाद ध्वनि से पूरित थी, शून्यभेदिनी सत्ता चित्'; जहाँ स्वर और लय लुप्त हो रहे हैं, सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है, रस ही रस है, प्रकाश ही प्रकाश है !! इसी आनन्द-भूमि में, इसी सुवर्ण-भूमि में, अजस्र रस की वृष्टि होती रहती है, 'आलोक पुरुष' का सूक्ष्म नृत्य चलता रहता है। प्रसाद के शब्दों में कबीर की 'जुगन-जुगन की तृषा' बुझाइए—यहाँ बिना बाजे की झङ्कार है, बिना चंदा की उजियारी है !—

आनन्दपूर्ण ताण्डव सुन्दर,
झरते थे उज्ज्वल श्रम-सीकर;
बनते तारा, हिमकर, दिनकर,
उड़ रहे धूलि कण-से भूधर;
संहार सृजन से युगल पाद—
गतिशील, अनाहत हुआ नाद।

(ख) कबीर और निराला

निराला हिन्दी के प्रमुख दार्शनिक कवि हैं। कबीर के बाद हिन्दी-काव्यक्षेत्र में कोई भी पुष्ट दार्शनिक नहीं मिलता। निराला कबीर की निर्गुण-शृंखला की वर्त्तमान कड़ी के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। उन्होंने अपने उदात्त अद्वैतवादी दर्शन को कविता के सुनहले पर्दे में रखकर व्यंजित करने की चेष्टा की है। कबीर का दर्शन शुष्क है, विशेषतः वहाँ जहाँ उनकी 'बहुरिया' मौन है—निराला का दर्शन मरु-भूमि में कहीं नहीं उमड़ता। निराला ने प्रकृति की रमणीयता में दर्शन को बिखेरकर देखा है--विश्व में जहाँ कहीं भी सौन्दर्य है उसके पास-पास दर्शन को खड़ा करके उन्होंने ब्रह्म का विराट् प्रत्यक्षीकरण किया है। पर ऐसा करते समय कहीं भी दर्शन और काव्य के बीच में दरार नहीं दिखलाई पड़ता।

रामानंद के सम्पर्क में रहकर कबीर अद्वैतवादी बन गए थे, रामकृष्ण परमहंस के शिष्यों के बीच रहकर निराला वेदान्ती हो गए। कवि जब दार्शनिक हो जाता है तो उसकी भावनाएँ द्विगुणित सूक्ष्म होकर अस्पष्ट बन जाती हैं। निराला के काव्य की अस्पष्टता का बहुत कुछ श्रेय उनके दार्शनिक रूप को दिया जा सकता। लेकिन इतना जरूर मानना पड़ेगा कि कबीर आदि अद्वैतवादियों में जहाँ दर्शन की क्रम-शृंखला मिलती है वहाँ निराला आदि दार्शनिकों में किसी विशेष 'मूड' पर जमने की प्रवृत्ति नहीं मिलती।

निराला ने आरंभ में ही कबीर की तरह यह निश्चित रूप से स्वीकार कर लिया है कि इस विश्व के पीछे एक सूक्ष्म महान सत्ता है

जो चाहे जो भी करने में समर्थ है। 'डोलती नाव, प्रखर है धार, सम्हालो जीवन खेवनहार' कहकर आगे बढ़नेवाला दार्शनिक कबीर की बोली में 'कहत कबीर सुनो भाई साधो बहियाँ पकरि के रहिया बताये जइओ' गाता हुआ अपने आराध्य के पास इस विश्वास से पहुँचने का प्रयत्न करता है कि वह उसके जीवन में करुणा की वर्षा कर उसके क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देगा।

भर देते हो
बार-बार प्रिय, करुणा की किरणों से
क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो।

आरंभ में निराला को विश्वास था कि आत्मा और परमात्मा दोनों दो हैं; लेकिन 'तुम और मैं' में यह विश्वास टूट सा जाता है और जीव-ब्रह्म का अनन्य संबन्ध स्पष्ट हो जाता है। इस संबन्ध को कवि ने अनेक रूपकों द्वारा स्पष्ट करने की चेष्टा की है। 'परलोक' शीर्षक कविता में मृत्यु के पश्चात् प्रभु से दर्शन करने की उत्कंठा रखनेवाला जिज्ञासु बार-बार प्रश्न करता है—क्या 'अमरण-रणमय मृदुपदरज' का दर्शन होगा? क्या उनके साथ आलिंगन में कोई विरोध नहीं होगा? बाधा-बंधनहीन, 'अप्रतिहत आलिंगन' संभव हो सकेगा? जो प्रिय उनके जीवन पर मधुर प्रेम को अविरल वर्षा कर रहा है वह निर्दय तो नहीं हो सकता, ऐसा निराला का विश्वास है। यौवन-वन में बहार लानेवाला अवश्यमेव उनके प्रेम को स्वीकार कर लेगा। इसी आशा पर कवि का हृदय उछल-उछलकर कहता है—'मेरे गगन-मगन मन में, अयि किरणमयी विचरो।' अब 'खेया' की

'टूट गई पतवार' का भय नहीं है—नई आशाएँ, नई उमंगें साधक को आगे बढ़ने की प्रेरणा दे रही हैं।

कबीर की विरहिणी आत्मा 'पिया मिलन की आस' में बहुत दिनों तक खड़ी रहती है—'मैं ठाढ़ी विरहिन मग जोऊँ प्रियतम तुम्हारी आस;' उसे 'दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया,' उसके 'नयन थकित भय पंथ न सूझै', बिचारी हार गई है, कबतक प्रतीक्षा करे? झख मारकर अभिसार के लिए निकलती है 'चली मैं खोज में पिय की, मिटी नहिं सोच यह जिय की।' कबीर का साँई 'अगम पुरवा' में बसता है जहाँ उससे मिलने के लिए उनकी आत्मा जा रही है—'पिया ऊँची रे अटरिया तोरे देखन चली।' इसी ऊँची अटरिया पर निराला का प्रेमी भी निवास करता है। 'लज्जिता' में उनकी आत्मा अभिसार के लिए निकलती है—शांत निस्तब्ध रात्रि में अकेले विहार करने। पर बेचारी! केलि-उपवन में पहुँचने पर प्रेम-संगीत की पहली कड़ी के साथ ही उसकी आँखें मुँद जाती हैं, वह सो जाती है, रात बीत जाती है। अभिसार की सारी तमन्ना घुट-घुटकर मर जाती है—प्रभात होते ही उसे लाज लगती है, माई री, कहीं किसी ने देखकर उसे कुलटा समझा तो? वह लौट पड़ती है—नहीं, अब बाग की सैर वह नहीं करेगी!

बिखर गए थे बाल देख सरसिज करते हैं व्यंग,
खड़े हुए थे हरसिंगार भी क्या न जमाते रंग?
लाज ने पकड़ लिए हैं पैर,
करूँगी अब न बाग की सैर,

जान गए सब लोग, किया यह छल क्यों मेरे साथ ?
मुझे क्यों नहीं जगाया नाथ !

कबीर की नारी यह सब पहले से ही जानती है। उसके जीवन में भी ऐसी घड़ियाँ आई हैं जब वह सोती रही है, रात ढलती गई है और प्रियतम दरवाजे पर आकर लौट गया है। वे समझाते हैं—

जागु पियारी अब का सोवै, रैन गई दिन काहे को खोवै।
जिन जागा तिन मानिक पाया, तैं बौरी सब सोय गँवाया।
पिय तेरे चतुर तू मूरख नारी, कबहुँ न पिय की सेज सँवारी।

निराला ने प्राकृतिक उपकरणों के माध्यम से अपने अध्यात्म को व्यक्त किया है। 'परिमल' के अधिकांश चित्र आध्यात्मिक भूमिका पर ही चित्रित हैं। प्रकृति में नायक-नायिका का परस्पर आमोद चलता रहता है—इसी न्याय से कवि सोचता है कि हमारे जीवन में परमात्मा [illegible] में आत्मा के साथ आँखमिचौनी खेलता रहता है। 'जुही [illegible] 'शेफालिका' शीर्षक रचनाएँ इसी तथ्य को व्यक्त करती [illegible] मानकर यदि सारी कविता

शोक-दुःख जर्जर इस संसार की चुद्र सीमा
पहुँचकर प्रणत छाए
अमर विराम के
सप्तम सोपान पर

'जुही की कली' में कबीर की दुलहिन के घर 'राजा राम भरतार' चले आए हैं—पवन चुपके आकर कली से प्रणय-क्रीड़ा करने लगता है। इस कली को इतना सौभाग्य मयस्सर नहीं हुआ कि वह कबीर की तरह उनके 'चरन पखारुँ, बदन निहारुँ, तनमन-धन सब साईं पै वारुँ' गाती हुई मचल-मचलकर पड़ोसियों को सुना आए—'पीतम साहेब आये मेरे पहुना, घर आँगन लगै सुहाना।' जुही की कली (आत्मा) अपने वृंत (मोह) पर सोई (माया) हुई है। पवन (परमात्मा) उसका प्रियतम है— सूक्ष्म, असीम। इस विराट् को क्षुद्र कली के प्रति आसक्ति जाग्रत हो गई है। वह धीरे-धीरे उठाता है—मधुर-स्पर्श से, वह नहीं जागती। निद्राभिभूत नायिका यौवन की मदिरा (सांसारिक वासनाओं) में मस्त होकर सोती रही। नायक ने तनिक कड़ाई से 'सुन्दर सुकुमार देह सारी झककोर डाली' और इससे वह युवती चौंक उठी, अलसाई आँखों से उसने उस विराट् को भर आँखों देखा और फिर वह टिक न सकी—कली झर जाती है, क्षुद्र बिन्दु विराट् उदधि में मिल जाता है!

हेरे प्यारे को सेज पास
नम्रमुखी हँसी—खिली—
खेल रंग प्यारे संग।

कभी-कभी निराला की प्रकृति परमात्म-दर्शन के लिए भीषण तप करती है और इसी के अनुरूप उनकी आत्मा भी अनन्त की झाँकी के लिए दीर्घकाल तक आतप की लू में झुलसती रहती है, विरह की भट्ठी में जलती रहती है—

जला है जीवन यह आतप में दीर्घ काल;
सूखी भूमि, सूखे तरु, सूखे सिक्त आल—वाल,
बंद हुआ गुञ्ज, धूलि-धूसर हो गए कुंज;
किन्तु पड़ी व्योम-उर बंधु, नील-मेघ माल।

इस मरुभूमि की ज्वाला में कवि की साधना ने यदि मेघमालाओं को अनन्त के छोर से खींचकर वर्षा करने को बाध्य कर दिया तो क्या यह कम गौरव की बात है?

'नए पत्ते' में कवि को और अधिक प्रौढ़ता मिली है। 'परिमल' में अभिसार करते समय विफल होकर उसके अंतर की विरहिणी लौट आती है। अब वह सोचती है कि जब उसके प्रिय को अभिसार की बात मालूम हो चुकी है तो लौटना कैसा? 'कण-कण कर कङ्कण' 'किण किण रव किङ्किणि' और 'रणन-रणन नूपुर बज उठते हैं' तब तो प्रिय ने अवश्य ही उसकी पगध्वनि पहचान ली होगी। अब उन चरणों को छोड़कर दूसरे की शरण में जाना तो मुश्किल है; चलो, वहीं जो होगा, होगा!

शब्द सुना हो, तो अब
लौट कहाँ जाऊँ?

उन चरणों को छोड़
शरण कहाँ पाऊँ ?

कबीर ने ब्रह्म को मंदिर-मस्जिद, काशी-काबा आदि तीर्थस्थानों में खोजने की जगह पर दिल में खोजने पर अधिक ज़ोर दिया है। 'घट ही खोजो भाई' का स्वर निराला में ठीक उतनी ही ऊँची आवाज में सुनाई पड़ता है जितनी ऊँची आवाज में कबीर ने यह चोट लगाई थी। 'मो को कहाँ ढूँढ़ै बंदे मैं तो तेरे पास में' कहनेवाला निम्नांकित पंक्तियों के वक्ता से दूर खड़ा नहीं दिखलाई पड़ता—

पास ही रे हीरे की खान,
खोजता कहाँ और नादान !

'तेरा साँई तुज्झ में' की भावना हृदयंगम करनेवाला साधक सहसा यह समझकर चौंक उठता है कि उसके अंदर एक अज्ञात वीणा बजने लगी है—यह सब क्या हो रहा है? क्या वही मेरी धड़कनों में बोल रहा है?

अब तक मैं भूली थी क्या, बता,
उनका क्या यही सही है पता ?
वे ही क्या, मेरे उर की लता
हिल उठती जिन्हें देख उर में—
वह रूप जगा उर में।

एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जहाँ कबीर ज्ञान को सर्वोपरि मानकर साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ते हैं वहाँ निराला भक्ति को ही श्रेष्ठ मानते हैं। यहाँ वे एक वैष्णव अद्वैती बन जाते हैं। पंचवटी

प्रसंग में उन्होंने स्पष्टतया यह घोषणा की है—'मुक्ति नहीं चाहता मैं भक्ति रहे, काफी है।' इस भक्ति की डोर को पकड़कर साधक आनंद-लोक में पहुँचने का प्रयत्न करता है। जब उसकी आत्मा आवरणों को भेदकर, घूँघट का पट खोलकर उस असीम देश में पहुँचती है तो वहाँ भी उसी तरह की अविचल शांति विराजमान रहती है जैसे कबीर के 'बेहद' लोक में रहती है। वहाँ सारी थकावट दूर हो जाती है, सीमा के बंधन टूट जाते हैं, और—

विस्तृत अनन्त पथ
गगन का मुक्त हुआ,
मुक्त पंख उज्ज्वल प्रभात में
ज्योतिर्मय चारों ओर
परिचय सब अपना ही।
स्थिति में आनन्द में चिरकाल
जाल-मुक्त !

कबीर और निराला को अनंतपथ के पथिक के रूप में देखने के पश्चात् थोड़ी देर के लिए हम उन्हें विश्व की पगडंडी पर चलनेवाले बटोही के रूप में देखें। दोनों का व्यक्तित्व एक-सा है—एक ही मस्ती, फक्कड़पन, दीवानापन। खुशामद किसी को प्रिय नहीं, रुपये सँजोने की किसी को फिक्र नहीं—न मान की इच्छा, न अपमान की परवाह। कबीर के युग ने उन्हें हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य-भावना को उद्घोषित करने का संकेत किया—वैरागी समाज-सुधारक बन गया। निराला के युग ने पीड़ितों की ओर उँगली उठाकर मानवता की

चीखें सुनाने का प्रयत्न किया—कवि क्रान्तिकारी बन गया। क्रांतिकारी कवि ने समाज के शोषकों को गालियाँ दीं, पीड़ितों को विद्रोह के लिए जगाया—कैपिटलिस्ट की मरम्मत की, 'कुकुरमुत्ते' को सहकाया। विद्रोही आत्मा कैपिटलिस्ट पर तीर छोड़ती है—

खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतराता है कैपिटलिस्ट,
बहुतों को तूने बनाया है गुलाम,
माली कर रखा खियाया जाड़ा घाम

साहित्य के क्षेत्र में कबीर ने पोथी-शैली को छोड़कर जिसपर अपनी 'आँखिन देखी' शैली को अपनाया था, निराला ने भी छंद, भाव और भाषा की दुनिया में तहलका मचाकर 'मैंने 'मैं' शैली अपनाई' की दुंदुभी बजाई। पिछले पृष्ठों में दर्शन और विरह की मधुर कविताएँ लिखनेवाले कवियों को जीवन-संग्राम में इस तरह लंगोट बाँधे खड़ा देखकर इतना आश्चर्य होता है कि हम सहसा दोनों धाराओं को एक ही व्यक्तित्व में सिमटा नहीं पाते !!

(ग) कबीर और महादेवी

आत्मा और परमात्मा के प्रेम-संबन्ध को व्यक्त करनेवालों में कबीर और महादेवी की अन्यतम जोड़ी है। दोनों का प्रियतम निराकार है—वह 'अनन्त रमणीय' इतनी दूर रहता है जहाँ पहुँचने की शक्ति दोनों में किसी को नहीं है। दोनों प्रेम का संबल लेकर आगे बढ़ते हैं—कबीर की दुलहिन के आँसुओं में ज्ञान की ज्योति है इसलिए

उसकी तड़प के पीछे एक मर्यादित पृष्ठभूमि है, एक सम्हलकर चलनेवाला दृष्टिकोण है; महादेवी के लिए आँसू ही सब-कुछ हैं—उनका विरह कबीर की तरह किसी दिन समाप्त होनेवाला नहीं है, वे चिर सुहागिनी हैं, चिर-विरहिणी हैं; जन्म-जन्मान्तर तक तड़पते रहना, रोते-चीखते रहना उनके भाग्य में बदा है। कबीर के लिए जो दुःख है (दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै) वही महादेवी के लिए प्रिय का सुन्दर वरदान है, उसे वे हटाना नहीं चाहतीं—'पीड़ा मेरे मानस से भींगे पट-सी लिपटी है।', विरह के मार्ग में महादेवी न कहीं आरंभ मानती हैं, न कहीं अंत; बस चलते जाना है, चलते जाना है—'अलि, विरह के पंथ में तो मैं न इति-अथ मानती ही !'

कबीर ने 'माया महा ठगनि हम जानी' कहकर विषय की उपेक्षा की थी, उसके आकर्षणों को ठुकराया था, महादेवी ने इसी परिस्थिति में 'सखे, यह है माया का देश' कहकर सांसारिक क्षणभंगुरता से अपने हृदय को खींचकर अनन्त के पथ पर ला खड़ा किया। शिक्षिता महादेवी ने अपनी भावनाओं का क्रमिक विकास दिखलाकर आत्मा के परमात्मा की ओर उन्मुख होनेवाली सारी अवस्थाओं तथा पथ की बाधाओं आदि की सारी चर्चा प्रस्तुत की है, अशिक्षित कबीर वैसा नहीं कर सके। महादेवी को पहले भगवान की सत्ता अपने से पृथक् दिखलाई पड़ती है, उनका 'निजत्व' ब्रह्म में मिल जाने में हिचकता है—'सजनि मधुर निजत्व दे कैसे मिटूँ अभिमानी मैं।' लेकिन धीरे-धीरे बीच का पर्दा हटता जाता है। दरियाव और लहर एक ही मालूम पड़ने लगते हैं। साधिका यह अनुभव करने लगती है कि यह

संसार टिकाऊ नहीं है, यह नैहर है, यहाँ चार दिन खेलकर फिर साँई के घर जाना है। उन्हें उस प्रिय का निमन्त्रण मिलता रहता है—रात्रि में सुरभि बनकर वह थपकियाँ देता है, प्रभात को स्वप्नशाला में वही यवनिका डाल देता है, कलियों से इशारा करता है, तड़ित की मुस्कान से बुलाता है; संध्या उसकी दूती है--

आज किसी के मसले तारों की वह दूरागत झंकार,
मुझे बुलाती है सहमी-सी झंझा के परदे के पार।

इस आह्वान को पाकर एक दिन कबीर की सुहागिन 'पिय' से मिलने के लिए मचल उठी थी, आज महादेवी भी अभिसार के लिए प्रस्तुत हो रही हैं, स्वप्न-सुमनों से शरीर को अलंकृत कर, विरह का उपहार लेकर, अगणित युगों की प्यास का अंजन लगाकर साधिका आगे बढ़ती है; उसके पास मधुर स्मृति का पाथेय है जिसके कारण वह अपार विरह के पथ को भी हँसते-हँसते तय कर लेगी। थकना उसने सीखा नहीं है--

पंथ रहने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला!
अन्य होंगे चरण हारे,
और हैं जो लौटते, दे शूल को संकल्प सारे;
दुखव्रती निर्माण उन्मद,
यह अमरता नापते पद,
बाँध देंगे अंक-संसृति—
से तिमिर में स्वर्ण-वेला!

कबीर भी प्राणों का दीप। जलाकर गोद में लिए चले हैं—रात अँधेरी है, पर इससे क्या? चलना तो है ही और प्रेमरस की बूँदों से जब चुनरी लहालोट हो रही है, तो ठिठक कैसी!

भीजै चुनरिया प्रेमरस बूंदन
आरती साजि कै चली है सुहागिनि
प्रिय अपने को ढूँढ़न।

महादेवी 'उपासक ही होगा आराध्य' का दृढ़ सिद्धान्त हृदय में रखे प्रिय के पथ में आगे बढ़ती हैं। घोर अंधकार में जलता हुआ दीपक क्षण-क्षण प्रभात के प्रकाश की ओर बढ़ता जाता है—जैसे-जैसे दीपक जलता है, साधना का पथ भी पुष्ट होता जाता है—'दीप-सी मैं, आ रही अविराम मिट-मिट स्वजन ओर समीप-सी मैं।'

कबीर का ब्रह्म घट में निवास करता है। उसको इधर-उधर खोजने की आवश्यकता नहीं। विरहिणी उत्कंठा के क्षणों में पाती लिखकर भेजना चाहती है, लेकिन उसे यह बोध हो जाता है कि वह कहीं बाहर रहे तब न उसे पत्र लिखा जाय, वह तन में, मन में, प्राण में रम रहा है उसे संदेश भेजने की क्या जरूरत? महादेवी भी विरहातिरेक में पत्र लिखने बैठती हैं; लेकिन इतनी बेसुध हो जाती हैं कि लिखती हैं कुछ और, लिखा जाता है कुछ और। उनका प्रिय नयन-पथ से आकर सपनों में समा गया है, प्यास में घुलकर, साध में खिलकर वह रोम-रोम में रम रहा है—अजी, वह तो साधिका में ही है, उसके पास दूत भेजना कैसा!

ध्वनि है केवल पहिचानो'—सिर्फ सूक्ष्मता से उसका वे अनुभव ही कर पाई हैं, कबीर के 'गूँगे की री सर्करा बैठा मुस्काई' की तरह।

महादेवी इस लोक को छोड़कर जाना इसलिए भी नहीं चाहतीं कि उन्हें वेदना में रहकर तड़पने में जो आनन्द आता है, वह शायद उस लोक में न मिल सके—जो मजा इन्तजार में पाया, वह न वस्ले यार में पाया। मिलन होते ही विरह का अंत हो जायगा—'लीनता ही सीमा का अंत'—इसीलिए कभी तृप्ति नहीं चाहतीं; वे चाहती हैं हरदम बेचैनी, प्यास, आकुलता। तृप्ति से प्रयत्न के पंगु हो जाने का डर है इसीलिए साधिका अपनी आँखों को सर्वदा तृषित ही रखना चाहती है—

मेरे छोटे जीवन में देना न तृप्ति का कण-भर;
रहने दो प्यासी आँखें भरती आँसू के सागर।

उनकी चिर-साधिका रहने की आकांक्षा ने मुक्ति को सदा हेय दृष्टि से देखा है। साधना की पीड़ा में ही शायद वे उसे ढूँढ़ लेंगी—यदि ऐसा करते समय विश्व के कण-कण से उनका परिचय हो गया तो वे इसे ही विराट् से मिलन समझ लेंगी। वे बार-बार जन्मग्रहण करना चाहती हैं, अनेक जन्म तक तड़पने के लिए। बंधन उन्हें अति प्रिय है, बंधनों के बीच में ही वे मुक्ति की रानी बनना चाहती हैं, उनके हृदय को बंधन में ही अभिमान है, मुक्ति भी बंधनों की कामना लेकर ही उनके सामने उपस्थित होती है—'बंदिनी बनकर हुई मैं बंधनों की स्वामिनी-सी।' वे व्यथा के छंद गाती जाती हैं, पर कभी भी उसका अंत नहीं आता—'पर न मैं अबतक व्यथा का छंद अंतिम गा चुकी हूँ।'

कबीर का दर्शन महादेवी के दर्शन से थोड़ा जटिल और शुष्क है। महादेवी की कविताओं में रस की निर्झरिणी बहती है जिसमें हम अनचाहे भी गोता लगा लेते हैं। लेकिन इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि जहाँ कबीर ने अपने 'राम' को अतिसूक्ष्म बनाकर हमारे सामने रखा है वहाँ महादेवी का 'प्रिय' सूक्ष्म होते हुए भी सगुण है। कबीर में हमें निर्गुण-निराकार के दर्शन होते हैं, महादेवी में सगुण निराकार के—यह इसलिए कि शायद कबीर पुरुष है, महादेवी नारी; शंकराचार्य के शिष्य कबीर ही बन सकते हैं, महादेवी नहीं, और मीरा की सहेली महादेवी ही बन सकती हैं, कबीर नहीं !!

(घ) कबीर और पंत

पंत की आत्मा प्रकृति के बीच चहकती हुई जीवन की अँगड़ाइयों से परिचय प्राप्त करती है। प्रकृति-शून्य जीवन जैसे उसे स्वीकार नहीं है, वैसे ही प्रकृति-निरपेक्ष ब्रह्म भी उसे ग्राह्य नहीं। ब्रह्म के 'गूढ़ नीरव गंभीर प्रसार' और 'न इसका ओर-छोर रे पार' समझकर पंत उस 'अमन्द, अनिंद्य, अशेष' की सूक्ष्मता पर आश्चर्य-चकित हो जाते हैं। वे समझते हैं कि मानव को ऊपर उठकर उस असीम से मिलने में तो काफी समय लगेगा, किन्तु यदि वह अशेष अपनी स्वर्ण-किरणें बरसा दे तो यह पृथ्वी ही स्वर्ग बन जाय और ब्रह्म जगत् में विचरण करने लगे। इसीलिए कवि ने उस सूक्ष्म सत्ता से आग्रह किया—'जग के उर्वर आँगन में बरसो ज्योतिर्मय जीवन !' पंत का ब्रह्म कहीं प्रेयसी है, कहीं चिर-सहचरी, कहीं माँ, कहीं देवि और कहीं प्राण। आत्मसंतोष के लिए कवि उस असीम का रूप वर्णन करता है—

स्वच्छ कुंद की कलियों का तन
सुरभि-रहित-सौरभ का शुचि मन,
ज्योत्स्ना से गुंठित शशि आनन,
अवनि, अनिल, आकाश में बसी।'

कबीर का निर्गुण 'राम' पंत में 'जड़-चेतन से परे अगोचर' विश्व-सुंदरी के रूप में प्रकट हुआ है—वह अस्पृश्य है, अदृश्य है। कवि उस सुन्दरी के लिए अनन्त-प्रतीक्षा करता है। जब वह सपनों के सहारे उसके पलकों में आती है तो 'सब रूप, रेख, रंग ओझल' हो जाते हैं, वह 'अनुभूतिमात्र-सी उर में आभास शांत, शुचि उज्ज्वल बनकर निवास करने लगती है। वह संसार में घुलमिल गई है, विश्व की सीमाएँ उसमें तिरोहित हो गई हैं; पंत के शब्दों में—

वह है, वह नहीं, अनिर्वय,
जग उसमें, वह जग में लय,
साकार - चेतना - सी वह
जिसमें अचेत जीवाशय!

ऐसी सूक्ष्म सत्ता से इश्क फरमाते समय पहले पंत को काफी परेशानी उठानी पड़ती है। प्रारंभिक अवस्था में उनका मन 'कौन' की विभीषिका से आक्रांत रहता है—सर्वत्र उन्हें एक 'मौन-निमंत्रण' मिलता है, जाने किसका! फिर उन्हें पता नहीं चलता कि उनके जीवन के आँगन में ओसोंकी माला बिखेरनेवाला कौन है, प्रत्येक दिशा में एक ही क्षण में हास-अश्रु का सजल-ज्वाल फैलानेवाला कौन है;

जिसमें बिजली तड़पती है उस व्याप्त नीलघन के अगाध निस्तल का रहस्य कौन छिपाए बैठा है, इन्द्रधनुष में किसकी किरणें प्रतिबिंबित होती हैं? किसको? वह प्रकृति के प्रत्येक हास-विलास को आँख फाड़कर देखता है और तब उसे सूक्ष्म अलक्ष्य विश्व-सुंदरी का आभास मिलता है—वेदों ने उसी के लिए 'नेति' कहा था—

लौट-लौट आते तट छूकर वाद-विवाद शास्त्र षड् दर्शन,
सतत डूबते उतराते सुख दुख इच्छाएँ जन्म औ' मरण!
श्याम, विश्व घनश्याम, गहन घनश्याम रहस्य अनंत चिरंतन,
चिर अनादि अज्ञेय, पार जा पाते नहीं चक्षु वाणी मन!

इस विश्व-सुंदरी को पंत ने विश्व में खंडशः देखा है, बिखराकर देखा है। वह प्रकृति के कण-कण में व्याप्त है। पंत का यह विश्वास है कि 'चिर अमूर्त ही भव में मूर्तित' होकर अनेक रूप-रंगों में अपने को विभक्त करता है। यहाँ आकर पंत कबीर के विश्वात्मवाद के कायल हो जाते हैं और लाल की लाली से समग्र सृष्टि को रक्तिम देखने लगते हैं। कवि विश्व के कण-कण में उसका मधुरिम हास देखता है—गृह,वन, उपवन में उसकी मुस्कान लोट रही है; पिक की मधुर पुकार में अमृत झर रहा है। प्रभात में स्वप्निल गान गाकर वह संसार को स्तंभित कर देती है, संध्या की झिलमिली में अपना वातायन खोलकर छींटदार पर्दे के भीतर से झाँकती है, फूलों में पराग बनकर उड़कती फिरती है—सारे विश्व में एक मादक तान भर देती है जिसमें ऊँघता हुआ जीवन रोमांचित हो उठता है—

मुक्त पंखों में उड़ दिन-रात
सहज स्पन्दित कर जग के प्राण
शून्य नभ में भर दी अज्ञात
मधुर जीवन की मादक तान।

कवि उसकी मधुरिमा से अवाक् होकर पूछ बैठता है—

किन स्वर्गिक शिखरों को छूकर
बहता आज समीरण मंथर!
गंधहीन निज सूक्ष्म गंध से
सहसा प्राणोज्ज्वल कर अंतर!

'प्रिय मुझे यह विश्व सचराचर' का वैतालिक सम्पूर्ण विश्व में अध्यात्म की एक लहर देखता है। 'घनीभूत अध्यात्म तत्त्व से जिससे ज्योति सरित शत निःसृत' का कवि ब्रह्म को विश्व में इतना व्याप्त देखता है कि कभी-कभी उसे शंका होने लगती है कि कहीं उसका मन ही तो उत्तोलित होकर सर्वत्र व्याप्त नहीं हो गया है! शायद कवि के प्राण गीतों के पंख पसारकर उस असीम से एकाकार हो जातेहैं और 'प्राण में तुम औ' तुममें प्राण' की स्थिति में सारा विश्व ही 'मैं' मालूम पड़ता है, 'मैं' भी विराट् हो जाता है—'बीज में लय फिर हुआ अनंत'। यहाँ कवि को पता चलता है कि जिन किरणों को वह अनन्त की ज्योति समझता था, हो सकता है, वे इसी 'मैं' की ही ज्योति हों—आखिर 'मैं' 'तू' ही तो है! उसे ऐसा लगता है कि असंख्य पिंडों में व्याप्त ज्योति उसे पुकार-पुकारकर कहती है—यह तुम्हारी ही ज्योति है, मेरी ज्योति भी तुम्हारी ही है, तुम्हारी ही है!!

—

नाच रही जो ज्योति ज्योति-पिंडों में वैभव भास्कर,
कहती वह, यह छाया मेरी नहीं तुम्हारी भूचर!
छोड़ो युग-युग का छाया मन, वरो ज्योति मन भव जन!
प्राक्तन जीवन बना भाग्य, चेतना मुक्त हो नूतन!

ऐसा कहने का साहस शायद कबीर को नहीं था। इसलिए कि वे ज्ञानी थे, भक्त नहीं। 'ईश्वर पर चिर विश्वास मुझे' कहकर चलनेवाला भक्त 'तेरी मधुर-मुक्ति ही बंधन' कहने का जो साहस करता है वह कबीर कभी नहीं कर सकते। उसके समान सर्वतोभावेन समर्पण भी कबीर से नहीं बन सकता—

चरण कमल में अर्पण कर मन,
रज रंजित कर तन
मधुरस मज्जित कर मम जीवन
चरणामृत आशय में।

लेकिन इतना ध्यान में रखना होगा कि यह समर्पण और आत्म-निवेदन कबीर इसलिए नहीं कर सके कि उनका ब्रह्म सूक्ष्मतम है, पंत इसलिए कर सके कि उनकी विश्व-सुन्दरी सूक्ष्म होते हुए भी साकार-सी है। कबीर के आत्मसमर्पण में हम एक हीन-परिज्ञान की भावना इसलिए पाते हैं कि साधक अपने 'राम' के सामने अपने को इतना लघु मानता है जिसका ठिकाना नहीं—पंत ने विश्व-सुन्दरी को प्रकृति के कण-कण में देखा या प्रकृति में ही उस विश्व-सुन्दरी को देखा और इस भावना ने उन्हें यह सिखलाया कि तुम भी महान हो, मानव भी श्रेष्ठ है, पृथ्वी स्वर्ग से तुच्छ नहीं, उससे श्रेष्ठ ही है—और, इसी विचार-

धारा ने पंत को बोलने का साहस दिया—'मानव के देवत्व से ग्रथित जन-समाज जीवन हो निर्मित।' लेकिन मानव के लोक में स्वर्ग की प्रतिष्ठा करने के लिए मानव-मन को उन्नत बनाना आवश्यक है। यहाँ आकर पंत को कबीर के मार्ग-दर्शन से काम लेना पड़ता है। बाहर के देवों को छोड़ दिया, ठीक है; स्वर्ग को तोड़ो, नई सृष्टि का नर्माण करो, सब सही है—लेकिन यह सब तभी संभव है जब 'घट' को ठीक बनाया जाय। 'अच्छा हो, भू पर ही विचरे यह भू का प्रेमी मानव' कहने के बाद 'अंतर का रूपांतर हो' कहना पड़ेगा जिससे 'नवचेतना विकास धरा को स्वर्ग बना दे चिर सुन्दर!' यहाँ पंत को ज्ञान हो जाता है कि 'घट' के भीतर ही सब-कुछ है, ब्रह्म भी है, उसकी शक्तियाँ भी है। माया भी है और उसका कलुष भी है—एक भी है, अनेक भी है। कलुष को हटाकर 'मानवपन' को आगे बढ़ाना होगा तभी मानव का कल्याण होगा। कवि का यह आत्मबोध कम महत्त्व का नहीं है,—कबीर के 'सकल दिसा तें सोधि करि पाया घट ही माँह' का और भी व्यापक दर्शन कीजिए—

मेरे भीतर परिभ्रमित ग्रह,
उदित अस्त शशि दिनकर,
मैं हूँ सबसे एक, एक रे
मुझसे निखिल चराचर।

यही पंत का विराट् सर्वात्मवाद है—कबीर-जैसा!

लेकिन इतना समझने के बाद भी क्या रहस्यवादी को शांति मिलती है? 'मोरा पिय मोही माहीं बसत है' कहकर भी कबीर की

नारी अभिसार की तैयारी करती है, 'प्रिय मुझ में खो गया' कहकर भी महादेवी 'आज रात श्रृंगार करूँगी' कहती हैं। 'अलख अटरिया' पर बसनेवाले साजन को रिझाने के लिए कबीर रंगसाज से चुनरी रंगवाते हैं। पंत क्यों पीछे रहें, वे भी रंगरेज को कहते हैं 'रंग दो मेरे उर का अंचल युग युग के आँसू से गीला।' अपनी आत्मा को बढ़ने के लिए उत्साहित करते हैं—'बढ़ो अभय विश्वास चरण धर।' इस साधिका को पहले से ही इस बात का विश्वास है कि 'अन्तर्यामी पुरुष करेंगे निश्चय उसका नवपथ ज्योतित।' पंत की विरहिणी जानती है कि उसका पंथ अनन्त है फिर भी वह घबराती नहीं, थकती नहीं—'इति' 'अथ' का पता नहीं, कोई परवाह नहीं वह बढ़ती जायगी; उसके पास चिर प्रतीति का संबल चाहिए, बस।

मैं न थकूँगा हो अनंत पथ,
जरा-मृत्यु से तन मन लथपथ,
ज्ञात न हो जीवन का इति-अथ,
चिर-प्रतीति का दो पथ संबल !

इस मार्ग में जो कुछ भी दिखलाई पड़ता है वह सुन्दर है, सुन्दरतम है—अंधकार, प्रकाश, मन, सुख, दुख, नूतन-पुरातन सभी सुन्दर हैं, सर्वत्र शांति है, सर्वत्र उल्लास है। कबीर के 'बेहद' देश का मार्ग भला 'स्वर्णिम मरंद से सुरभित' क्यों न हो ! पंत को तो किसी का नीरव पदचाप भी सुनाई पड़ने लगता है—'बज उठा जीवन में मधुछंद किसी की सुन नीरव पदचाप।' इस स्थिति में राह की सारी सृष्टि रोमांचित हो उठती है, खिलखिलाकर लोटने लगती है—

तुम विजयी जो, प्रिय, हो मुझपर
वरदान, पराजय हो निश्चय !

और तब, यह निश्छल आत्मसमर्पण—

अश्रु - पूत अब मेरा आनन
तुहिन धौत वारिज के लोचन
यह मानस की वेला पावन
करता तुम्हें समर्पण।

जिस 'जग के जीवन के जीवन' को पंत अपना मानस-समर्पण करते हैं, वह कबीर के 'राम' की ही तरह सर्वव्याप्त, अगोचर, एवं अनादि-अनन्त है। उपनिषदों में जिस ब्रह्म को ऋषियों ने अनेक सिरवाला, अनेक आँखवाला आदि-आदि कहकर उसके अखंड विस्तार की झाँकी प्रस्तुत करने की चेष्टा की है, वही ब्रह्म कबीर का साँई है और पंत का 'देव'। अखिल विश्व के रेणु-रेणु में वह पैठा हुआ है, कण-कण में लिप्त है; वह विराट है, महान, अखंड और अगम।

जिसकी सुन्दर छवि ऊषा है
नव वसंत जिसका शृंगार,
तारे हार, किरीट सूर्य शशि
मेघ केश, स्नेहाश्रु तुषार,
मलयानिल मुखवास, जलधि-मन
लीला लहरों का संसार।

अब ज्योति-विहग पंत की 'सुहागिन' को कबीर की तरह आराध्य की विराटता पर भौंचक होकर विस्मित-आनंद में डूबते छोड़कर हम

कवि के क्रांतिकारी रूप का दर्शन करें। कहा जा चुका है कि कबीर के युग से आज का युग तिलभर भी सांस्कृतिक उत्थान नहीं कर सका है। आज भी वही धर्मान्धता है, रूढ़िवादिता है, वर्गगत वैषम्य है, जातिगत द्वेष है, वही खींचातानी, वही तू-तू मैं-मैं, वही खून वही होली। आर्थिक मोर्चाबन्दियों ने युग-मानव को दानव बना दिया है—मानव मानव को पशु से भी बदतर समझ रहा है, आत्मिक शक्तियाँ अंधकार में पड़ी सभ्यता को कोस रही हैं। पंत ने जीवन के आत्मसत्य पर बल देकर सदैव मानवता की उच्चता प्रमाणिक करने की चेष्टा की है और कबीर के स्वर-में-स्वर मिलाकर यही कहना चाहा है कि 'आतम एक पिछाने जग में हिन्दू तुरक न दोई।' उनका स्वर जाति, धर्म एवं समाज की विषमता दूर करने के लिए ही बुलंद हुआ है; खाइयों को पाटने के लिए और मानव को मानव बनाने के लिए ही उनकी वाणी निःसृत स्तुत हुई है। उनकी कामना है—

विविध जाति वर्गों धर्मों को होना सहज समन्वित,
मध्य युगों की नैतिकता को मानवता में विकसित।

जिस प्रकार रहस्यवादी कबीर के सामाजिक अग्रदूत-रूप को देखकर उनके दुहरे व्यक्तित्व से आश्चर्यचकित होना पड़ता है उसी तरह सौन्दर्य के चितेरे पंत को वर्तमान पतित मानव के भौतिक रूप पर हथौड़ा चलाते देखकर चकित रह जाना पड़ता है। 'पल्लव' का का कवि उत्तरोत्तर अध्यात्मवादी बनता जाता है। 'ग्राम्या' जिसे प्रगतिवादी कवितापुस्तक कहने की भूल की जाती है, में भी कवि का अध्यात्म सतेज रूप से मुखरित है और 'स्वर्ण-किरण' तक तो

कवि पूर्णतया अध्यात्मवादी हो ही जाता है जिसकी रही सही कमी 'उत्तरा' में पूरी हो जाती है।

'उत्तरा' का कवि 'नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्णपुरातन' की कामना रखते हुए भी परिवर्तन में तोड़-फोड़ की अपेक्षा अधिक विश्वास करता है। उसकी बहिर्मुखी चेतना अन्तर्मुखी बन गई है। वह सोचता है कि पथभ्रष्ट विश्व के उदर से अब नयी मानवता का जन्म हो रहा है। बादल फट रहे हैं, जीवन का अरुणोदय विहँस रहा है और क्रमशः 'ले रही जन्म नव मानवता अब सर्व मनुजता होती क्षय।' इस नवीन आध्यात्मिक भावना के प्रसंग में कवि ने आदर्शवाद, आस्तिकवाद, अतीतप्रेम, प्रकृति साहचर्य तथा रूढ़ि एवं अंधविश्वास के प्रति विद्रोह को अधिक प्रश्रय दिया है। कवि बहिर्जगत का विस्तार और अंतर्जीवन का विकास चाहता है और उसे जन-मन को देखकर आभास मिलता है कि 'बदल रहा अब स्थूल धरातल, परिणत होता सूक्ष्म मनस्तल' और इस प्रकार मानव-ऐक्य की इस भावना के फलस्वरूप विश्व के जीवन का यह नव आरंभ नूतन परिच्छेद मंगलमय बनकर शांति का मार्ग प्रशस्त करेगा इसमें कवि का पूर्ण विश्वास है। मानवता में ही वस्तुतः सृष्टि का आनंद-संदोह केन्द्रित है—जबतक मानव दानवी वृत्ति छोड़कर अपनी आत्मा को जगाकर देवतुल्य नहीं बन जायगा तबतक विश्व का कल्याण नहीं।

मानव अंतर हो भू विस्तृत नव मानवता में भव विकसित।
जनमन हो नव चेतना ग्रथित जीवन शोभा हो कुसुमित हे
फिर दिशि क्षण में!
तुम देव, बनो चिर दया प्रेम जन-जन में जग मंगलहित हे!

कबीर ने भी एक दिन चिल्ला-चिल्लाकर सोनेवालों को जगाते हुए गाया था—'संतो प्रेम को पंथ निआरा।' एक तारे की तान पर संतों ने एक प्रेम के तार से ही सारे विश्व को बाँधने का उपक्रम किया था। मानव इतिहास की रक्तरंजित कहानी को अनुभवी आँखों से देखकर संतों ने प्रेम का पाठ पढ़ाकर संसार को एक भीषण यातना से छुट्टी दिलाने का प्रयत्न किया था। पंत की तत्त्वग्राहिणी दृष्टि ने इस तथ्य को पहचाना और उसने घोषणा कर दी—

भव तत्व प्रेम : साधन हैं उभय विनाश, सृजन
साधन बन सकते नहीं सृष्टि गति में बन्धन !

इस सत्य को पहचान लेने पर मनुष्य देवता बन जाता है—कबीर यही समझाते-समझाते सो गए थे, पंत की भी वाणी यही चिल्लाती है। कबीर को प्रमाण दिखलाने का नहीं मिला, पंत के पास तो साक्षात प्रमाण भी है। गाँधी के व्यक्तित्व की ओर इशारा कर वे निस्संकोच बोल उठते हैं, साहस के साथ गर्व के साथ—

अब मनुष्यत्व से मनोमुक्त देवत्व रहा रे शनैः निखर,
भू मन की गोपन स्पृहा स्वर्ग फिर विचरण करने को भू पर !

गाँधी के रूप में देवत्व का यह विकास मानवता का विजयनाद है—पंत को इसपर पूरी आस्था है—और, गाँधी का यह मानववादी रूप क्या कबीर से भिन्न है? कबीर ही तो वर्तमान गाँधी थे, पंत के मार्गदर्शक।

होती। कवि को ऐसा मालूम होता है कि कहीं से बाँसुरी की आवाज आती है, पर कहाँ से आती है और कौन बजाता है, इसका पता नहीं चलता। वह इतना ही समझता है कि उस वंशी की आवाज से उसके प्राण पुलकित हो जाते हैं, वह रस के रिमझिम में तर हो जाता है। आवाज की ओर वह ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों वह आवाज भी दूर होती जाती है। यह उसकी समझ में नहीं आता कि वह ध्वनि उसकी पकड़ में कबतक आएगी।

तोमार बाँशरि स्वरे विमोहित मन—
मानवेरा, ऐ स्वर लक्ष्य करि हाय,
जग अग्रसर हय ततइ जेमन
कोथाय वाजिछे ताहा बुझिते ना पारे।

लक्ष्यस्थान की यह खोज इतनी मधुर और साथ ही इतनी कड़वी है कि कवि इसे नहीं चाहते हुए भी अंगीकार करता है, अंगीकार करते हुए भी नहीं चाहता है। सारी दुनिया में उसे इस मीठी-कड़वी घूँट के आशिक दिखलाई पड़ते हैं। वह सरिता को देखता है और उसके जीवन को अपनी ही कहानी मान लेता है। वह सोचता है कि सरिता दौड़ी चली जा रही है, भागती चली जा रही है। किसी की खोज करने में वह इतनी व्यस्त है कि कानन, शैल, झाड़ियाँ भी उसे नहीं रोक सकतीं। उसके तट पर सुन्दर मनोहर फूल खिले हैं, क्रीड़ाके छल से लहरियाँ कूद-कूदकर उसका चरण स्पर्श कर भाग जाती हैं। लेकिन उसे यह सब देखने का अवकाश नहीं है। वह भागती जा रही है, रोती जा रही है—हाय, उसे कब किनारा मिलेगा?

बंशी की तान सुनाई। ठीक इसी तरह गांधी ने राजनीतिक राष्ट्रीयता के तंतु में सारे मानव-परिवार को बाँधने की चेष्टा करते हुए कबीर के उद्देश्य को सफल करने का बीड़ा उठाया। एक समय संत और सुधारक ने मानव को मानव बनने के लिए समझाया था, फिर एक कवि और कलाकार ने जन-मन-गण को एक ही सम पर मोहित करने का प्रयत्न किया और उसी समय एक संत और नेता ने मानव-मानव को समान और अखंड मानते हुए भारत की परंपरागत निधि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को जीवन-ध्येय बनाया। जिस शक्ति ने आधुनिक संतों का निर्माण किया वह एक ही है—कबीर। रवीन्द्र और गांधी इन दोनों महान व्यक्तियों में वही शक्ति छिपी बैठी है। अतः रवि ठाकुर कहें तो अथवा गांधी कहें तो, हम वस्तुतः कबीर को ही याद करते हैं!

रवि ठाकुर का 'सुन्दर' वही है जो कबीर का राम है। कबीर का राम जिन-जिन शक्तियों से विभूषित था वे सारी शक्तियाँ 'सुन्दर' में हैं। अंतर इतना ही है कि कबीर के पास वह भावुकता नहीं थी जो रवीन्द्र के पास है और इसीलिए रवीन्द्र के आराध्य जितने कोमल और मधुर हैं उतने कबीर के नहीं। भावना की दृष्टि से दोनों एक हैं; पर भाव की दृष्टि से थोड़ा फर्क है। कबीर की वियोगिनी सूक्ष्म राम के लिए छटपटाती है तो रवीन्द्र के अंदर निवास करनेवाली विरहिणी भी उससे कम नहीं तड़पती। साधना के मार्ग में जैसे-जैसे कबीर बढ़े हैं, ठीक वैसे ही रवीन्द्र का भी विकास हुआ है। प्रारंभ में विश्व की विराटता को देखकर कवि जिज्ञासु बनकर प्रकृति के अवयवों से पूछता रहता है—'कौन ?' उसे उत्तर नहीं मिलता। जिज्ञासा शांत नहीं

होती। कवि को ऐसा मालूम होता है कि कहीं से बाँसुरी की आवाज आती है, पर कहाँ से आती है और कौन बजाता है, इसका पता नहीं चलता। वह इतना ही समझता है कि उस वंशी की आवाज से उसके प्राण पुलकित हो जाते हैं, वह रस के रिमझिम में तर हो जाता है। आवाज की ओर वह ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों वह आवाज भी दूर होती जाती है। यह उसकी समझ में नहीं आता कि वह ध्वनि उसकी पकड़ में कबतक आएगी।

तोमार बाँशरि स्वरे विमोहित मन—
मानवेरा, ऐ स्वर लक्ष्य करि हाय,
जग अग्रसर हय ततइ जेमन
कोथाय बाजिछे ताहा बुझिते ना पारे।

लक्ष्यस्थान की यह खोज इतनी मधुर और साथ ही इतनी कड़वी है कि कवि इसे नहीं चाहते हुए भी अंगीकार करता है, अंगीकार करते हुए भी नहीं चाहता है। सारी दुनिया में उसे इस मीठी-कड़वी घूँट के आशिक दिखलाई पड़ते हैं। वह सरिता को देखता है और उसके जीवन को अपनी ही कहानी मान लेता है। वह सोचता है कि सरिता दौड़ी चली जा रही है, भागती चली जा रही है। किसी की खोज करने में वह इतनी व्यस्त है कि कानन, शैल, झाड़ियाँ भी उसे नहीं रोक सकतीं। उसके तट पर सुन्दर मनोहर फूल खिले हैं, क्रीड़ाके छल से लहरियाँ कूद-कूदकर उसका चरण स्पर्श कर भाग जाती हैं। लेकिन उसे यह सब देखने का अवकाश नहीं है। वह भागती जा रही है, रोती जा रही है—हाय, उसे कब किनारा मिलेगा?

रवीन्द्र की यात्रा भी समाप्त हो गई है। वे कहते हैं कि इस पथ पर ठेलमठेल एकदम नहीं है, हल्ला-गुल्ला शांत है। अपनी कुटिया यहीं बनाकर वे राह की धूल झाड़कर, बोझा उतारकर सितार के तार ठीक कर लेना चाहते हैं—स्तवन की वेला समीप है न, आज सांझ को यहीं पड़ाव रहेगा। तारांभरी रात की गोद में कवि वेफिक्र होकर विश्राम करेगा।

पा छाड़िए बस रे हेथाय सारा दिनेर शेषे।
तारार भरा आकाशतले, सब पेयेछिर देशे।

इस स्थान पर पहुँचने के लिए 'अहं' के लोप की आवश्यकता समझकर कवि ने बहुत पहले ही कहा था—'एइ आमार आवरण सहजे स्खलित हये जाक।' अहंविलोपन के बाद प्रभु से आंतरिक प्रेम होना आवश्यक है। यह प्रेम हमेशा जीवन की भेंट खोजता है। इसके लिए रोना पड़ता है, भोगना पड़ता है। कबीर ने सदा चेतावनी दी है कि प्रेम का घर खाला का घर नहीं है, यहाँ हाथ में सिर लेकर आनेवालों को प्रवेश मिलता है। जो सारे जीवन को दुःख की भट्ठी में तपा सके वही परमात्मा से इश्क कर सकता है। कबीर की आपबीती सुनिए—

आँखड़ियाँ झाईं पड़ी पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड्या राम पुकारि पुकारि॥

क्योंकि,

हँसि हँसि कंत न पाइया, जिन पाया तिन रोइ।
जो हाँसे ही हरि मिलै तो न दुहागिनि कोइ॥

रवीन्द्र ने इस इश्क के प्रज्वलित शोले को हँसते-हँसते अंगीकार किया है। उनका 'सुन्दर' दुःख की रात का राजा है और हमेशा आँधी और तूफानों से ही खेलता हुआ उनकी बगल से निकल जाता है। यह राजा बड़ा निर्दय है, बड़ा कठोर है। यह 'सुन्दर' पीड़ा के प्रासाद का सम्राट् है। उसे सुख की रातें नहीं भातीं; लोगों को तड़पाने में उसे विपुल आनन्द मिलता है। इसीलिए कवि भादों की अँधियाली अधरतिया में अपने घर के सारे दरवाजों को खोल देता है कि कहीं उस राजा को आने में दिक्कत न हो। दुःख की महिमा को समझनेवाला कवि अपने 'सुन्दर' की झलक वेदना की मधुर घड़ियों में पाना चाहता है। चलो, सुख में न मिला, तो दुःख में ही मिल जाय—मिल तो जाय किसी तरह!

कबीर का प्रियतम प्रेमलीला करते-करते उसे तड़प से बेहाल देखने के लिए बाण मारता है—यह तीर सीधे कलेजे में घुस जाता है। आश्चर्य इस बात में है कि कबीर इस चोट से घायल होकर भी मुस्कुराते रहते हैं। उनकी हँसी को देखकर ऐसा लगता है जैसे वे इस बाण की बहुत दिनों से प्रतीक्षा कर रहे हों और आज उसे पाकर इतने उन्मत्त हो गए हैं कि बार-बार इस पीड़ा को भोगने के लिए प्रर्थना करते हैं। एक बार इस चोट को सह लेनेवाला भक्त फिर संसार के सुखों की ओर नहीं दौड़ सकता। इस सिसकी में जो मजा है वह संसार की समूची खुशियों में उपलब्ध नहीं। मर्मान्तक पीड़ा सहकर भी, दर्द से कराह कर भी कबीर कहते हैं कि जिस तीर से तुमने कल मारा था, उससे आज भी मारो, अजी, रोज-रोज मारो, बार बार मारो!

यहीं रवि ठाकुर कबीर से जरा दूर पड़ते हैं। कबीर की साधना का पथ विराग का था। रवीन्द्र की साधना राग से पूरित है। ठाकुर वैराग्य-साधना नहीं चाहते। योगी बनने से यदि मुक्ति मिलती हो तो वह इन्हें नहीं चाहिए। ये मोक्ष प्राप्त कर देवता बनने के स्थान पर पृथ्वी का मानव बना रहना ज्यादा अच्छा समझते हैं। अगणित बंधनों के बीच में ही वे मुक्ति का स्वाद चखना चाहते हैं।[२] उन्हें पृथ्वी दुलारी है, उस पर चलनेवाले प्यारे हैं—इसे वे नहीं छोड़ सकते। वे कहते हैं—'मुक्ति? अरे मूर्ख! तू मुक्ति कहाँ पावेगा? भगवान स्वयं सृष्टि का बंधन पहनकर सबके निकट बँधे हुए हैं। इसलिए अपना ध्यान-भजन छोड़, फूल की डलिया अलग हटा दे, अपने कपड़ों को धूल-धूसरित होने दे। कर्मयोग में भगवान के साथ एक होकर एड़ी-चोटी का पसीना एक कर!'

इसी भावना ने रवीन्द्र को मानव-मानव से प्रेम करना सिखलाया। इसी का विकसित रूप उनकी उन पंक्तियों में मिलता है जहाँ वे

---

२. *'वैराग्य साधने मुक्ति से आमार नय*
असंख्य बंधन माझे महानंदमय
लभिब मुक्तिर स्वाद . . . .
इन्द्रियेर द्वार
रुद्ध करि योगासन, से नहे आमार।
जा किछु आनंद आछे दृश्य गंध गाने
तोमार आनन्द रवे तार माझ खाने
मोह मोर मुक्ति रूपे उठिवे ज्वलिया
प्रेम मोर भक्ति रूपे रहिवे फलिया।'

के आर्य-अनार्य, हिन्दू-मुसलमान, अँगरेज-चीनी, सबका करते हैं। सबके सम्मिलन से एक तीर्थ की उत्पत्ति होगी मंगल-नीर से वे महामानवों के विशाल सागर-तट पर मातृ- क करना चाहते हैं। इसी भावना ने आगे चलकर उन्हें ष्ट्रीय बना दिया और तब वे ठौर-ठौर में अपने देश की मूर्ति ा हैं और सारे भूमंडल को अपनी चीज मानकर उसके मंगल के : आसुरी शक्तियों से युद्ध करना चाहते हैं

'सब ठाँई मोर घर आछे, आमि
सेइ घर मरि खुँजिया;
देशे-देशे मोर देश आछे, आमि
सेइ देश लब जूझिया।'

यही कारण है कि कवि किसी को किसी से छोटा-बड़ा नहीं देख सकता। मानव का शोषण और मानव का अपमान वह बर्दास्त नहीं कर सकता। सभी की समता पर उसका अखंड विश्वास है—'जीवन को या समाज को पल-पल में खण्ड-खण्ड करके क्षय होने देना अब अधिक सहन नहीं होता।' इसलिए कवि की अभिलाषा है कि 'जिस पथ में अनन्त जन-समुदाय भीषण नीरवता के साथ चला जा रहा है, उसके पास लाकर मुझे खड़ा करो, ताकि मैं युग-युगान्तर का विराट रूप देख सकूँ।' इस विराट् रूप को देखनेवाला सचमुच ही कवि का हृदय रखता है, तभी तो वह कह उठता है—

मानुषेर अधिकारे वंचित करेछ जारे
सम्मुखे दाँड़ाये रेखे तबू कोले दाउ नाइ स्थान
अपमाने होते हबे ताहादेर सबार समान।

कबीर ने दलितों की पुकार सुनकर जिस प्रकार उनके रुग्ण जीवन से निकट का परिचय प्राप्त किया था, रवीन्द्र ने भी ठीक उसी तरह 'एइ जन्मेर सत्य अर्थ' समझा था। दोनों की मान्यताएँ एक थीं, भावनाएँ एक थीं; दिल एक था, दिमाग एक था। कबीर ही तब रवीन्द्र थे, रवीन्द्र ही आज कबीर हुए। दोनों के दिल में एक ही उत्पीड़न, एक ही आग, एक ही टीस, एक ही वेदना, एक ही आशा, एक ही उत्कंठा और एक ही तड़प थी। हाँ, एक संत था तो दूसरा कवीन्द्र था!

(च) कबीर और गांधी

युग की आँधी जिसे झुका न सकी, विपक्षियों के षड्यंत्र जिसे तोड़ न सके, समाज की आँच जिसे गला न सकी वह कबीर इस नवयुग में गांधी बनकर आया। बीसवीं सदी इस कबीर के अभाव में जैसे छटपटा रही थी। कबीर का संत-रूप गांधी में आया और साथ ही उनका अक्खड़ समाज सुधारक भी गांधी की कोमल काया में प्रवेश कर गया। कबीर को तो हमने देखा नहीं है; लेकिन आधुनिक कबीर की लँगोटी और लाठी को देखकर हम 'कबीरा खड़ा बजार में लिए लुकाठी हाथ' कहनेवाले व्यक्ति के व्यक्तित्व को थोड़ा-बहुत समझ सकते हैं। जिस संत के मुँह से एक दिन 'जो अपनी काया को पत्थर बनाकर रखता है वह एक ही जगह बैठे हुए सारे संसार को हिलाया करता है'—निकला वह संत कैसा होगा, यह अनुमान किया जा सकता है!

कबीर का समाज गांधी के समाज से युग की दृष्टि से काफी दूरी रखता हुआ परिस्थिति की दृष्टि से काफी निकट है। मुस्लिम राजसत्ता से पिसती हुई जनता को आध्यात्मिक स्वराज्य देने कबीर आए थे, अंगरेजी राजसत्ता से भारतीयों को राजनीतिक स्वराज्य दिलाने गांधी आए। दोनों जातियों की कट्टरता से दोनों सुधारकों को एक-समान ही सामना करना पड़ा—उन्हें समझाने-बुझाने का तरीका दोनों का एक ही था—दोनों एक थे ही, होता क्यों नहीं?

गांधी के 'रामधुन' में ब्रह्म की जो सत्ता स्वीकार की गई है वह सर्वदेशीय ही नहीं, सर्वकालिक है। गांधी का राम 'रघुपति' होते हुए भी तुलसी का 'दसरथ-सुत' नहीं है। तुलसी का राम अल्लाह नहीं हो सकता, गॉड नहीं बन सकता—गांधी का राम कृष्ण भी है, रहमान भी, राम है तो रहीम भी—खुदा भी वही है, अल्लाह भी वही है। यही कारण है कि उनके रामधुन में सिर्फ गीता का ही पाठ नहीं होता, कुरान और बाइबुल भी पढ़े जाते हैं। यदि विश्वास नहीं हो तो महर्षि के ही शब्दों में उसके राम का दर्शन कीजिए—'ईश्वर निश्चय ही एक है। वह अगम अगोचर और मानव-जाति के बहु-जन-समाज के लिए अज्ञात है। वह सर्वव्यापी है। वह बिना आँखों के देखता है, बिना कानों के सुनता है, वह निराकार और अभेद है। वह अजन्मा है; उसके न माता है, न पिता, न सन्तान।···अगर हम उसे पहचान लें तो वह हमारे बहुत नजदीक है। पर अगर हम उसकी सर्वव्यापकता को अनुभव न करना चाहें तो वह हमसे अत्यंत दूर है।'[1]—इन

१ 'हिन्दी नवजीवन' पत्रिका २८-६-१६४२, पृ० ५३.

पंक्तियों को पढ़ते समय पिछले परिच्छेदों में वर्णित कबीर के सूक्ष्म 'राम' और उपनिषद् के ब्रह्म को ध्यान में रखे रहिए आपको गांधी की विचारधारा इसी स्तर की मालूम पड़ेगी।

कबीर का 'राम' अतीन्द्रिय लोक का वासी है। गांधी का 'राम' भी उसी लोक में निवास करता है—वस्तुतः दोनों 'राम' एक ही हैं, ठीक उसी तरह जैसे कबीर और गांधी—दोनों संत—दो नहीं हैं। कबीर ब्रह्म को सर्वत्र व्याप्त मानते हैं—'साहिब कबीर सब रंग रँगिया सब रंग से रंग न्यारा।' गांधी भी उसे सब जगह देखते हैं—सर्वव्यापी होते हुए भी वह विश्व में लिप्त नहीं है, इससे सर्वथा परे है।—'वह हममें व्याप्त है और फिर भी हमसे परे है। वह बड़ा सहनशील है, लेकिन वह बड़ा भयंकर भी है। उसका व्यक्तित्व इस दुनिया में और भविष्य की दुनिया में भी, सबसे काम करने वाली ताकत है।'[1] 'वह एक है और अनेक भी है। अणु से भी छोटा और हिमालय से भी बड़ा है। समुद्र के एक बिन्दु में भी समा सकता है और ऐसा भारी है कि सात समुद्र मिलाकर भी उसे सहन नहीं कर सकते। उसे जानने के लिए बुद्धिवाद का उपयोग ही क्या हो सकता है? वह तो बुद्धि से अतीत है। ईश्वर का अस्तित्व मानने के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है।'[2] कबीर ने एक दिन इसी तरह हारकर 'जैसा है तैसा लो' कहा था—बुद्धि जब थक गई थी तब वे निराश हो गए थे। अंत में उन्होंने कहा था—अरे मूरख, श्रद्धा के साथ 'भजु जीवन नाम सबेरा'। गांधी को

---

१. *हिन्दी नव-जीवन ५-३-१९२५, पृ० २३८।*

२. *हिन्दी नव-जीवन २१-१-१९४६, पृ० १८१।*

ईश्वर के प्रति काफी श्रद्धा है। उससे यदि एकाकार होना है तो अपने को शून्य बना देना होगा, 'सीस कटावे हरि मिले' की उक्ति को चरितार्थ करना होगा।—'यदि हमारे अन्दर सच्ची श्रद्धा है, यदि हमारा हृदय वास्तव में प्रार्थनाशील है तो हम ईश्वर को प्रलोभन नहीं देंगे, उसके साथ शर्तें नहीं करेंगे। हमें उसके आगे अपने को शून्य नगण्यकर देना होगा···जब तक हम अपने को शून्यता तक नहीं पहुँचा देते तब तक हम अपने अन्दर के दोषों को नहीं हटा सकते। ईश्वर पूर्ण आत्मसमर्पण के बिना संतुष्ट नहीं होता।'[३]

गांधी राम-नाम-सुमिरन पर काफी बल देते हैं। उसकी महत्ता के ये कायल हैं, उसकी पवित्रता से मुग्ध हैं। यह नामसुमिरन मात्र आत्म शुद्धि के लिए ही नहीं है; बल्कि'···करोड़ों के हृदय का अनुसंधान करने और उनमें ऐक्य-भाव पैदा करने के लिए एक साथ राम नाम की धुन-जैसा दूसरा कोई सुन्दर और सबल साधन नहीं है।' गांधी के इस सामूहिक प्रार्थना की तरह कबीर का भी सामूहिक प्रवचन चलता है जिसे हम उनके संबोधनों को ध्यान में रखकर समझ सकते हैं,—कौन जाने कबीर का रामधुन भी दोनों जातियों के वैषम्य को दूर कर दोनों के हृदयों को राम-नाम के एक ही सम पर गिराने का माध्यम रहा हो। इस 'राम' पर गांधी का इतना विश्वास है कि विश्व में इसको छोड़ और किसीसे वे नहीं डरते और न किसी के सामने कुछ विनती करते हैं—'मेरे पास एक राम-नाम के सिवाय और कोई ताकत नहीं है। वही मेरा एक आसरा है।'

---

३. *हिन्दी नव-जीवन २६-१२-१६२८, पृ० १४०।*

जप करते समय सिर्फ जीभ चलाने से कबीर को चिढ़ थी। माला चलाते रहना और मुँह से राम बोलते रहना, पर दिल में राम का पता नहीं तो सुमिरन कैसा? जब 'मनुवां दस दिस फिरता' है तो वह सुमिरन की चोरबाजारी होती है—गांधी को भी इस तरह के नाम-जप से घृणा है। उनका आदेश है—'मुँह से राम-नाम बोलते समय वाणी को हृदय का सहयोग मिलना चाहिए; क्योंकि भावनाशून्य शब्द ईश्वर के दरबार तक नहीं पहुँचते।'[१] उन्होंने और भी कहा है—'प्रार्थना या भजन जीभ से नहीं, हृदय से होता है। इसी से गूँगे, तुतले, मूढ़ भी प्रार्थना कर सकते हैं। जीभ पर अमृत हो और हृदय में हलाहल तो जीभ का अमृत किस काम का?[२] प्रार्थना तभी प्रार्थना है जब वह अपने आप हृदय से निकलती है।' उपवास भी तभी श्रेष्ठ है जब भोगों की ओर से स्वतः मन हट जाय। कबीर ने व्रत-उपवास को इसीलिए हीन ठहराया था कि उपवास करनेवाला बलात् अपनी इच्छा को दबाता है, आत्मा का हनन करता है। गांधी कहते हैं—'उपवास का अर्थ है—बुरे या हानिकारक विचार, कर्म या आहार से परहेज रखना। मन तो विविध प्रकार के व्यंजनों की ओर दौड़ रहा है, और शरीर को भूखों मारा जा रहा है तो ऐसा उपवास निरर्थक व्रत-उपवास से भी बुरा है।'[३]

इधर-उधर के अन्वेषण से ऊबकर कबीर ने 'बागों ना जा रे तेरी

१. *हि० न० जी० ३-३-१७२७, पृ० २३०*
२. *हि० न० जी० २४-६-१६२५, पृ० ४४*
३. *हरिजन-सेवक १०-४-३७, पृ० ६२*

काया में गुलजार' गाकर 'वः ही खोजो भाई' का संदेश दिया था। गांधी का कहना है कि हृदय की गुफा ही वह 'गगन गुफा' है जहाँ अजस्र रस की वृष्टि होती है—यही सच्ची गुफा है जहाँ पास में ही राम मिल जायगा। गांधी उपदेश देते हैं कि 'मनुष्य को चाहिए कि वह उसमें सुरक्षित रहकर, संसार में रहते हुए भी उससे अलिप्त रहे और अनिवार्य कामों में प्रवृत्त होते हुए विचरण करे।'[४] 'स्वर्ग और पृथिवी सब हमारे ही अन्दर है। हम पृथिवी से तो परिचित हैं पर अपने अन्दर के स्वर्ग से बिल्कुल अपरिचित हैं।'[५] इस गुफा में गांधी कबीर की तरह अन्तर्नाद भी सुनते हैं—'मैं मानता हूँ कि हृदय में सत्य का तादृश ज्ञान, सत्य का साक्षात्कार ही अन्तर्नाद है।'

कबीर के क्रांतिकारी जीवन की चर्चा की जा चुकी है—उनके हिन्दू-मुस्लिम-भावना पर भी काफी प्रकाश डाला जा चुका है। उन तथ्यों की पृष्ठभूमि में गांधी के जन-आंदोलन के सुधारों को देखने से हमें एक ऐसे व्यक्तित्व का दर्शन होता है जिसे अपनी धुन के आगे किसी की परवा नहीं, किसी का डर नहीं। जो वृद्धावस्था में भी मृत्यु के मुँह में पैदल नोआखाली के बाँधों पर दौड़ सकता है,—वह साधारण व्यक्ति नहीं हो सकता। गांधी ने सोचा कि जबतक हिन्दू और मुसलमान भाई-भाई की तरह नहीं रहते तबतक स्वराज्य असम्भव है। धार्मिक एकता का मिशन लेकर गांधी का भारत में अभ्युदय होता है। वे कहते हैं—'इस समय आवश्यकता इस बात की नहीं है कि

४. हि० न० जी० २०-८-२५, पृ० ३
५. हरिजन सेवक २६-६-३६, पृ० २५२

सबका धर्म एक बना दिया; जाय बल्कि इस बात की है कि भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी और प्रेमी परस्पर आदरभाव और सहिष्णुता रखें।' गांधी कबीर की ही बात दुहराते हैं—'भारतवर्ष एक पक्षी है। हिन्दू और मुसलमान उसके दो पंख हैं। आज ये दोनों पंख अपङ्ग हो गए हैं और पक्षी आसमान में उड़कर स्वतंत्रता की आरोग्यप्रद और शुद्ध हवा लेने में असमर्थ हो गया है।' इसलिए बाहरी मिलाप के पहले दिल का सम्मिलन आवश्यक है, 'ईंट चूने की चुनाई के पहले हृदय-मंदिर की चुनाई बहुत जरूरी है। अगर यह हो जाय तो और सब तो हुआ ही है।'[1] हिन्दू मुस्लिम की मित्रता सिर्फ भारत के लिए ही मंगलप्रद नहीं है, सारे विश्व के लिए कल्याण का एक आदर्श है—'हिन्दू-मुस्लिम मित्रता का हेतु है भारत के लिए और सारे संसार के लिए एक मंगलमय प्रसाद होना, क्योंकि इसकी कल्पना के मूल में शांति और सर्वभूत-हित का समावेश किया गया है।'

दोनों जातियों के आचार-विचार को नाप-तोल कर देखने के बाद कबीर ने बुरे को बुरा और भले को भला कहा था। गांधी के जमाने में दोनों जातियाँ बाजा बजाने (मस्जिद के सामने) के कारण ही अधिक उलझती थीं। कबीर की शैली में गांधी समझाते हैं—'हिन्दू-धर्म की कोई भी ऐसी विधि नहीं है जो बिना बाजा बजाए हो सकती हो। कितनी ही विधियाँ तो ऐसी हैं जिनमें शुरू से आखीर तक बाजा बजाना जरूरी है। हाँ, इसमें भी हिन्दुओं को इतनी चिंता जरूर करनी चाहिए कि मुसलमानों का दिल न दुखने पाये। बाजा धीमे-धीमे बजाया

१. हि० न० जी० १६-६-१६२६, पृ० ३२

जाय, कम बजाया जाय।······इस्लाम में ऐसा कोई फरमान नहीं है जिससे दूसरों के बाजे को बन्द करना लाजिमी हो। इसलिए मस्जिद के सामने विधर्मी के बाजा बजाने से इस्लाम को धक्का नहीं पहुँचता। अतएव यह बाजे का सवाल झगड़े का मूल नहीं होना चाहिए।'[२] उनके बीच बचाव की नीति देख चुके, अब सर्वधर्म-स्वातंत्र्य की चर्चा सुनिए—'अगर इस्लाम के लिए एक ही खुदा को तथा उसके पैगम्बरों की अनन्त परंपरा को मानना काफी हो तो हम सब मुसलमान हैं; इसी तरह हम सब हिन्दू और ईसाई भी हैं। सत्य किसी एक ही धर्म की एकांतिक संपत्ति नहीं है।'[३]

कबीर और गांधी इन दोनों संतों की अभिव्यक्ति का माध्यम लगभग एक ही था। पोथी की भाषा को छोड़कर इन्होंने जन-भाषा को अपने काम लायक छाँटा। दोनों का उद्देश्य एक ही था—अधिकाधिक लोग उनकी भावनाओं को सुनें—समझें—बूझें। कबीर को अधिकतर निम्न स्तर के लोगों के बीच क्रांति की आग फैलानी थी, गांधी को भी गाँव-गाँव में घूम-घूमकर देहातियों तक अपनी आवाज पहुँचानी थी। इन दोनों की भाषा में प्रसादगुण कूट-कूटकर भरा हुआ है। सहज बोधगम्यता की दृष्टि से इनके प्रवचन अपनी मिसाल नहीं रखते।

कहा जा चुका है कि गांधी का क्षेत्र दर्शन नहीं, राजनीति था। इसलिए ब्रह्म-संबन्धी तात्त्विक विवेचन इनमें कम मिलता है तो कोई

२. हि० न० जी० १४-६-१९२४, पृ० ३४
३. " २८-९-१९२४, पृ० ५४

आश्चर्य नहीं। लेकिन बात ही बात में जो कुछ भी ईश्वर के संबन्ध में गांधी ने कहा है उसमें उन्होंने कबीर की बात ही दुहराई है—'ईश्वर न काबा में है न काशी में है। वह तो घर-घर में व्याप्त है—हर दिल में मौजूद है।'[४]—ऐसा होना कोई मुश्किल नहीं, आखिर वे दोनों दो थोड़े ही थे !!

---

४. हि० न० जी: १-१-१६२५ पृ० १६७

संतकाव्य की भाषा

भाव जब सच्चे होते हैं तो उन्हें ईमानदारी के साथ प्रकट करने लिए उछल-कूद मचाने की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती। जहाँ नुभूति अस्पष्ट होती है वहीं बनाव शृंगार ज्यादा होता है। सरोवर ा सजाने का प्रयत्न इसलिए किया जाता है कि वह स्वतः नहीं नता, बनाया जाता है—नदी की धारा को सँवारने की जरूरत हीं पड़ती क्योंकि वह स्वयम् प्रसूत है। भावनाओं का वेग जब तीखा होता है तो वे ऐसे-वैसे ही व्यक्त हो जाते हैं—उस समय उन्हें छंद और पिंगल, अलंकार और रस की डोर में बाँधने का ख्याल ही नहीं रहता—निर्झरिणी को बहने के लिए बँधा-बँधाया पाट नहीं मिलता, वह तो पहाड़ के तल को फोड़कर जिधर-तिधर नग्न रूप में बिखर पड़ती है। केशव ने नहर के बीच से अपनी काव्यधारा को दौड़ाया था—मीरा ने पहाड़ी नदी की तरह कलकल गुंजार किया था। संत कवियों में प्रायः सभी को मीरा की आत्मा मिली थी—निश्छल, निष्कपट, अकृत्रिम।

संत कवियों के व्यक्तित्व की चर्चा पिछले परिच्छेदों में हो चुकी है। उनके फक्कड़ स्वभाव को समझ लेने के बाद यह कहना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता कि उन घरफूँकों ने तत्कालीन पंडिताऊ शैली एवं शास्त्रीय भाषा को अंगूठा दिखला दिया—यह तो उन्होंने पेशा ही उठा लिया था। जो चीज सबके लिए नहीं है, वह किसी के लिए ठीक नहीं, अतः उसका बहिष्कार होना ही चाहिए और उसके विरुद्ध इन मस्तों की टोलियाँ गरज उठतीं—फिर चोटें पर चोटें, शह पर शह—सम्हालने की ताकत हो तो पंडित-मुल्ला सम्हालते रहें !! शास्त्राचार्य पंडितों के सारे काम संस्कृत में चलते थे, भाषा में लिखना-पढ़ना, पढ़ाना-समझाना उनके लिए पाप-तुल्य था। लोग संस्कृत से काफी दूर थे—बोलने की बात छोड़िए, थोड़ी-सी समझना भी मुश्किल था। आज संस्कृत को गाँव या शहरवाले जितनी सचाई से समझते हैं उतनी ही लगन से तब भी लोग जानते-समझते थे ! वह थोड़े-से शिक्षितों की भाषा थी और वे ही समाज के स्तंभ थे। जो कुछ उनके मुँह से देवभाषा में उच्चरित हो गया वही 'वह' बन गया। इन मुट्ठी भर शिक्षितों को अपनी भाषा पर नाज था—अभिमान था। मूर्ख जनता को गिटपिट बोलकर ठगने में बड़ी आसानी थी—आज गाँवों में थोड़ी अंगरेजी फुटफुटानेवाला जैसी रोब गाँठता है उससे कहीं अधिक अकड़ उन दिनों संस्कृत बोलनेवालों की थी क्योंकि उस भाषा के मात्र उच्चारण से ही धर्म का साक्षात् रूप सामने आ जाता था और धर्मवाणी की जो अवहेलना करे उसे दंड देने का अधिकार भी तो उन्हीं संस्कृतज्ञों को था !

इस बात का अभिमान था कि सारे ज्ञान-विज्ञान ।
शास्त्र में भरी पड़ी है अतः यदि कोई उनका जिज्ञासु
तो उसे निश्चय ही संस्कृत-भाषा के माध्यम से हमारे
। पड़ेगा। अस्तु, भाषा की चोटी पकड़े रहने पर
में कोई भी बाधक दिखलाई नहीं पड़ा। इस तरह भाषा
पंडित और मुल्ला अपनी-अपनी सीमाएँ घेरे खड़े थे—
ाकाओं को उखाड़ने का साहस करना पहाड़ से टकराना था।
ण सुधारकों को जो कुछ भी कहना था जनता से कहना
सी विशेष वर्ग या दल के लोगों से मिलने का उद्देश्य नहीं
ए उन्हें प्रत्येक झोपड़े में अपनी आवाज पहुँचानी थी। इन
। में रहनेवाले शास्त्रीय-भाषा नहीं समझ सकते थे। उन्हें
ने के लिए उनकी बोली में बोलना आवश्यक था। निरगुनियों
नके घर की जुबान में उन्हें समझाना शुरू किया। शास्त्र-पक्ष
ा। दर्शन और ज्ञान के सिद्धान्त मर्त्यभाषा में ? छिः! संतों ने
ही परवाह नहीं की। उनकी टोलियाँ देश पर्यटन में निकल गईं,
ेक व्यक्ति को अपना संदेश सुनाने के लिए। उन संतों के ऊपर
ा ने बड़ा भारी उत्तरदायित्व लाद दिया था। हिन्दू-मुस्लिम
[illegible] को दूर करने का काम इतना कठिन था कि यदि ये
निरगुनिए नहीं पैदा होते तो जाने क्या हो जाता। उनके संदेश
[illegible] में [illegible] और सबने उसे सुना-समझा। गौतम बुद्ध ने भी
[illegible] धर्म के प्रचार पहुँचाने के लिए लोकभाषा का ही
[illegible] किया था।

निरगुनियों का कहना था कि जिस प्रकार ऊँची जाति में जन्म लेने से ही कोई ऊँचा नहीं बन सकता उसी तरह सिर्फ देवभाषा जान लेने से ही देव-तुल्य गुण नहीं आ सकते। पंडितों को इसका बहुत अधिक अभिमान था। कबीर ने इन पंडितों को मूर्ख कहा है—

संसकिरत पंडित कहै बहुत करै अभिमान।
भाषा जानी तर्क करै ते नर मूढ़ अजान॥

संस्कृत उस समय मृत भाषा के रूप में थी—साहित्यिक क्षेत्र से भी उसे पद-च्युत कर दिया गया था। सिर्फ परंपरा के पालन के लिए धार्मिक कृत्यों में उसका उपयोग होता था, जैसा आज भी होता है। संतों का कहना था कि भाषा की यह रूढ़िबद्धता उसकी मृत्यु का लक्षण है। वह भाषा अब कूप-जल की तरह बँध गई है, उसमें सरिता की तरह प्रवाह नहीं है। स्वच्छंदता नहीं है। लोकभाषा बहते हुए पानी की तरह है—गतिशील, चेतन, सजीव। निरगुनियों ने इसी 'भाखा' को अपने कंठों में बसाया।

लोकभाषा को अपने भावप्रकटीकरण का माध्यम बनाने के पीछे एक यह भी मुख्य तथ्य है कि ये संत अशिक्षित थे—उस भाषा में बोलने में ये सर्वथा असमर्थ थे जिस बोली में पंडित-मुल्ला बोल सकते थे। इसलिए उनके इस नवीन दिशा-ग्रहण को लाचारी की भी संज्ञा दी जा सकती है!

संतों ने देखा कि पूजापाठ करने के लिए या किसी भी रूप में भगवान की आराधन करने के लिए संस्कृत-भाषा का ही उपयोग किया जाता है। यहाँ तक कि जो लोग अशिक्षित हैं वे संस्कृत नहीं बोल

से मिलते हैं। किसी भी कवि की कविताएँ पढ़िए तत्त, अलख, सूछम, थूल, पुरुख, रिधि, पाँख, सून्न, कुइयाँ, सोहागिन आदि शब्द अवश्य मिल जायँगे। इसके अतिरिक्त मुगल-काल की इन रचनाओं में उर्दू शब्द भी अधिक मात्रा में घुस आए हैं। नानक की भाषा देखिए—

मुरसिद मेरा मरहमी जिन मरम बताया।
दिल अंदर दीदार है खोजा तिन पाया॥
तसबी एक अजूब हैं जा में हरदम दाना।
कुँज किनारे बैठ के फेरा तिन्ह जाना॥

बुल्लेशाह की विशिष्ट मुसलमानी जुबान देखिए—

टुक बूझ कवन छप आया है।
इक नुकते में जो फेर पड़ा तब ऐन गैन का नाम धरा।
जब मुरसद नुकता दूर किया तब ऐनों ऐन कहाया है॥
तुसीं इलम किताब पढ़ दे हो, के हे उलटे माने कर दे हो।
वेमूजब ऐवें लड़दे हो केहा, उलटा वेद पढ़ाया है॥

दूलनदास को भी संगति ने उर्दू का कितना कड़वा जाम पिला दिया था, इसे अनुभव कीजिए—

हुआ है मस्त मंसूरा चढ़ा सूली न छोड़ा हक़।
पुकारा इश्कबाजों को अहै मरना यही बरहक़॥
जो बोले आशिकाँ याराँ हमारे दिल में है जी शक।
अहै यह काम सूरों का लगाए पीर से अबतक॥
शम्सतवरेज की सीफ़त जहाँ में जाहिरा अबतक।
निजामुद्दीन सुल्ताना सभी भेटे दुनी के धक॥

दादू ने तो उर्दू शब्दों को ही अख्तियार नहीं किया; बल्कि फारसी भाषा में भी कविताएँ लिखीं। ऐसी कविताओं में चेतावनी या उपदेश नहीं हैं और न समाजसुधार की ही बातें हैं। इन पदों में गम्भीर दर्शन भरे हुए हैं। सूफीदर्शन की कुछ बातों पर विचार करते हुए दादू लिखते हैं—

नफ़्स गालिब किब्र काबिज़ गुस्सः मनी ऐश।
दुई दरोग़ हिर्स हुज्जत नामे नेकी नेस्त॥
हैवान आलिम गुमराह गाफ़िल अव्वल शरीअत पंद।
हलाल हराम नेकी बदी दर्से दानिशमंद॥[1]

इस क्षेत्र में गरीबदास ने एक नवीन पद्धति का प्रयोग किया है। उन्होंने खुसरु की तरह संस्कृत और फारसी शब्दों का एक पद में ही गठबंधन कर दिया है—शायद भाषा की मिलावट से दोनों जातियों के हृदय-सम्मिलन की भावना उनके मन में जम गई हो। इस तरह का प्रयोग इनके सिवा अन्यत्र नहीं देखने में आता। एक बानगी देखिए—

रब राजिक तू महरमी करतान बिनानी।
अवगत अलख अलाह तू कादिर परवानी॥
खालिक मालिक मेहरबाँ सरवंगी स्वामी॥
निहचल अचल अगाध तू कुदरत से न्यारा।
गंध पुहुप ज्यों रम रहा फूला गुलजारा।
राम रहीम करीम तू कुदरत से न्यारा॥

---

१ दादू की बानी, पृ० ५६

पूरन ब्रह्म परम गुरु अकाल अविनासी।
शब्द अतीत विहंगमा किस काल उदासी॥
अनुरागी निहतंत कूँ तन मन सब अरपूँ।
सीस करूँ तिस वारने चित चंदन चरचूँ॥
उस साहब महबूब कूँ कर हरदम मुजरा।
चित से नेक न वीसरूँ दिल अन्दर हुजरा॥

इन पंक्तियों के तुकों पर ध्यान देने से एक नई बात मालूम होती है। यहाँ दो-दो पंक्तियों के तुक आरम्भिक पंक्तियों में नहीं मिलते। पहली तीन पंक्तियाँ और दूसरी तीन पंक्तियाँ एक विशेष तुक-पद्धति पर लिखी गई हैं। कबीर और दादू ने भी तुक-संबंधी काफी मनमानियाँ की हैं। पदों और छंदों की रूपरेखा में दादू ने क्रांतिकारी परिवर्तन किए हैं। समग्र संत-साहित्य दोहा और पद-शैली में ही लिखा गया मालूम पड़ता है। उपदेश और नीति के सारे अवतरण दोहे में हैं—विरह और विनय के अंश पदों में। दार्शनिक चिंतन या तो पदों में किए गए हैं या दोहे-चौपाइयों में। चौपाई का प्रयोग कबीर में काफी मिलता है। सुन्दरदास ने पदों के अतिरिक्त कवित्त और सवैये में भी रचनाएँ कीं। काफी पढ़े-लिखे रहने के कारण इन्होंने प्रायः सभी छंदों में लिखने का प्रयत्न किया और प्रायः सभी दिशाओं में उन्हें सफलता मिली। रेखता का प्रचलन इन संतों में खूब था। दादू और पलटू ने रेखता में बहुत कुछ कहा है। पलटू की कुंडलियाँ भी संत-साहित्य में अपना अलग स्थान रखती हैं। अन्य संतों ने कबीर और दादू की ही देखादेखी की है। जगजीवन, पलटू,

धरनीदास, चरनदास और धरमदास ने तो भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से कबीर का अक्षरशः अनुकरण किया है। इनकी बातें कोई नई नहीं हैं। गुरुमहिमा, साधुमहिमा, नाममहिमा, सृष्टितत्त्व, कर्त्ताविचार, चेतावनी, उपदेश, तीरथव्रत आदि भावनाएँ प्रायः सबमें हैं और सबने एक ही बात कही है। चेतावनी और विनय के पदों की एकरसता तो सर्वविदित है ही।

संतों की 'बानियों' को पढ़ने पर 'अंगबद्ध' वर्गीकरण की एक खास खूबी दिखलाई पड़ती है। मुक्तक काव्य को महाकाव्यों की तरह सर्गों में बाँटना मुश्किल है और इसी कठिनाई की वजह से साहित्य-शास्त्रों में मुक्तक के प्रसंग में सर्ग की चर्चा नहीं की गई है। संत कवियों के शिष्यों ने सारी वाणियों का वर्गीकरण विषय को ध्यान में रखकर किया है और वे सभी वर्ग एक-एक 'अंग' मान लिए गए हैं। यही कारण है कि संत-काव्य के संग्रहों में कर्ता को अंग, गुरु को अंग, नाम को अंग, परचा को अंग, पतिव्रता को अंग, चेतावनी को अंग आदि नानाविध 'अंगों' की सूची मिलती है। इस प्रकार का वर्गीकरण हिन्दी के लिए एक नई चीज थी।

कहा जा चुका है कि संतों ने सरल भाषा में अपनी बातें कही हैं। कबीर को इस बात का अभिमान है कि 'मसि कागद' बिना छूए ही उन्होंने चारो युग का माहात्म्य आत्मज्ञान से ही बतला दिया—इस कथन में दंभ की मात्रा कितनी है इसपर विचार नहीं करते हुए हम जब उनकी 'आँखिन देखी' बातों से आगे बढ़ते हैं तो ऐसा लगता है कि कबीर भाषा का सरल पथ छोड़कर ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर यात्रा कर

संतों की साम्प्रदायिक बातें सदा गंभार …।

र्शन का रास्ता ही कुछ ऐसा जटिल है कि उसमें पैर रखनेवाला अनुभवों को सीधे शब्दों में व्यक्त कर ही नहीं सकता। एक यह भी है कि दर्शन के सिद्धान्त 'आँखिन देखी' की अपेक्षा गद लेखी' ही ज्यादा हैं, और 'कागद लेखी' के दलदल में नहीं हते हुए भी एक बार पड़ जाने पर 'कागद की भाषा' से छुटकारा ाना कठिन है। यही कारण है कि दर्शन की गुत्थियों को सुलझाते समय 'प्यंड और ब्रह्मंड' की ध्वनि में संतों को बोलना पड़ता है—यहाँ 'चुनरी' और 'सुहागिन', 'सेजरिया' और 'पँइयाँ'-जैसे शब्द चल ही नहीं सकते। 'तोरा हीरा हेराइल बा कचड़े में' और 'कौन ठगवा नगरिया लूटल हो' कहनेवाला कबीर अद्वैतवादी बनकर कैसी बोली में बातें करता है, सुनिए—

साधो सतगुरु अलख लखाया आप आप दरसाया।
बीज मध्य ज्यों बिरछा दरसै बिरछा मद्धे छाया।
परमातम में आतम तैसे आतम मद्धे माया॥
ज्यों नभ में सुन्न देखिए सुन्न अंड आकारा।
निह अच्छर में अच्छर तैसे अच्छर छर बिस्तारा॥…
अंडाकार सुन्न नभ आपै स्वाँस शब्द अरथाया।
निह अच्छर अच्छर छर आपै मन जिव ब्रह्म समाया॥
आतम में परमातम दरसै परमातम में झाँई।
झाँई में परिछाँई दरसै लखै कबीरा साँई॥

इसी तरह 'अविगत जागल हो सजनी' और 'मन अनुराग

बनिया' कहनेवाले सुल्तान और मीरा भी जब गंभीर भावों में प्रवेश करते हैं तो इतने गंभीर बन जाते हैं कि उन्हें सहसा पहचानना मुश्किल हो जाता है। 'हरि नाम न लिहु गँवारा हो' का नास्तिक जब नीचे लिखा पद गाने लगता है तब हम चौंककर देखने लगते हैं कहीं परदे के पीछे से कोई 'गोरख-कबीर' तो नहीं गुनगुना रहा है!

अवधू निर्मल ज्ञान विचारो।
ब्रह्म सरूप अखंडित पूरन चौथे पद सों न्यारो॥
ना वह उपजे ना वह बिनसे ना भरमें चौरासी।
है सतगुरु सतपुरुष अकेला अजर अमर अविनासी॥

संत-काव्य को, इस तरह, भाषा के प्रयोगों का 'लेबोरेटरी' कह सकते हैं। जन-आंदोलन चलानेवाला नेता सभी तरह के लोगों से सभी तरह की बोली में बोलनेवाला होता है। कबीर आदि संतों की भाषा को अनेक विद्वानों ने अशक्त एवं निकम्मा कहा है; पर ध्यान से देखने पर संतों की भाषा में भाव प्रकटीकरण की जो तीव्रता है, अपने को स्पष्ट करने की जो शक्ति है, वह शायद हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र नहीं मिल सके। समाज के प्रत्येक अंग पर हथौड़े की चोट देनेवाले की बोली में मेमने-सी कमजोरी होगी, इसपर विश्वास नहीं किया जा सकता। संत-साहित्य के पृष्ठ अपना इतिहास स्वयं कहते हैं। जीवन के संघर्षों के बीच से होकर चलनेवाले मस्तों को भक्ति का संबल प्राप्त था जिसकी वजह से वे आँधियों के सामने भी सीना खोल देते थे—ऐसे मर्दों की भाषा में भाव प्रकटीकरण की कितनी शक्ति होगी इसका अंदाजा द्विवेदीजी की इन पंक्तियों को पढ़कर लगाइए—

'भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा दिया है—बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लचर-सी नजर आती है। उसमें मानों ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके।'—ये बातें सिर्फ कबीर पर ही नहीं, सभी संत-कवियों पर लागू होती हैं।

इतना कहने का यह आशय नहीं कि संतों ने जान-बूझकर भाषा को सुन्दर और चहकदार बनाने का प्रयत्न किया। इन दीवानों को आदमियों को ठीक करने से फुरसत ही कहाँ मिलती थी कि भाषा को ठीक करने चलते! और सच पूछिए तो कबीर ने कभी कवि होने का दावा नकारात्मक रूप से 'कवि न होऊँ नहीं चतुर कहाऊँ' कहकर भी नहीं किया—यह तो हमारे हृदय में उनकी कविताओं को पढ़ने के बाद इतना आह्लाद उमड़ता है कि हम उन्हें कवि कहने लगते हैं। कविता करना इनका पेशा नहीं था और न अलंकार के नगीने जड़ना इनका रोजगार। संत-साहित्य में काव्य के गुणों या दोषों का जो स्थान-स्थान पर दर्शन होता है, वह अनायास ही हो जाता है। उसके पीछे न तुलसी की प्रतिभा बैठी है, न केशव का पांडित्य—वहाँ है सिर्फ एक मस्त हृदय जो जो जी में आए बक देता है; उसमें काव्य हो तो भी परवाह नहीं, न हो तो भी चिंता नहीं।

कबीर की कविता के विवेचन में इस बात पर बराबर जोर डाला गया है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में 'सहजभाव' की ओर उनका

उपरोक्त शृंगार था, और वही दशा उनके सभी अनुयायियों की है। माया का 'सहजरूप' भी इसी सिद्धान्त के अनुसार उनके मत में ग्रहण किया गया है। इसी 'सहज' अवस्था में इसे सुन्दर बेलबूटों के दर्शन कभी-कभी हो जाते हैं। यहां भी साहित्य की छटा है, सौन्दर्य की मेघों की वर्षा भी निवास करती है, कोयल की कूक के साथ मयूर का नर्तन भी है, मेघों का गर्जन भी है—पर इन सबके पास ही पहाड़ों को फाड़ती हुई 'सहज धारा' से सुरनाद बिना सोच-गुन किए, बहनेवाली स्रोतस्विनी का कल-कल सुनाई पड़ता है और इस स्रोतस्विनी की चाल को ध्यान से हटा देने पर अनूठा वातावरण फीका पड़ने लगता है! संतों ने प्रकृति से चातक, मीन, कुरंग, तुरग आदि उधार माँगा और लोगों को समझाने के लिए प्रकृति के बीच मानवेतर-प्राणियों में चलनेवाली साधना की ओर इंगित किया। चातक की निरंतर पुकार सुनकर विरहिणी आत्मा को अधिक उत्साह मिलता है, मीन की प्रीति देखकर प्रेम में दृढ़ता आती है और कुरंग की एकाग्रता साधक को जान लड़ा देने का संदेश देती है। संतों की उपमाएँ काफी चुस्त हैं—ऐसा लगता है वे जान-बूझकर अलंकरण के निमित्त बैठाई गई हैं। नानक के 'जो दीसै सो सकल बिनासै ज्यों बादर की छाँई' या 'मृग, तृष्णा ज्यों जग रचना यह देखो हृदै बिचार' में उपमा का सौन्दर्य देखकर दादू के 'कालजाल तै काढ़ि करि आतम अंग लगाई' में रूपक की बहार देखिए। चेतावनी और उपदेश के प्रसंग में उदाहरण-अलंकार का इतना अधिक प्रयोग संतकाव्य में हुआ है कि कहा नहीं जा सकता। दार्शनिक चिंतन के समय 'जल और तरंग' या 'लहर और दरिआव'

का रूपक सर्वत्र एक समान ही मिलता है। ब्रह्म और जीव के संबन्ध को व्यक्त करने के लिए पावक और चिनगारी का रूपक कबीर, दादू, पलटू और भीखा में एक ही तरह ग्रहण किया गया है। कबीर के काव्य में उपमा, रूपक, उदाहरण आदि अलंकारों को छोड़कर जहाँ-तहाँ निम्नलिखित अलंकार भी देखे जा सकते हैं—

विरोध—घर जारे घर ऊबरे घर राखे घर जाय।
एक अचंभा देखिया मुआ काल को खाय॥

दीपक—नवन नवन बहु अंतरा नवन नवन बहु बान।
ये तीनों बहुतै नवै चीता चोर कमान॥

दृष्टान्त—अपन पों आपुन ही बिसरो।
जैसे सोनहा काच मंदिर में भरमक भूँकि मरो॥
जो केहरि वपु निरखि कूपजल प्रतिमा देखि परो।
ऐसेहि मदगज फटिल शिलापर दसननि आनि अरो॥

संतों के रूपक आधुनिक छायावादियों की तरह नहीं हैं। दार्शनिक चिंतन में भी सरल प्रतीकों का सहारा लिया गया है और उलझती बातों को 'सहज' रूप से सामने रखने के लिए इन संतों ने लोक-परिचित उपमानों की सहायता ली है। यही कारण है कि इनकी कविताओं में 'स्वान पूँछ ज्यों होय न सूधो कह्यो न कान धरै' तथा 'बारू की भीत जैसे वसुधा को राज है'—जैसी चुभती हुई लोकोक्तियाँ मिलती हैं। 'ब्रह्म विश्व में व्याप्त है'—इस गहन तथ्य को समझाने के लिए नानक ने 'पुहुप मध्य ज्यों बास बसत है मुकुर माहिं जस छाई', कहकर लोगों के चिरपरिचित उपमानों द्वारा विषय को बिल्कुल

स्पष्ट कर दिया। कबीर ने नैहर और सासुर के प्रसिद्ध संबन्धों का सहारा लेकर ब्रह्म और जीव की सारी कहानी कह दी है—इतनी सादगी के साथ कि हमें पता नहीं लगता कि हम दर्शन पढ़ रहे हैं या सरस काव्य!

लेकिन, यह सरलता उस समय एकदम दूर हो जाती है जब निर्गुण-संत अपने सम्प्रदाय की बातें उलटबाँसी बोली में बोलता है। इन उलटबाँसियों के कारण कबीर बहुत बदनाम हैं। कबीर ने कुछ निश्चित प्रतीक अपनाए थे, जैसे भौंरा जीव है, कमल ब्रह्म है, माया साँपिनी है आदि—ऐसे स्थलों पर पाठक को विशेष कठिनाई नहीं होती। परन्तु जहाँ वे 'गगन-गुफा' की बातें करने लगते हैं वहाँ वे इतने दूर जा पड़ते हैं कि उनका आशय समझ में नहीं आता। असल में उस आनंद को कहा नहीं जा सकता, सिर्फ समझा जा सकता है। कबीर ने उस अनिर्वच अनुभूति को व्यक्त करने का साहस किया, यही कुछ कम नहीं है। हमें इस क्षेत्र में कबीर की पीठ ही ठोकनी चाहिए क्योंकि उन्होंने उसे अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है जो वाणी से अगोचर है, उसे पकड़ने की चेष्टा की है जो पहुँच के बाहर है; जो, देश काल और बुद्धि की सीमा से अतीत है उसे कुछ शब्दों में बाँधने का प्रयत्न साहसपूर्ण ही माना जाना चाहिए।

इस आनंदलोक की अनुभूतियों को प्रकट करने का जहाँ तक प्रश्न है वहाँ तक संध्याभाषा को स्वीकार किया जा सकता है; क्योंकि अलौकिक बातों को अस्पष्ट वाणी में व्यक्त करने के अतिरिक्त दूसरी व्यवस्था करने में हम सर्वथा लाचार हैं। परन्तु, जहाँ लौकिक बातें भी

कठिनाई कम हो ती है, पर जहां जानबूझकर किसी को चिढ़ाने के लिए अटपटी बोली का व्यवहार मिलता है वहां तो बस पहेली का ही मज़ा आता है और वह भी पहेली ऐसी जिसका हल ही नहीं हो !

कबीर की उलटबांसियों में ऐसी उलटबांसियों की संख्या ही अधिक है जिनका संकेत स्पष्ट है। 'ऐसो अचरज देखियो कबीर' में कबीर ने यह देखा कि यह विश्व दही (ब्रह्म) के धोखे में पानी (माया) को मथ रहा है। गदहा (कपटी गुरु) हरी-हरी अंगूरी बेलि (ब्रह्मज्ञान) चर रहा है वह (अहंभावना से ओतप्रोत होकर) हंसता और रेंकता रहता है। भैंस (माया) मुख-रहित बछड़ा (अविद्या) उत्पन्न करती है जो पृथ्वी पर प्रसन्न होकर (जीवों का) भक्षण करता है। भेंड़ (वासना) बकरी के बच्चे (धार्मिक ग्रन्थों) का स्तनपान करती है। कबीर एक जगह और भी अजीब बातें कहते हैं। पहले पुत्र (जीव) उत्पन्न हुआ पीछे उसकी माता (माया) का जन्म हुआ, और यह बात बड़ी ही विचित्र है कि गुरु (शब्द) अपने चेला (जीवात्मा) को प्रणाम करता है। कबीर आश्चर्य-चकित होकर देखते हैं कि गाय (वाणी) सिंह (ज्ञान) को चरा रही है। जल (सुषुम्ना) में रहनेवाली मछली (कुंडलिनी) पेड़ (मेरुदंड) पर जाकर बच्चे पैदा करती है और देखते ही देखते कुत्ते (अज्ञानी) को बिल्ली (माया) उठाकर ले भागती है। कबीर एक ऐसा वृक्ष (सुषुम्ना) देखते हैं जिसके नीचे तो पत्ते हैं और ऊपर जड़ है और तारीफ यह कि पेड़ फूलों-फलों (चक्रों और सहस्रदलादि) से परिपूर्ण है। घोड़ा (मन) चरता है और भैंस (तामसी वृत्तियां) उसे चराने ले जाती है; बैल (पंच प्राण)

ो वाहर ही खड़ा रहता है लेकिन गोनि (स्वरूप की सिद्धि) ९५५.
भीतर चली जाती है । इतना ही नहीं, कवीर ने यह भी देखा है कि स्त्री (माया) ने अपने स्वामी (देवताओं) को उत्पन्न किया है, पुत्र (अज्ञान) ने अपने पिता (मन) को अनेक खेल खेलाया है और उसे सघन दूध (थोथा ज्ञान) पिलाया है। कवीर ने सच्चे गुरु का वाण (शब्द का) मारते हुए देखा है और यह भी देखा है कि गूंगा (ईश्वरानुभूति में मग्न) तो मूक-वधिर (सांसारिक शब्दों को नहीं सुननेवाला) हो गया है और वहरा (ईश्वरीय संदेश की ओर उपेक्षा दिखलानेवाला) कान-सहित (गुरु-उपदेश को सुननेवाला) हो गया, चलनेवाला (तीर्थाटनकर्त्ता) पंगु (एक ही ब्रह्म में स्थित) हो गया है और पंगु (एक ही स्थान पर स्थिर रहनेवाला संत) स्वर्गगामी (विश्वव्याप्त) हो गया। अनेक स्थलों पर कवीर ने जानवूझकर उलटबाँसियों में गंभीरता भर दी है पर उन पंक्तियों के भीतर से किसी की व्यंग-मुस्कान जरूर दिखल पड़ती है—ऐसे अवसर पर पंडितों के ज्ञान की थाह लेने का सु उपाय कवीर ने अख्तियार किया था। शास्त्रों के आचार्यों को उन खुलेआम ललकारा था कि यदि सचमुच तुममें साहस हो त उ हमारी वात तो पहले समझ ल , पोथी पीछे उलटना। ऐसे प्रसंग शास्त्रज्ञान के अंधों का कवीर ने काफी मजाक उड़ाया है और चिकोटी काटी है। पंडित से प्रश्न करते समय कवीर की अ देखिए—

तुम वूझहु पंडित कौन नारि,
कोइ नाहि विआइल रह कुमारि।

भेदि सब देवन मिलि हरिहि दीन्ह,
तेहि चारिहुँ युग हरि संग लीन्ह।
यह प्रथमहिं पद्मिनि रूप पाय,
है साँपिनि सब जग खेदि खाय।

इसी तरह पलटू भी कहते हैं—

गंगा पाछे को बही मछरी चढ़ी पहार।
मछरी चढ़ी पहार चूल्ह में फंदा लाया।
पुखरा भीटे बाँधि नीर में आग छिपाया॥
अहिरिन फेंके जाल कुम्हारिन भैंस चरावै।
तेली के मरिगा बैल बैठ के धुबइनि गावै॥
महुवा में लागा दाख भाँग में भया लुवाना।
साँप के बिल के बीच जाय के मूस लुकाना॥

कबीर ने योगपरक रूपकों के अतिरिक्त अन्य रूपकों का भी अधिकता से व्यवहार किया है। प्रायः सभी रूपक हमारे दैनिक जीवन में अनुभव की गई वस्तुओं से ही संबन्ध रखते हैं। कबीर जब ज्ञान की आँधी बुलाते हैं तो भ्रम की टट्टी उड़ती नजर आती है, बलेंडा मोह बन जाता है, छप्पर तृष्णा बन जाता है, भांडा दुर्मति का पर्याय हो जाता है, जल अनुमति के रूप में दिखलाई पड़ता है और भानु ईश्वरीय ज्योति के रूप में प्रकट होता है। इसी प्रकार आरती की चर्चा करते समय तेल तत्त्व है, बत्ती नाम है, ज्योति आत्मज्ञान है, प्रकाश परमेश्वर की ज्योत्स्ना है, और पंचशब्द अनाहत नाद है। कबीर की भाषा में कुम्हार ब्रह्म है, मिट्टी शरीर है, भांडा आदि प्राणिमात्र हैं।

कबीर के यहाँ चोर के रूप में माया आती है, वह शरीर की कोठरी में आत्मारूपी धन को चुराने का प्रयास करती है। शरीर का स्वामी मन है, पाँचो इन्द्रियाँ पांच चौकीदार हैं। कबीर के काव्य में सुहागिन नारी कभी-कभी माया बन जाती है, जीव उसका खसम हो जाता है, संसार के दूसरे जीव रखवारे हो जाते हैं, प्रेम और वासना के शब्द नूपुर बन जाते हैं और मोहने के नए-नए रूप ही शृंगार की संज्ञा प्राप्त करते हैं। इनके अतिरिक्त वधु-विदा का दृश्य कबीर को बहुत मोहता है—यहाँ वधू आत्मा है, उसका पीहर संसार है, ब्रह्म उसका प्रियतम है, डोली शरीर है, मृत्यु पाहुन है। कबीर की आत्मा विरहिणी है, ईश्वर उसका प्रियतम है, रात्रि यौवन है, दिन वृद्धावस्था है, भ्रमर काले बादल हैं, कच्चा घड़ा पार्थिव शरीर है, पानी अवस्था है और काग सांसारिक अभिलाषा है। अन्यत्र कबीर के लिए सास माया है, ससुर गुरु है, जेठ दुर्जन है; सहेलियाँ कर्मेन्द्रियाँ हैं, ननद ज्ञानेन्द्रियाँ ह. देवर साधु पुरुष हैं, बाप अहंकार है; बड़ा भाई 'सहज' है, प्रियतम ईश्वर है, स्त्री आत्मा है और सेज शरीर है।

इस प्रकार, कबीर के रूपकों को ध्यान से देखने पर अर्थ समझ में कोई कठिनाई नहीं होती। 'सहज' का पथ अवलंबन करनेव कितना भी अस्पष्ट होगा, एक सीमा के अंदर ही रहेगा। कबीर के हमजोली भी इसी 'सहज' के उपासक हैं और प्रायः सबने सरल भाषा और सरल शैली का ही व्यवहार किया है। इन मस्तानों को डाँट-फटकार ज्यादा करनी थी और गुस्से में हम अलंकार-पिंगल के पन्ने टटोलकर नहीं बोला करते!

प्रेम-मार्ग

प्रेमगाथा-परम्परा और उसपर सूफीमत का प्रभाव

सूफीमत भारत की मिट्टी से न फूटकर फारस और ईरान की भूमि पर विकसित हुआ; अतः उसकी सारी भावनाओं में ईरानी संस्कृति की बात भरी हुई हो, तो कोई आश्चर्य की वात नहीं। मुहम्मद साहब की मृत्यु के पश्चात् वसरा के आसपास 'मोतजली' नाम का एक प्रगतिवादी सम्प्रदाय चल पड़ा था जिसे मध्ययुग का संत-आन्दोलन कहा जा सकता है। इन संतों की कुछ नई मान्यताएँ थीं जो पाक-कुरान से भिन्न थीं। ये मोतजली भगवान को भय की दृष्टि से न देखकर आदर और प्रेम की दृष्टि से देखने लगे—उसके निकट जाने की कोशिश करने लगे, 'मैं' से 'तू' होने की मंजिल तय करने लगे। कुरान के अनुसार बंदा कभी अल्लाह नहीं हो सकता। मोतजलियों की बातें मुसलमानों को बुरी लगीं और काफिर मानकर इनपर ज़ोरदार अत्याचार किए जाने लगे। इन संतों की अक्खड़ता जगी और पैशाचिक

कृत्यों के भीतर-भीतर उनकी संख्या घटने के बजाय बढ़ती ही गई। सर्वप्रथम सूफी संत अबूहाशिम को इस संघर्ष में अपनी आहुति देनी पड़ी। भक्तों की संख्या इतनी बढ़ी कि पुरुषों के साथ-साथ नारियाँ भी सूफी-मार्ग पर दौड़ पड़ीं। अतिप्रसिद्ध रबिआ और उसकी सहेलियाँ मसूर के साथ देश भर में घूम-घूमकर खुदा और बंदे के जन्मसिद्ध प्रेम-संबन्ध का प्रचार करने लगीं। रसूल के साथ मर्त्यवासियों का इश्क फरमाना कुरानवादियों के लिए खुदा की बेइज्जती करना था और इसे इन सूफियों की बदतमीजी समझकर रबिआ की सहेलियों के हाथ-पांव काट लिए गये और 'अनलहक' के पुजारी मंसूर को जिन्दा जला दिया गया! इन शहीदों का अपराध सिर्फ इतना ही था कि इन्होंने सारे विश्व को परमात्मा के प्रेम में सराबोर देखा था—जीव और जगत को उस 'एक' से मिलने के लिए मचलते हुए देखा था, रात का रोना देखा था, सुबह का हँसना देखा था। और इन सबमें उस 'तू' की झाँकी इन्हें मिली थी, 'तत्त्वमसि' का पुनीत आशीर्वचन मिला था। मंसूर ने कहा था—'मैं वही हूँ जिसको प्यार करता हूँ, मेरे दिल का नूर वही है या मैं हूँ। हम एक शरीर हैं, सिर्फ प्राण दो हैं। यदि कोई मुझे देखता है तो वह वस्तुतः उसे देखता है और जब उसे देख लिया तो निश्चय ही वह हम दोनों को देखता है।'

मंसूर के पश्चात् सईद, फराबी, गजाली आदि संत हुए। गजाली के समय तक इस्लाम से सूफियों का संघर्ष मिट चुका था। कुरान-वादियों को कमान रख देनी पड़ी थी और, संक्षेप में, सूफीदर्शन इस्लामी दर्शन के साथ-साथ सट आया था। गजाली के बाद जिली और रूम

आदि प्रमुख साधकों के परिश्रम से सूफीमत को इस्लाम के ही अन्दर शामिल कर लिया गया और जहाँ भी इस्लाम का झंडा घूमा वहाँ-वहाँ सूफी-मत भी चुपके से प्रवेश कर गया।

ईरान की कहानी से अधिक हमें हिन्दुस्तान की कहानी से मतलव है और भारत में मुसलमानों के घुसने के पहले से ही सूफी-दरवेशों ने अपनी कहानी का काफी हिस्सा सुना डाला था। यह सत्य है कि उनके सिद्धान्तों को विदेशी सिक्का समझकर लोगों ने घरों में स्थान नहीं दिया, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रेम के तराने पर थिरककर हिन्दुओं ने सूफियों के दास्तान सुनने के वाद 'वाह' कहकर 'पीर' की तीव्रता के कारण आह न छोड़ी हो! जवतक इस्लामी तलवार म्यान के वाहर रही तवतक इन दरवेशों की विरह-रागिनी सुनने की फुरसत किसी को नहीं थी, पर शांति-स्थापन के वाद इनकी ओर लोग आकुल होकर दौड़े। लैला-मजनूं और शीरीं-फरहाद की प्रेम-कहानियों को रोचक ढंग से सुनने के लिए टोलियाँ उमड़ पड़ीं। ये सूफी संत काफी सहिष्णु विचार के थे--शासक और शासित के वीच वैपम्य देखकर इनकी आत्मा में टीस पैदा हुई और लोग शायद इनकी ईरानी कहानियों की वजह से इन्हें भी विदेशी न समझ लें इसलिए हिन्दू-हृदय को वश में करने और मानवमात्र को प्रेम का संदेश देने के लिए इन संतों ने हिन्दू-जीवन की प्रेम-कहानियों को अपने प्रवचन में स्थान दिया। हिन्दी का भक्तियुग इन दिनों पूरे पेंग में दक्षिण से झूलता-झूलता उत्तर में लहरा रहा था। इसी पेंग में सूफी संतों की वाणी एक सिहरन वनकर समा गई। भक्ति के उमड़ते हुए सागर में सूफी

मत एक लहर बनकर मिल गया। सन् १००० के पश्चात् सूफीमत की कितनी प्रतिष्ठा हुई इसका अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि शंकर, रामानुज, रामानंद आदि भक्ति के 'भीषण' स्तम्भों के होते हुए भी सूफी संतों में मुईनुद्दीन, कुतुबुद्दीन, करकी, फरीद, शेख चिश्ती, निजामुद्दीन ओलिया आदि का नाम आदर से लिया जाता था—देश भर में इनकी प्रसिद्धि थी, सम्मान था। इन संतों की कहानियाँ पंजाब और सिंध की भाषा में लिखी गई थीं और शायद इसीलिए दिल्ली के बहुत पूरब तक इनका प्रभाव नहीं पड़ा। सूफी-संत समग्र भारत में फैलते गए और जहाँ-जहाँ गए वहाँ की बोली में रचनाएँ करने लगे। यह सूफी-साहित्य दक्षिणभारत में भी गया और वहाँ की भाषा में भी इस साहित्य के ग्रन्थ लिखे गए। लेकिन जो प्रसिद्धि अवधप्रान्त के सूफियों को मिली वह शायद ही किसी को मिली है। इन सूफियों ने सूफी-साहित्य को एक निश्चित स्थान दिया और आज अवधी और सूफीमत का इतना घना संबंध मालूम होता है कि सूफी-साहित्य कहने के साथ ही अवधी भाषा का एकाएक बोध हो जाता है।

हिन्दी में यों तो काफी अधिक मात्रा में सूफी-साहित्य का प्रणयन हुआ है, पर जायसी के ग्रंथों ने सूफी-साहित्य को भारतीय साहित्य में इस तरह समाविष्ट कर दिया है कि आपको आश्चर्य होगा। आज हिन्दी-साहित्य का विद्यार्थी जितनी लगन से जायसी के काव्य का अध्ययन करता है, उतनी लगन से उर्दू-साहित्य का विद्यार्थी नहीं करता; और विरोधाभास यह है कि बहुतेरे उर्दू काव्य के आचार्य जायसी का नाम भी नहीं जानते—इस प्रकार सूफी-काव्य को, जिसपर

एक दिन मुसलमानियत की मुहर लगी हुई थी, एकदम से हिन्दू-जीवन का एक अंग बना देना सूफी कवियों की कलम का ही जादू है ! हिन्दी में सूफी-काव्य की निश्चित परंपरा का उल्लेख तो जायसी के बहुत पहले से ही किया जाता है, पर वस्तुतः उसका प्रारंभ ठीक-ठीक जायसी से ही होता है, यदि ऐसा माना जाय तो विशेष अत्युक्ति नहीं ।

हिन्दी के आलोचकों ने काफी जोर देकर यह कहा है कि सूफियों के प्रेमकाव्य की एक सुनिश्चित परंपरा है और जायसी इसी परंपरा के पिछले छोर पर आते हैं । लेकिन ध्यान से देखने पर और विशेषतः सामग्रियों की प्रामाणिकता की छानबीन करने पर हमें कोई भी ऐसी सामग्री नहीं मिलती जिससे यह ठीक-ठीक कहा जा सके कि अवधी में जायसी के पहले सूफियों की कोई परंपरा थी । इतिहास की क्रमबद्धता के सिलसिले में शुक्लजी ने सूफियाना परंपरा का अप्रत्यक्ष दर्शन कराया और लोग अंधाधुंध बिना सोचे-विचारे उनका अनुकरण करने लग गए । सच पूछिए तो जायसी के पहले लिखी जानेवाली 'मृगावती' और 'मधुमालती' आदि पुस्तकों की जो चर्चा होती है, ये पुस्तकें आज कहीं हैं या नहीं इसका भी पता नहीं है । जायसी ने 'पद्मावत' में अपने पहले की निम्नांकित रचनाओं की चर्चा की है—

विक्रम फँसा प्रेम के बारा सपनावती कहँ गएउ पतारा ।
मधुपाछ मुगुधावती लागी गगन पूर होइया बैरागी ।
राजकुँअर बेचनपुर गएऊ मिरगावती कहँ योगी भएऊ ।

साधु कुँवर खंडरावत जोगू मधुमालती कहँ दीन्ह वियोगू।
प्रेमावती कहँ सुरसरि साधा ऊपा लागि अनिरुध बर माँगा।

इस अवतरण में सपनावती, मुग्धावती, मृगावती, खंडरावती, मधुमालती और प्रेमावती का उल्लेख मात्र मिलता है। हो सकता है, जायसी के समय ये पुस्तकें उपलब्ध हों या सिर्फ कहानियाँ ही चलती हों; लेकिन आज तो इनमें से किसी भी पुस्तक की एक भी प्रामाणिक प्रति नहीं मिलती। सपनावती, मुग्धावती, खंडरावती और प्रेमावती के संबन्ध में तो विद्वानों ने एक स्वर से यह स्वीकार किया है कि उनके संबन्ध में कुछ भी सामग्री नहीं मिलने के कारण उनकी प्रामाणिकता में संदेह है। मधुमालती और मृगावती का भी लगभग यही किस्सा है। इन दोनों पुस्तकों के संबन्ध में शिरेफ का कहना है कि ये वैसी ही भ्रांत रचनाएँ हैं जैसी रचना 'गोरा-बादल की कथा' है—सिर्फ नाम का ही टीमटाम, बाकी कुछ नहीं। आज मधुमालती और मृगावती की जो प्रतियाँ मिलती हैं वे अँगरेजी के अनुवाद से आई हैं। अतः यह निश्चित है कि उनका प्रणयन लल्लूलाल आदि के पहले नहीं हुआ है। अपने मूलरूप में वे किस स्थिति में थीं, इसे समझने के लिए हमारे पास आज कोई साधन नहीं है। इन दोनों पुस्तकों का कथानक कुछ प्राप्त उद्धरणों के बल पर पूरा कर लिया जाता है। ना० प्र० पत्रिका में प्रकाशित कुछ उद्धरण ही इनकी पुष्टि के लिए जाते हैं, लेकिन आज यहाँ ये पुस्तकें मिलती नहीं। इस प्रकार जायसी के पहले की परंपरा को प्रामाणिक सिद्ध करने की चेष्टा एक निकम्मा प्रयास ही होगा।

कहनेवाले कहते हैं कि अवधी में सबसे पहला प्रेमकाव्य मुल्ला दाउद

(

का लिखा हुआ 'नूरक और चंदा' है जिसकी रचना-तिथि सन् १३१८ ई० है, लेकिन उन्हीं का कहना है कि वह पुस्तक किसी को अबतक कहीं देखने को नहीं मिली। सुनने में आया है कि उसके वाद भी रचनाएँ होती रहीं। जायसी के पहले की रचनाओं के संवन्ध में हम ऊपर विचार कर चुके; हाँ, जायसी के वाद कुछ काल तक प्रेमकथा-काव्य अवश्य लिखे गए जिनके ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध हैं। सन् १५३३ ई० ('पद्मावत' का रचनाकाल) के वाद उसमान की लिखी 'चित्रावली' (सन् १६१३ ई०) का जायसी की परवर्ती रचनाओं में मुख्य स्थान है। उसमें नेपाल के सम्राट् सुजान और रूपनगर की राजकुमारी की प्रेम कहानी है। इस ग्रन्थ पर 'पद्मावत' का काफी स्पष्ट प्रभाव पड़ा है और सिर्फ इसी पर नहीं, वाद में लिखी जानेवाली प्रायः सभी प्रेमकथाओं पर जायसी की प्रतिभा विखरी हुई है। 'चित्रावली' की एक प्रमुख विशेपता यह है कि अन्य कहानियों की तरह इसका संवन्ध न तो किसी जनश्रुति से है और न किसी इतिहास से; इसकी उद्‌भावना कवि ने स्वयं की है जो 'कथा एक मैं हिए उपाई' की उक्ति से स्पष्ट है। उसमान के वाद प्रेमगाथाकारों की परंपरा निश्चित रूप से पाई जाती है—यहाँ तक कि १९वीं शताब्दी के अंत तक प्रेमकाव्य की रचनाएँ मिलती हैं। यहाँ यह ध्यान में रखना होगा कि जायसी के वाद प्रेमकथाओं की लोकप्रियता इतनी वढ़ी कि मुसलमानों की कौन कहे, हिन्दुओं ने भी दिल लगाकर इश्क का दास्तान लिखना शुरू कर दिया। फुहकर का 'रसरतन' (१६०० ई०) प्रेमाख्यान शैली पर लिखा हुआ एक अच्छा काव्य है—इसमें

सूरसेन की कथा लिखी हुई है। सन् १६७३ में काशीराम ने रतनपुर के राजकुमार की प्रेमकहानी को लेकर 'कनक-मंजरी' लिखा, देवयानी की कथा के सहारे शेखनवी ने सन् १७१९ में 'ज्ञानदीप' लिखा, कासिमसाह ने सन् १७३१ में 'हंस-जवाहर' लिखकर राजा हंस और रानी जवाहर की कथा को काव्य का रूप दिया। इसी तरह नूर मुहम्मद ने 'इन्द्रावती' लिखकर सन् १७४४ में राजकुँअर और इन्द्रावती के प्रेम-संवन्ध की स्तुति की और हरिसेवक मिश्र ने भी इसी वर्ष 'कामरूप की कथा' लिखकर आसाम के सौन्दर्य को मुखरित किया। 'युसूफ-जुलेखा' की प्रसिद्ध कहानी निसार ने १८१९ ई० में लिखी और १९वीं शताब्दी के मध्य की रचना 'प्रेमरतन' को फाजिलशाह ने सन् १८४८ ई० में लिखकर नूरशाह और माहेमुनीर के इश्क को लोगों के घर-घर पहुँचा दिया। इन कहानियों के अलावे हरराज-कृत 'ढेला मारवणी चौपही', आलमकृत 'माधवानल-कामकंदला', प्रेमचंद-कृत 'चन्द्रकला', मृगेन्द्रकवि-कृत 'प्रेमपयोनिधि' इत्यादि छोटे-वड़े ग्रंथ भी मिलते हैं जिनमें प्रेमकथा की परंपरा का पालन देखा जाता है। इन ढेर की ढेर कहानियों में ऐतिहासिक कहानियों को आसानी से छाँटा जा सकता है। सूफी कवियों ने मुख्यतः लोगों में काफी प्रचलित कथानकों को ही स्वीकार किया था, यही कारण है कि अधिकांश कहानियाँ जनश्रुति पर अवलंबित हैं।

इन सारी कहानियों को इकट्ठे देखने पर कुछ ऐसी विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं जो प्रायः सबमें एक-सी हैं। पहली बात तो यह कि सभी में मसनवी पद्धति का पालन किया गया है—ईश-स्तुति,

पैगम्बर-वंदना, शाहे-वक्त का उल्लेख, आत्मपरिचय आदि। दूसरी बात कि सभी अवधी में लिखी गई हैं और एक ही, दोहे और चौपाइयों के, साँचे में ढली भी हैं। इन सभी काव्यों में सूफी-सिद्धान्तों की आत्मा का हाथ-पाँव तोड़कर बैठा दिया गया है—हिन्दू-शरीर में सूफी-जान डाल दी गई है गोया कोयल को बुलबुल बना दिया गया है। ईरान की संस्कृति बोलती है कि पुरुष इश्क करते समय स्त्री पर पहले आकर्षित होगा और वही भोगेगा। चीखना-तड़पना, आहें भरना और प्रेमजनित सारे कुकर्म करना उसके भाग्य में ही बदा है। भारत के सूफियों ने अपने उद्‌गमस्थल की इस भावना को ज्यों का त्यों सुरक्षित रखकर अपनी नमकहलाली का परिचय तो दिया; लेकिन, भारत की प्राकृतिक सुषमा ने उन्हें इतना अधिक आकर्षित किया कि वे 'ठंढी-ठंढी रेत में खजूर के तले' का तराना भूलकर षट्-ऋतुओं के परिमल लदे संगीत पर लहालोट हो गए और फिर बारहमासे के चक्कलस से अपने को बचा नहीं सके। इनके नगर-वर्णन और नारी-सौन्दर्य-वर्णन का साँचा भी भारतीयों से उधार ही माँगा हुआ है। ध्यान देने की बात है कि इस उधार को लौटाते समय सूफियों ने सूद का दरसूद भी दे दिया है—प्रेमचित्रण के रूप में। साधक की तड़प और एकांतिक प्रेम की फुहियों से इनका सारा काव्य इतना सुहावना मालूम होता है, बस, कहते नहीं बनता। विरह को तो जैसे सूफियों ने सूक्ष्म की ड्योढ़ी से बाहर खींचकर बिलकुल स्थूल, साकार बनाकर हमारे सामने खड़ा कर दिया है। प्रेम की परिभाषा बहुतों के मुँह से आपने सुनी होगी, सूफियों की वाणी में भी उसकी व्याख्या सुनिए

सूरसेन की कथा लिखी हुई है। सन् १६७३ में काशीराम ने रतनपुर के राजकुमार की प्रेमकहानी को लेकर 'कनक-मंजरी' लिखा, देवयानी की कथा के सहारे शेखनबी ने सन् १७१९ में 'ज्ञानदीप' लिखा, कासिमसाह ने सन् १७३१ में 'हंस-जवाहर' लिखकर राजा हंस और रानी जवाहर की कथा को काव्य का रूप दिया। इसी तरह नूर मुहम्मद ने 'इन्द्रावती' लिखकर सन् १७४४ में राजकुँअर और इन्द्रावती के प्रेम-संबन्ध की स्तुति की और हरिसेवक मिश्र ने भी इसी वर्ष 'कामरूप की कथा' लिखकर आसाम के सौन्दर्य को मुखरित किया। 'युसूफ-जुलेखा' की प्रसिद्ध कहानी निसार ने १८१९ ई० में लिखी और १९वीं शताब्दी के मध्य की रचना 'प्रेमरतन' को फाजिलशाह ने सन् १८४८ ई० में लिखकर नूरशाह और माहेमुनीर के इश्क को लोगों के घर-घर पहुँचा दिया। इन कहानियों के अलावे हरराज-कृत 'ढोला मारवणी चौपही', आलमकृत 'माधवानल-कामकंदला', प्रेमचंद-कृत 'चन्द्रकला', मृगेन्द्रकवि-कृत 'प्रेमपयोनिधि' इत्यादि छोटे-बड़े ग्रंथ भी मिलते हैं जिनमें प्रेमकथा की परंपरा का पालन देखा जाता है। इन ढेर की ढेर कहानियों में ऐतिहासिक कहानियों को आसानी से छाँटा जा सकता है। सूफी कवियों ने मुख्यतः लोगों में काफी प्रचलित कथानकों को ही स्वीकार किया था, यही कारण है कि अधिकांश कहानियाँ जनश्रुति पर अवलंबित हैं।

इन सारी कहानियों को इकट्ठे देखने पर कुछ ऐसी विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं जो प्रायः सबमें एक-सी हैं। पहली बात तो यह कि सभी में मसनवी पद्धति का पालन किया गया है—ईश-स्तुति,

पैगम्बर-वंदना, शाहे-वक्त का उल्लेख, आत्मपरिचय आदि। दूसरी बात कि सभी अवधी में लिखी गई हैं और एक ही, दोहे और चौपाइयों के, सांचे में ढली भी हैं। इन सभी काव्यों में सूफी-सिद्धान्तों की आत्मा का हाथ-पाँव तोड़कर बैठा दिया गया है—हिन्दू-शरीर में सूफी-जान डाल दी गई है गोया कोयल को बुलबुल बना दिया गया है। ईरान की संस्कृति बोलती है कि पुरुष इश्क करते समय स्त्री पर पहले आकर्षित होगा और वही भोगेगा। चीखना-तड़पना, आहें भरना और प्रेमजनित सारे कुकर्म करना उसके भाग्य में ही बदा है। भारत के सूफियों ने अपने उद्गमस्थल की इस भावना को ज्यों का त्यों सुरक्षित रखकर अपनी नमकहलाली का परिचय तो दिया; लेकिन, भारत की प्राकृतिक सुषमा ने उन्हें इतना अधिक आकर्षित किया कि वे 'ठंढी-ठंढी रेत में खजूर के तले' का तराना भूलकर षट्-ऋतुओं के परिमल लदे संगीत पर लहालोट हो गए और फिर बारहमासे के चक्कलस से अपने को बचा नहीं सके। इनके नगर-वर्णन और नारी-सौन्दर्य-वर्णन का साँचा भी भारतीयों से उधार ही माँगा हुआ है। ध्यान देने की बात है कि इस उधार को लौटाते समय सूफियों ने सूद का दरसूद भी दे दिया है—प्रेमचित्रण के रूप में। साधक की तड़प और एकांतिक प्रेम की फुहियों से इनका सारा काव्य इतना सुहावना मालूम होता है, बस, कहते नहीं बनता। विरह को त. जैसे सूफियों ने सूक्ष्म की ड्योढ़ी से बाहर खींचकर बिलकुल स्थूल, साकार बनाकर हमारे सामने खड़ा कर दिया है। प्रेम की परिभाषा बहुतों के मुँह से आपने सुनी होगी, सूफियों की वाणी में भी उसकी व्याख्या सुनिए

और यह बात ध्यान में रखे रहिए कि यह आवाज मंसूर के वंशजों की है, किसी ऐरे-गैरे राह-चलते फकीर की नहीं !—

अलख प्रेम कारन जग कीन्हा।
धन जो सीस प्रेम कँह दीन्हा॥
जाना जेहिक प्रेम मँह हीया।
मरै न कबहूँ सो मरजीया॥
प्रेम खेत है यह दुनिआई।
प्रेमो पुरुख करत बोआई॥
जीवन जाग प्रेम को कहई।
सोवन मीचु वो प्रेमी अहई॥
आग तपन जल चाल समूझो।
पुनि टिकाउ माँटी कहँ बूझो॥
हौ प्रेमी है प्रेम को चंचलताई काय।
जा मन जाया प्रेमरस भा दोउ जग को राय॥

इन प्रेमियों की एक निराली दुनिया थी - आज 'मुहब्बत' के खोटे सिक्के को बाजार में जिस-तिस दुकान पर चलाने की फिराक में घूमनेवाले मनचले इन दीवानों के इश्क की जलन को खाक नहीं समझ सकते। प्रेम की जो पयस्विनी सूफियों ने बहाई उसमें अवगाहन करने का साहस वे ही कर सकते हैं जो तुलसी के 'शंबुक भेक सेवार समाना' की पंगत में बैठने से हिचकते हों। यह सत्य है कि इनके कथानक भारतीय काव्य-परंपरा से कुछ दूर जा पड़े हैं और ऐसी बातों का वहाँ समावेश हो गया है जो भारतीय दृष्टि से अप्राकृतिक लगते हैं;

किन्तु जीवन की जो 'लौ' जला दी गई है वह तो कभी बुझने की नहीं है। सुना है, मुहब्बत का चिराग आँधियों में भी नहीं बुझा करता ! .सूफी दास्तान में वर्णित नायिका के रूप-वर्णन से नायक का बेहोश हो जाना और विरह की अग्नि से झुलसकर नायक का अभिसार में निकलना आदि बातें भारतीय दृष्टिकोण से काफी हास्यास्पद दिखलाई पड़ती हैं। पुरुष कठोरता का प्रतीक है, वह कष्ट बर्दाश्त कर सकता है; नारी की काया कोमल तंतुओं से निर्मित है, वह दुःख की आँच में जल्दी ही चीख उठती है। यही कारण है कि मूर्च्छा और बेहोशी, भारतीय कथानकों के सौन्दर्य-विधान के लिए, नारियों के आँचल में ही बाँध दी गई हैं। अभिसार की कठिनाइयों का वर्णन-सौन्दर्य उसी समय तीव्र मालूम पड़ता है जब कोई कोमलाङ्गिनी साहसिक होकर प्रेमोत्कर्ष में पहाड़ों को लाँघने चल पड़ती है। पुरुष यदि यह सब करता है तो वह कुछ विशेष नही करता; क्योंकि ये सभी बातें तो उसके काठिन्य की व्यख्या ही करती हैं, यदि वह कुछ दूर पड़ी नायिका से जरा मिहनत करके मिल भी नहीं सकता तो क्या बुर्का ओढ़कर चूड़ियाँ खनखनायगा ? सूफी काव्यों में नायक-संबन्धी यही दुर्बलता है—इसे हटा दीजिए तो जो कुछ बचेगा वह काफी सुन्दर है, बेहद।

सूफी कहानियों के लिखने का अभिप्राय मुख्य रूप से दार्शनिक सिद्धान्तों को मीठा बनाकर लोगों के सामने प्रस्तुत करना था। यहाँ कहानी का स्थान गौण था, सिद्धान्तों की समुचित व्याख्या करना ही प्रधान था। कहानी ऊपरी सतह की चीज थी, तल म सूफी-दर्शन ही

फैला हुआ था। लेकिन, धीरे-धीरे चीजें बदलती गईं; यहाँ तक कि यूसुफ जुलैखा में कहानी ही कहानी रह गई है और इसके बाद की प्राय: सभी रचनाओं में दर्शन सिर्फ छू-छा भर है, यहाँ जो कुछ है, किस्सा ही किस्सा है। मसनवी ढंग पर जो कुछ भी लिख दिया जाय वह सूफी-प्रेमकथा-काव्य नहीं बन जा सकता, इस तथ्य को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए; नहीं तो सूफी-कविताओं को पढ़ते समय काफी भ्रम की गुंजाइश हो सकती है।

अब संक्षेप में सूफी-मत के प्रमुख सिद्धान्तों पर भी विचार कर लिया जाय।

ईरानियों का धर्म प्रारंभ में शस्त्र से ज्यादा मतलब रखता था। स्वभाव से ही वे दर्शन या अध्यात्म के पीछे पड़ना नहीं चाहते थे। इतमिनान से बैठकर गंभीर चिंतन करने की अपेक्षा उन्हें तलवार की कलाबाजी दिखाने का ज्यादा शौक था। यही कारण है कि अरबों और ईरानियों के यहाँ अध्यात्म नाम की कोई ठोस चीज नहीं है। इस्लाम में खुदा का व्यापकत्व तथा उसकी इकाई आदि की भावना किसी विकसित दर्शन की नींव पर नहीं टिकी है और न उसका हृदय से कोई विशेष संबन्ध है। वह बिल्कुल बाहर की चीज है। दूत के रूप में मुहम्मद आते हैं और अल्लाह का पैगाम इस आवाज में सुनाते हैं कि खुशी से या गम से उसे स्वीकार करना ही पड़ता है। इस्लाम ने किसी दैवी आज्ञा को सुनकर खुदा को छोड़ किसी दूसरे को परमसत्ता के रूप में नहीं अपनाया, पर सूफियों ने स्वयं यह अनुभव किया कि उसके अतिरिक्त और कुछ तत्व है ही नहीं। इस्लाम यह सदा स्वीकार

करता है कि खुदा के बाद भी देवताओं की श्रेणियाँ हैं जिनकी शक्ति मनुष्य से काफी बड़ी है—वे पीर हैं, फरिश्ते हैं, जिन्न हैं। तसव्वुफ इन सबको कुछ नहीं समझता। उसके सामने सिर्फ खुदा है, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं; क्योंकि विश्व में जो कुछ भी दिखलाई पड़ता है वह वही है।

इस्लाम का खुदा सगुण-निराकार है। कुरान में उसके सिंहासन और दरबार आदि का इतना भव्य और विशद चित्रण मिलता है कि प्रत्येक शब्द से उसके साकार होने का बोध होता है। इतना ही नहीं, उस सिंहासन पर अल्लाह के बैठने के ढंग का वर्णन तो रही-सही शंका भी दूर कर देता है और तब आगे के परिच्छेदों में अल्लाह के नाक, कान, हाथ, पैर के वर्णन पाकर पाठक विशेष आश्चर्यान्वित नहीं होता। खुदा अपने दूतों को भेजता रहता है और मानव-कल्याण में जागरूक रहता है। इसके अतिरिक्त वह एक कठोर शासक भी है—उसके आदेशों का जो पालन नहीं करते उन्हें वह कड़ी-से-कड़ी सजा देता है। इसी अल्लाह के दूत के रूप में मुहम्मद आते हैं। इस अल्लाह पर श्रद्धा इसलिए अधिक होती है कि उससे डर लगता है। औरों की बात छोड़िए, प्रसिद्ध साधिका रबिआ को भी इस्लाम के अल्लाह से कम खौफ नहीं था। रसूल मुहम्मद के सामने वह डरकर अपनी सफाई पेश करती है—'हे-रसूल, भला ऐसा कौन-सा प्राणी होगा जिसे आप प्रिय न हों। पर मेरी तो विचित्र दशा हो गई है; मेरे हृदय में भगवान इतना व्याप्त हो गया है कि उसके अतिरिक्त किसी अन्य के लिए स्थान ही नहीं है।' यह डर मुहम्मद को इतने ऊँचे आसन पर बैठाए रहता है कि

की गर्मी है, हवा उसकी बेचैनी है, पानी उसकी मौज है, मौत इश्क की बेहोशी है, जिंदगी उसकी होशियारी है, रात उसकी नींद है, दिन उसका जागना। यदि यह इश्क न होता तो संसार कभी भी इतना सुन्दर और मंगलमय नहीं होता।

सूफियों ने अपने ब्रह्म को सूक्ष्म माना है—अतिसूक्ष्म। इस्लामी खुदा-भावना को स्वीकार करते हुए भी ये उससे काफी आगे बढ़ गए हैं। जायसी, उसमान, मंझन आदि सभी सूफियों की रचनाओं में अल्लाह का अतिसूक्ष्म रूप ही व्यक्त किया गया है। जायसी के अनुसार 'करतार' की कोई सीमा नहीं है, वह अलक्ष और अरूप है।—

अलख अरूप अबरन सो कर्ता, वह सब सों, सब ओही सों वर्ता।
परगट गुपुत सो सरवबियापी, धरमी चीन्ह, न चीन्है पापी।
ना ओही पूत न पिता न माता, ना ओही कुटुँब न कोई संग नाता
हुत पहिले अरु अब है सोई, पुनि सो रहै रहै नहिं कोई।

ऐसे ब्रह्म के संबन्ध में निसार कहता है—

जाके रूप न रंग न रेखा, ताकिय रचना आब न लेखा।
वहै रूप वपु प्रेम कसाना, दीन्ह झार कहि अलख सुजाना॥
अलख, अमर, अविनासी घट-घट व्यापक होय।
सरवमयी सुखदायक दुख भंजन है सोय॥
वह पूरन चौदह खँड माँही, वह बिन जिया जन्तु कोउ नाहीं।
ना वह मरे, न मिटे, न होई, अपरम मरम न जाने कोई।

आलम का ब्रह्म भी इसी तरह का है। वह घट-घट में रहनेवाला अन्तर्यामी है। उसका न आदि है, न अंत। वह निराकार है, निर्वि-

बंदा सदा सकपकाया रहता है—वह उसके खिलाफ जबान नहीं हिला सकता ।

सूफियों का अल्लाह भी इस्लामी अल्लाह ही है, पर वैसा नहीं है जिससे डरा जाय । जब हम इस भगवान को कण-कण में देख लेते हैं और निकट से परिचय प्राप्त कर लेते हैं तो डर का स्थान कहाँ रहता है ? सूफियों का यह ब्रह्म जीव से श्रेष्ठ तो है, पर ऐसा नहीं है जिससे अपने हृदय के हर्ष-विषादों को नहीं कहा जा सके । सूफियों के अल्लाह की मुख्य विशेषता यह है कि उसमें रागात्मक आकर्षण है । सूफी उसके सौन्दर्य और लावण्य पर मरते हैं—उसके शील पर रीझते हैं । इस ब्रह्म की एक झलक के लिए वे हँसते-हँसते मर सकते हैं । सूफियों की चीख एकांकी नहीं है । अल्लाह भी उनको लुभाने के लिए कण-कण में छिप-छिपकर इशारा करता है—कभी कलियों का घूँघट उलटता है, कभी सावन के रिमझिम में बादलों को थपकाकर मुस्कुराता है । वह रसूल के रूप में अपना संदेश सुनाने के लिए कोई प्रतिनिधि नहीं भेजता, वह तो स्वयं नीचे कूदकर फूल, पत्ते, घास, वन, वृक्ष, सरिता, पर्वत में अपना नूर दिखलाता है । वह प्रेम की बंसी बजाकर साधकों को मस्त बना देता है । उसी मस्ती में डूबे रहने के लिए सूफी स्वर्ग की कामना नहीं करता, वह प्रियतम का संभोग चाहता है । जिस खुदा से आंख मिलाने की हिम्मत एक मुसलमान नहीं कर सकता उससे एक सूफी इश्क करता है । यही इश्क उसके लिए सब-कुछ है । उसके बिना उसका जीवन भार है । संसार में जो कुछ भी दिखलाई पड़ता है वह सब इश्क का ही रूप है—आग इश्क

की गर्मी है, हवा उसकी बेचैनी है, पानी उसकी मौज है, मौत इश्क की बेहोशी है, जिंदगी उसकी होशियारी है, रात उसकी नींद है, दिन उसका जागना। यदि यह इश्क न होता तो संसार कभी भी इतना सुन्दर और मंगलमय नहीं होता।

सूफियों ने अपने ब्रह्म को सूक्ष्म माना है—अतिसूक्ष्म। इस्लामी खुदा-भावना को स्वीकार करते हुए भी ये उससे काफी आगे बढ़ गए हैं। ज़ायसी, उसमान, मंझन आदि सभी सूफियों की रचनाओं में अल्लाह का अतिसूक्ष्म रूप ही व्यक्त किया गया है। जायसी के अनुसार 'करतार' की कोई सीमा नहीं है, वह अलक्ष और अरूप है।—

अलख अरूप अबरन सो कर्ता, वह सब सों, सब ओही सों वर्ता।
परगट गुपुत सो सरबवियापी, धरमो चीन्ह, न चीन्है पापी।
ना ओही पूत न पिता न माता, ना ओही कुटुँब न कोई संग नाता
हुत पहिले अरु अब है सोई, पुनि सो रहै रहै नहिं कोई।

ऐसे ब्रह्म के संबन्ध में निसार कहता है—

जाके रूप न रंग न रेखा, ताकिय रचना आव न लेखा।
वहै रूप वपु प्रेम कसाना, दीन्ह भार कहि अलख सुजाना॥
अलख, अमर, अविनासी घट-घट व्यापक होय।
सरवमयी सुखदायक दुख भंजन है सोय॥
वह पूरन चौदह खँड माँही, वह विन जिया जन्तु कोउ नाहीं।
ना वह मरे, न मिटे, न होई, अपरम मरम न जाने कोई।

आलम का ब्रह्म भी इसी तरह का है। वह घट-घट में रहनेवाला अन्तर्यामी है। उसका न आदि है, न अंत। वह निराकार है, निर्वि-

कल्प—सूक्ष्म। नूर मुहम्मद का 'सिरजनहार' मुसलमानी खुदा से काफी दूर रहनेवाला है—वह बहुत झीना है, निर्गुण है—

आप गुपुत औ परगट, आप आद औ अंत।
आप सुनै औ देखे, कीन्ह मनुष बुधवंत॥
अहइ अकेले सो सिरजनहारा, जानत परगट गुपुत हमारा।
कीन्ह गगन, रवि, ससि महि मेरा, कोउ नाहीं जोरी तेही केरा॥

यही सूक्ष्म ब्रह्म विश्व के अणु-अणु में व्याप्त होकर अपने साधकों को अपनी ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है। सर्वात्मवाद की इस भावना का सूफीमत में काफी महत्त्व है। निर्गुण ब्रह्म को कबीर ने जिस तरह लाल की 'लाली' के रूप में सर्वत्र देखा था वैसे ही सूफी भी जगत के प्रत्येक वस्तु में उसका ही नूर देखते हैं, उसका ही जमाल देखते हैं; और यही जमाल उन्हें आगे बढ़ने का उत्साह देता है, इश्क करने का साहस देता है। सूफी संतों ने आगे चलकर यह भी सोचा कि जो ब्रह्म एक दिन आश्रय था वही विभक्त होकर आलंबन बन जाता है—सृष्टि में बिखरकर परमात्मा ही अगणित रूपों में बँट जाता है। इस प्रकार जब हम यह कहते हैं कि आत्मा परमात्मा का अन्वेषण करती है तो वस्तुतः उसका बोध यह होता है कि परमात्मा ही परमात्मा की खोज कर रहा है। आलंबन भी वही है। आश्रय भी वही है। इस धरातल पर ऐसा मालूम होता है कि सिर्फ परमेश्वर ही अपने नूर को फैलाकर सांसारिक जीवों से छेड़खानियाँ नहीं कर रहा है, बल्कि हम भी उसके नूर की चकाचौंध से इतने प्रभावित होते हैं कि अपने को रोक नहीं पाते। तारे चमक-चमककर उसी की ओर लुढ़कते जाते हैं, चाँद

मुस्कुराता हुआ उसी की ओर बढ़ता जाता है, नदियाँ उसीकी ओर सरकती हैं, हवा उसी के लिए चक्कर काटती है। फिर साधक को पक्षियों के कलरव में, फूलों की हँसी में, पर्वत की रागिनी में, भौरों के गुंजन में, वृक्षों के मर्मर में, चारो तरफ उसी के स्तवन की तैयारी दिखलाई पड़ती है।

सूफी-काव्य में परमात्मा का यह जमाल ही साधक को पहलेपहल उसकी ओर बढ़ने के लिए व्याकुल बना देता है। आत्मा (रतनसेन) को पहले ही एकाएक परमात्मा (पद्मावती) का दर्शन नहीं होता—वह उसके रूप और गुण का वर्णन सुनता है, सौदर्य का जादू सर पर चढ़कर बोलता है और वह उसे पाने के लिए तड़प उठता है। यह प्रत्येक साधक के प्रारंभिक जीवन की कहानी है—चाहे वह 'नूर-मुहम्मद' का राजकुँअर हो, उसमान का सुजान हो, आलम का माधव हो या निसार का युसूफ हो। रूप की लपट इतनी तीखी रहती है कि उसकी गर्मी से झुलस जाना कोई बड़ी बात नहीं, और एक बार जब गर्मी में घुलने का रस मिल गया तो फिर उससे कोई बचाव नहीं, क्योंकि 'मर्ज जब जिन्दगी खुद हो तो फिर उसकी दवा क्या है?' नूरमुहम्मद की 'इन्द्रावती' के सौन्दर्य की एक झाँकी लीजिए—

एक कहा मुख लट तिल मुकुर फाँद है चार।
जग मन सूवा फँदै कह है एतो उपकार॥

आपुहि देखि मुकुर मो मूलैं, दूसर सुवा जानि मन फूलैं।
दूसर देखि देखि कै चारा, कसैं तुरत यह फाँद मझारा।
एक कहा मुख तिल लटकारी, संवल भँवर अहै फुलवारी।

एक कहा मुख ससिहिं लजावा, लट जोगी को मन अरुझावा।
तिल इन्द्रावती मुख पर सोहै, तिल नाहीं जासों जग मोहै।
इन्द्रावती दृग लिखित कै भा विरंच मतवार।
मसि लगाउ लेखनी गिरेउ, सोभा भै अधिकार।

इसी तरह का वर्णन प्रायः सभी सूफियों ने किया है। 'पद्मावत' का नखसिख-खंड किसी लौकिक नारी का चित्रण प्रस्तुत नहीं करता; कवि ने सूक्ष्म संकेतों द्वारा अपना अभीष्ट व्यक्त कर दिया है। इसी प्रसंग में सूफियों ने अपने आराध्य के निवासस्थल का भी बड़ा चकमक वर्णन किया है। सिंहल, कामरूप, रूपनगर तथा कुसुमपुर उनके लिए ज्योतिलोक ही है—यहीं ब्रह्म अपनी सारी कलाओं एवं शक्तियों के साथ रहता है। यही लोक साधकों का लक्ष्य है। इसी में प्रवेश करने से उन्हें ब्रह्म से साक्षात्कार होता है। साधना की सारी कठिनाइयाँ इसी लोक में पहुँचने के लिए सही जाती हैं। निवास करनेवाले की महत्ता को व्यंजित करने के लिए गढ़ या द्वीप की महत्ता का वर्णन भी आवश्यक है। जायसी ने सिंहलद्वीप, कुतुबन ने कंचनपुर, मंझन ने महारसनगर, नूरमुहम्मद ने आगमपुर और आलम ने कामावती नगरी का विशद वर्णन किया है। स्पष्ट है, ये नगर लौकिक नहीं हैं—सूफियाना प्रतीक-शैली में महारसनगर, आगमपुर आदि अलक्ष नगरी के ही द्योतक हैं। जायसी के सिंहल-वर्णन से यह बात स्पष्ट हो जाएगी—

पुनि आए सिंहल गढ़ पासा, का बरनौं जनु लाग अकासा।
तरहिं करिन्ह बासुकि कै पीठी, ऊपर इन्द्रलोक पर दीठी।

परा खोह चहुँ दिसि अरु बाँका, काँपै जाँघ जाइ नहीं झाँका ।
अगम असूझ देखि डर खाई, परै सो सपत पतारहिं जाई ।
नव पौरी वाको नौ खंडा, नवै जो चढ़ै जाइ बरम्हंडा ।
कंचन कोटि जरै नग सीसा, नखतहिं भरी बीजु जनु दीसा ।
लंका चाहि ऊँच गढ़ ताका, निरखि न जाइ, दीठि तन थाका ॥
हिय न समाइ दीठि नहिं जानहुँ ठाढ़ सुमेर ।
कँह लगि कहौं ऊँचाई कँह लगि बरनौ फेर ॥

सूफियों के इस ब्रह्म की सत्ता कुरान में बिल्कुल निरपेक्ष है। जीव से उसका सीधा संबन्ध कुछ भी नहीं है—जो कुछ करता है उसका एजेण्ट मुहम्मद करता है जो अंतिम रसूल है। यह मुहम्मद दोनों की सीमान्त-रेखा पर खड़ा होकर बंदा (दास) और अल्लाह (स्वामी) की बातें एक दूसरों को कहता-समझाता है। मुसलमान और खुदा का संबन्ध सेवक-स्वामी से तनिक भी ऊँचा नहीं है। कुरान इससे अधिक सोचने की अनुमति नहीं देता। सूफियों को चिन्तन की छूट मिल गई थी और उनके मन में सदा यह प्रश्न उठा करता था कि जीव की स्थिति क्या सचमुच इतनी गई-बीती है कि अल्लाह से वह साक्षात्कार नहीं कर सके, अपने बनानेवाले को वह देख भी न सके ? सर्वप्रथम यजीद ने यह घोषणा की कि जीव परमात्मा से भिन्न नहीं है। जीव को बनाकर परमात्मा स्वयं अपनी परिछाहीं की सृष्टि करता है। दोनों दो नहीं हैं—जीव ही ब्रह्म है, ब्रह्म ही जीव है। यही 'अनलहक़' की भावना है जिसे मंसूर ने अपने जीवन का मूलमंत्र बनाया था। यह 'तत्वमसि' और 'अहं ब्रह्मास्मि' का ही रूपान्तर है।

इस अद्वैत भावना का ज्ञान सूफियों को बेहोशी की हालत में होता है। उन्माद हट जाने के बाद इस तथ्य को जीवन में अनुभव करने के लिए जीव छटपटा उठता है, सायुज्य की आकांक्षा से तड़प उठता है।

कुरान के अनुसार लाख छटपटाने पर भी जीव अल्लाह की झाँकी जीते-जी नहीं पा सकता। कहा जाता है कि कयामत के दिन उसके विराट् दरबार में वह अपराधी के रूप खड़ा होता है और हुक्म सुनकर पुनः विश्व में पलट जाता है। सूफियों के इश्क ने भगवान को हमेशा पृथ्वी पर रमते देखा। उनके व्यापक विश्वात्मवाद ने सर्वत्र प्रभु का दर्शन कराया। जीव और ब्रह्म की एकता-भावना ने बंदे को कभी यह सोचने का मौका नहीं दिया कि वह खुदा से अलग है। भगवान का रूप इतना प्रखर है कि वह छिपाने से छिपनेवाला नहीं है। गुप्त रहनेवाला निर्गुण ब्रह्म अपने को विश्व के कण-कण में प्रकट कर देता है। वह स्वयं व्यक्त होकर अपनी महिमा का रस भोगता है। नूरमुहम्मद के शब्दों में इस तथ्य का स्पष्टीकरण देखिए—

रहत न आगर रूप छिपाना, आपुहिं परगट करै निदाना।
जो रस रूप सो बाँधहुँ द्वारा, जाइ झरोखें चितवे प्यारा।
सिरजनहार छिपा न रहा, आपुहिं फेर चिन्हावै चहा।
तब यह जग करतार सँवारा, चीन्ह पड़ा वह सिरजनहारा।
मानुष फूल सुरस सी नाऊँ, धरि-धरि भा परगट सब ठाऊँ।
आपहि भोगी रूप-धरि, जगमो मानत भोग।
आपहि जोगी भेस होइ, निसि दिन साधत जोग॥

इस प्रकार सूफियों का ब्रह्म 'चौदह भुवन पूरि सब रहा' है और जीव से अभेद स्थापित कर रहता है। जायसी कहते हैं कि ब्रह्म ने जगत् को दर्पण की तरह सँवारा है--इसी दर्पण में वह अपना रूप देखा करता है। दर्पण भी वही है और द्रष्टा भी वही है। वही वन है, वही फूल है, वही भौंरा है, वही फल है, वही माली है और—

आपुहि घट-घट महँ मुख चाहै, आपुहि अपना रूप सराहै
आपुहि कागद आप मसि, आपुहि लेखनहार।
आपुहि लिखनी आखर, आपुहि पँडित अपार॥

इस भावना को विकसित करके सूफी भी उसी धरातल पर पहुँच जाते हैं जहाँ कबीर ने 'घट ही खोजो भाई' का तत्वान्वेषण किया था। जायसी ने बतलाया कि 'दूध माँझ जस घीउ है' और 'समुद्र माँझ जस मोति' उसी तरह 'नैन मीजि जो देखहु, चमक उठै तस जोति।' सूफियों ने निर्भीक होकर यह घोषणा की कि कयामत का इन्तजार छोड़कर यदि चाहो तो निसिदिन उस अचिंत्य सत्ता की लाली में स्नान कर सकते हो। वह तो तुम्हारे भीतर ही है - तुम्हारे हृदय के सिंहासन पर ही विराजमान है। स्वच्छ हृदय में उसका प्रतिबिंब पड़ता रहता है, जब भी देखना चाहो तो बेखटके देख सकते हो। कबीर ने 'बागों ना जा रे तेरी काया में गुलजार' कहकर जिस अन्तर्यामी का निर्देश किया था वह निर्गुण सूफियों के कल्ब में निवास करता है। हृदय ही खुदा का मंदिर है, सत्य का दर्पण है। यह

हृदय हूबहू उपनिषदों का ही 'हृदय'[1] है जिसके प्रति ऋषियों की काफी श्रद्धा-भावना है। महादेवी ने 'यह जग क्या प्रिय तेरा दर्पण' तथा 'क्या पूजा क्या अर्चन रे' में जो भावना व्यक्त की है वह सूफियों से तनिक भी भिन्न नहीं है। कबीर ने 'काया माहे सब आकास, काया माहे धरती वास' कहकर जिस तथ्य का स्पष्टीकरण करना चाहा है जायसी भी वही करते हैं। उनके लिए भी संसार की समग्र वस्तुएँ 'घट' के भीतर ही सिमट आई हैं। उनके शरीर ने ही विश्व का रूप धारण कर लिया है। इस विराट शरीर का विराट् दर्शन कीजिए—

माथ सरग धर धरती भएऊ, मिलि तिन्ह जग दूसर होइ गएऊ।
माटी माँसु, रकत माँ नीरू नसैं नदी हिय समुँद गँभीरू।
रीढ़ सुमेरु कीन्ह तेहि केरा, हाड़ पहाड़ जुरे चहुँ फेरा।
सातौ दीप नवौं खंड, आठौ दिसा जो आहिं।
जो ब्रह्म सो पिंड है, हेरत अंत न जाहिं।
आगि वायु जल धूरि चरि मेरई भाँड़ा गढ़ा।
आपु रहा भरि पूरि मुहमद आपुहिं आपु महँ॥

अनलहक का चिंतन जब उन्माद की अवस्था को पार कर लेता है तो उसे ऐसा मालूम होता है कि उस नूर से अलग वह एक क्षण भी

---

1. हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठन्ति।
हृदयेन सत्यं जानाति हृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवति।
वृह० ३.६।२०,२३

नहीं रह सकता। उसके लिए वह चीख उठता है; तड़प उठता है। सूफियों के प्रेम का सारी इमारत इसी 'पीर' पर खड़ी है। इसी तरह के इश्क से वे श्रेय की प्राप्ति कर सकते हैं। सूफियों के प्रेम में रतिभाव की प्रधानता है। यह मादनभाव उन्हें परमात्मा को नारी रूप में देखने की अन्तर्दृष्टि देता है। रति का समुचित पालन पति-पत्नी संबन्ध से ही हो सकता है। सूफियों में इश्क का वेग अति उग्र है—भीषण और उन्मत्त है। यही कारण है कि उन्हें प्रेम में वियोग का कष्ट अधिक होता है। यह वियोग साधारण लौकिक नहीं है, परलौकिक है—इसीलिए यह मधुर है। सूफियों को विरह की टीस जितनी पसंद है उतनी संसार की कोई वस्तु नहीं। विप्रलंभ के चित्रण में ये जितने सफल होते हैं उतने संयोग के वर्णन में नहीं।

सूफियों की धारणा है कि जीवात्मा अपने आराध्य के वियोग में जन्म से ही व्याकुल रहती है। सांसारिकता उसे अपनी झाड़ी में छिपाकर परमात्मा से दूर रखने का प्रयत्न करती है। लेकिन खुदा उसे नहीं भूल सकता। वह अपना पता भेजता है, जीव सजग हो जाता है और पूर्वराग का स्मरण कर वह उसके अनुसंधान में निकल पड़ता है। खोजते-खोजते मंजिल के पास पहुँचकर जीव थोड़ा विश्राम लेता है। यहाँ उसे 'नूर' का दर्शन होता है; पर वह भर आँख देख भी नहीं पाता कि बेहोश हो जाता है। पद्मावती को देखते ही रतनसेन मूर्च्छित हो गया था। चेतना लौटने पर साधक का विरह और भी उत्तोलित हो जाता है। वह कण-कण में उसी को देखने लगता है—पर वह प्रियतम कभी हाथ नहीं आता। बेकली

तो मोहि सोच जीउ कर नाहीं, होइ सुधा तेहि अधरन माहीं।
वहुर प्रान देई मोहि सोई, नित जीवन पुन मरन न कोई।

सूफियों के यहाँ यह मरना भी विशेष मह व रखता है। यह मरना वही नहीं है जो हम निसिदिन देखते हैं। सूफी मृत्यु को महा-मिलन मानते हैं। उन्माद के बाद जब वेहोशी आती है तो प्रियतम का 'पीर' जड़ीभूत होकर समाधिस्थ हो जाता है—इसे 'हाल' की अवस्था कहते हैं। इस महानिद्रा में प्रियतम चुपके-चुपके मानस-पटल पर आता है और प्रेमी से मिलता है—सूफी इसे ही मरण कहते हैं। यही कारण है कि सूफी मरण का वर्णन वड़ी उत्कंठा के साथ करते हैं। यह मिलन प्रियतम का अप्रत्यक्ष निमंत्रण है। सूफी सज-धज कर इसी संकेत पर आगे वढ़ते हैं और अंत में सूक्ष्म में विलीन हो जाते हैं—यही उनका मोक्ष है।

इस मंजिल तक पहुँचने के लिए काफी परेशानी उठानी पड़ती है। जीव को इतने कष्ट सहने पड़ते हैं जिसका ठिकाना नहीं। उसके संधान में निकलनेवाला साधक प्राणों को हथेली पर लिये घूमता है। कवीर के 'सीस कटावै हरि मिले' की वात पर दाद देते हुए जायसी कहते हैं 'कटु है प्रिय कर खोज, जो पावा सो मर जीआ।' प्रिय-प्राप्ति की कठिनाइयाँ इसलिए अधिक वढ़ जाती हैं कि आराध्य की स्थिति 'पुहुप वास जस' सूक्ष्म है। सूफियों ने उसके मार्ग की गहनता का विशद वर्णन किया है। उसमान के शब्दों में प्रियतम का महल इतनी दूर और ऐसा दुर्गम है कि वहाँ तक पहुँचने में साधारण जीव कभी सफल नहीं हो सकता। सूक्ष्म ब्रह्म का सूक्ष्म पंथ देखिए—

कहेसि कुँअर यह पंथ दुहेला, अस जनि जानु हँसी और खेला।
अगम पहार विषम गढ़ घाटी पंखी न जाई चढ़े नहिं चाँटी।
खोह घराट जाई नहीं लाँघी, देखि पतार काँपि नर जाँघी।
जाइ सोई जो जिउ पर तेजा, सार पांसुली लोह करेजा।
तैं अवही घट आप न बूझा, बार देखि पिछवार न सूझा।

साधक को तड़पाने में प्रियतम को लुत्फ मिलता है। इसलिए वह मार्ग की कठिनाइयों को और भी वढ़ा देता है। इससे प्रेम की परीक्षा भी हो जाती है और मजा का मजा मिल जाता है।

इस्लामी दर्शन के अनुसार जीव की साधना में सबसे बड़ा बाधक शैतान है जो उसे सदैव गुमराह किया करता है। यह शैतान भारतीय दर्शन में 'माया' है और सूफी-दर्शन में माया ही नारद के रूप में आती है। जिस प्रकार 'माया' भी प्रभु की ही लीला है उसी तरह सूफियों का शैतान भी खुदा का ही अंश है। सूफी-मत में शैतान को अल्लाह का परमभक्त माना गया है। जब जायसी 'अल्लाउद्दीन सोई शैतानू' लिखते हैं तो उनका आशय भगवान (पद्मावती) पर आसक्त जीव का ही है, पर वह दर्पण का पृष्ठभाग है। शैतान का प्रेम शुद्ध प्रेम न होकर वासना से पंकिल रहता है; इसलिए वह निर्मल हृदय जीव (रतनसेन) को आराध्य (पद्मावती) से दूर करने की चेष्टा करता है। यह शैतान कुरान का शैतान नहीं है जो सिर्फ पाप ही करता है। सूफियों का शैतान अल्लाह की ही एक छाया होने के कारण दोषी नहीं कहा जा सकता। उसकी दुर्बुद्धि को देखकर इतना ही कहा जा सकता है कि उसमें पुण्य का अभाव है। यह अल्लाह का

वह व्यक्ति रूप है जो अपनी कटुता से जीव को चेतावनी देता रहता है, सावधान किए रहता है। इस तरह वह घृणा की वस्तु नहीं है। उसके द्वारा भी परमात्मा के एक उद्देश्य की सिद्धि होती है। वास्तव में जिसके द्वारा हम पथभ्रष्ट होते हैं वह नियति है।

संत-साहित्य का अध्ययन करते समय हमने उस सम्प्रदाय में गुरु की महत्ता पर विचार किया था। जिस प्रकार वहाँ गोविन्द से अधिक गुरु का महत्त्व है उसी तरह सूफी-साहित्य में भी साधक की सारी साधना गुरु के मार्गदर्शन पर टिकी हुई है। गुरु ही वह तत्त्व है जो जीव को ब्रह्म का जलवा दिखलाता है। अविद्या के अँधियाले में वही आकर बंदा को ज्ञान की आँखें देता है—खुदा के नूर से परिचित करवाता है। इस सौन्दर्य से व्याकुल होकर जब आत्मा छटपटाती रहती है तो गुरु ही आकर राह बतलाता है। प्रेम के सूक्ष्म पथ पर चलना इतना कठिन है कि कोई भी अकेला यात्रा नहीं कर सकता। गुरु ही साधक को पथभ्रष्ट होने से रोकता है। यही मिलन की घड़ियाँ नियुक्त करता है, थकने पर उत्साहित करता है, हारने पर समझाता है। जिस तरह साधना के मार्ग पर सिद्ध या नाथपंथी योगी गुरु के अभाव में एक कदम भी नहीं चल सकता उसी तरह सूफी साधक मुर्शिद की अनुपस्थिति में इश्क की मंजिल की ओर एक डेग भी नहीं बढ़ा सकता। जायसी का हिरामन तोता ही 'पद्मावत' में रतनसेन का गुरु है। यही उसे प्रत्येक कठिनाई में सहायता पहुँचाता है। पद्मावती और रतनसेन के बीच में यह सेतु बन जाता है। यदि वह मध्यस्थ नहीं रहता तो रतनसेन की साधना

कभी पूरी नहीं होती। प्रायः सभी सूफी संतों के कथानक में नायक को गुरु का सहारा लेना पड़ता है। अधिकांशतः यह गुरु सूफी-साहित्य में किसी-न-किसी पक्षी के रूप में प्रकट हुआ है। पक्षी की गति सर्वत्र रहती है और गुरु भी त्रिकालदर्शी होता है, वह सूक्ष्म सत्ता को भी पहिचाने रहता है। इसीलिए पंछी ही गुरु बनता है। उसमान की 'चित्रावली' में राजकुँअर परेवा को किस रूप में स्वीकार करता है, देखिए —

कुँअर कहा अब सुनहु परेवा, मैं तोर सीख मोर तैं देवा।
मैं तजि पंथ जात बौराना, तैं गहि बाँह पंथ पर आना।
बूड़त मोर नाउ मँझ तीरा, तू खेवक होइ लाइसि तीरा।
सोवत हौं जो अहा सो जागा, मन तजि चित्र चितेरेहिं लागा।
चित्र देखि न चितेरा जाना बिनु चितेर अब दृष्टि न आना।

सूफीमत में साधना की कई मंजिलें हैं। किसी भी मंजिल की सीमान्तरेखा नहीं खींची जा सकती; क्योंकि किस स्थिति में कौन-सा साधना चल रही है और साधक का मानस कहाँ तक विकसित हो गया है, इसका पता सहज ही लगाना मुश्किल है। फिर भी साधना के सहज ज्ञान के लिए उसे चार भागों में बाँटकर देखा जाता है। सर्वप्रथम 'शरीअत' मिलता है। यह भारतीय कर्मकाण्ड की अवस्था है। प्रारंभ में साधक सांसारिक तंतुओं को काटने का प्रयत्न करता है, पथ की बाधाओं को हटाने की चेष्टा करता है। साधना में सफल होने के लिए उसे हृदय को कड़ी-से-कड़ी आफत सहने के लिए तैयार करना पड़ता है, धैर्य धारण कर 'अहं' का नाश करना

होता है। ईश्वर पर भरोसा रखकर उसका एकाग्रचित्त से चिंतन करना भी आवश्यक है। और सबके ऊपर उसे अल्लाह से मुहब्बत करना पड़ता है—इश्क की लौ जलानी पड़ती है। ये सभी तैयारियाँ होती हैं—साधक बीहड़ यात्रा का सामान जुटाता है, संबल संजोता है, निर्विघ्न पार लग जाने की आकांक्षा रखता हुआ साहस बटोरकर यथोचित उपादानों को इकट्ठा करता है। इतनी तैयारी के बाद यात्रा शुरू होती है।

यह राह इतनी सुगम नहीं है कि जो भी चाहे अकेले चल पड़े। इसीलिए वह गुरु ढूँढ़ता है जो उसे पथ का पता देकर साधना के मार्ग पर चलने की अनुमति दे दे। यह मुरशिद जीव के मन में ईश्वर के प्रति इतनी तीव्रता से प्रेम-भावना उत्पन्न कर देता है कि उसके आवेग में वह कभी भी थककर पीछे लौटने का नाम न ले सके। 'तरीकत' की अवस्था में सूफी साधक को अपने चंचल मन पर रोक लगानी पड़ती है। मनोनिग्रह के बाद प्रज्ञा का आविर्भाव होता है और सालिक 'आरिफ' बन जाता है। अब परमात्मदर्शन की चाट लग जाती है, उसके बिना दिल नहीं लगता। यह बेकली उसे 'हक़ीकत' के क्षेत्र में पहुँचा देती है। संतों की प्रज्ञा सूफियों के यहाँ भी काफी महत्त्व रखती है। प्रज्ञोदय के पूर्व तक की अवस्थाएँ साधना के निम्नस्तर पर टिकी हुई हैं। वास्तविक सूफी-साधना बाद में आरंभ होती है। 'मारिफत' से ही साधना का पथ प्रशस्त हो जाता है और 'हकीकत' तक आते-आते जीव साधनयुक्त हो जाता है। यह अवस्था योगियों के सहस्रार की अवस्था है—यही मधुमती भूमिका है।

साधक और साध्य का वैषम्य सर्वथा तिरोहित हो जाता है। यह सूफी साधन की आखिरी मंजिल है—इसके आगे कोई राह नहीं।

इस प्रकार इन चारों अवस्थाओं से गुजरनेवाला जीव क्रमशः कर्मठ, साधक, ज्ञानी और मुक्त या 'हंस' बन जाता है। भारतीय दर्शन में इन विरामों को कर्म, उपासना, ज्ञान और भक्ति कह सकते हैं। भारतीय दर्शन में ये रास्ते अलग-अलग जाते हैं—ज्ञानी संत कभी भक्त नहीं भी बन सकता है और कर्मकांडी को ज्ञान की विशेष जरूरत नहीं भी पड़ सकती है। लेकिन सूफी साधना में ये सभी अवस्थाएँ एक ही साधक के जीवन में आती हैं। फिर भी यह कोई आवश्यक नहीं कि सभी साधक चारों अवस्थाओं को बिना पार किए ब्रह्म से साक्षात्कार न कर सकें—ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ शरीअत और तरीकत के बिना ही साधक को हक़ीकत की चोटी मिल गई है।

सूफी साधना पर विचार करने के बाद फारसी सूफी-साहित्य की एक-दो विशेषताओं का भी अध्ययन करना आवश्यक है। कहा जा चुका है कि सूफीमत के आविर्भाव के समय मुसलमानों से कटुता काफी बढ़ गई थी और शासकों की क्रूरता से अपनी रक्षा करने के लिए सूफियों को एक ऐसे मार्ग का अवलंबन करना आवश्यक था जिससे वे अपनी भावनाएँ भी आसानी से व्यक्त कर सकें और किसी को चालाकी का पता भी न लगे। मुसलमानों के अत्याचार से बचाने के लिए प्रतीक ही सूफियों के रक्षक बने। इनकी खुशामद किए बिना सूफी-साम्राज्य में पदार्पण करना खतरे से खाली नहीं। प्रतीकों

को एक वार जान लेने के वाद सारा तसव्वुफ आसान हो जाता है। प्रतीकों के प्रयोग से सूफियों के सामने ब्रह्म-चिंतन को व्यक्त करने की वह कठिनाई नहीं उपस्थित हुई जो कवीर आदि संतों को हुई थी। जिस तथ्य को हू-बहू व्यक्त करने में वाणी मूक हो जाती है उसे प्रकारान्तर से प्रकट करने में सूफियों को आसानी हुई। प्रतीकों का सहारा लेकर सूफियों ने अपने मन की वात भी कह दी और इसलाम को आड़े हाथों लिया भी—पर कुरानपंथी उसे ताड़ न सके। वाद में प्रतीक-शैली सूफीकाव्य की एक सुनिश्चित मुहर वन गई और सूफियों का गुह्य-अभिव्यक्ति पर दृढ़ विश्वास हो गया। वे हमेशा इस वात पर वल देते रहे कि तसव्वुफ की व्याख्या इस प्रकार से होनी चाहिए कि जन-मन का आमोद भी होता रहे और सम्प्रदाय की गुह्यता भी वनी रहे। धीरे-धीरे इस सम्प्रदाय में प्रतीकों का इतना व्यापक प्रयोग हुआ कि समग्र विश्व में प्रतीकों के भांडार की दृष्टि से सूफी-साहित्य समृद्धतम सिद्ध हुआ।

सूफी-साहित्य मुख्यतः प्रेम-काव्य है। प्रेम के लिए आलंवन और उद्दीपन आवश्यक है। सूफियों के यहाँ परमात्मा और आत्मा ही आलंवन हैं, सुरा दोनों के प्रणय-संवन्ध को उद्दीप्त करती है। मदिरा की यह विशेषता है कि वह कुछ काल के लिए सांसारिक कष्टों को भुलाकर अनुपम रमणीय वातावरण में पहुँचा देती है। विश्व के प्रपंच से हटकर हम स्वर्ग के राजमार्ग पर टहलने लगते हैं। सूफी इस उल्लास के लिए तड़पते रहते हैं और भगवान की झांकी पाने की खुमारी-अवस्था को व्यक्त करने के लिए सुरा का प्रतीक अंगीकार

करते हैं। सूफियों के यहाँ रति का आलंबन—अल्लाह—इस मदिरा का दाता है, वही साकी बनता है। वास्तव में वह अपने प्राणों का का अमृत ही आसव के रूप में पिलाता जाता है—जीव छककर पीता जाता है और उसका उल्लास तीव्रतर होता जाता है। अंत में वह बेहोश होकर स्वप्न में कुछ देखता है और जो कुछ देखता है वह इतना 'बेहद' है कि कहा नहीं जा सकता।

इस साकी के प्रतीक ने सूफियों के सामने अल्लाह को पुरुष के रूप में उपस्थित किया। यह साकी माशूक है जो स्त्रीरूप में न होकर पुरुष रूप में स्वीकार किया गया। सूफियों के आलंबन प्रायः किशोर माशूक ही होते हैं। इसी किशोर के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर सूफी 'इलहाम' की कामना करते हैं। यह प्रतीक 'मुगबच्चे' का है। इसी की तड़प में सूफियों ने आसमान को न जाने कितनी बार रुलाया है, सागर को न जाने कितनी बार हँसाया है। आगे चलकर यह किशोर-भावना अमरदपरस्ती बनकर पंकिल होती गई और लोलुपों को वासना-तृप्ति का एक सुन्दर माध्यम मिल गया। साकी की अदा और हुस्न पर कटनेवाले सालिक (साधक) अब लौकिक माशूक की अदाओं पर कुर्बान होने लगे और अप्राकृतिक मैथुन का प्रचलन प्रारंभ हुआ।

रति के संबन्ध में प्रतीकों का सहारा लेकर सिद्धों की जो दुर्दशा हुई और उस मार्ग में जैसा वामाचार फैला ठीक वैसे ही सूफीमत में भी पीछे चलकर किशोर लड़कों की पूजा पत्नी के रूप में होने लगी। अलौकिक सुरा अब साधारण मदिरा बनकर उद्दाम वासना की

गणिका बन गई। अल्लाह का उल्लास आशिक के मद में परिवर्तित हो गया।

लेकिन, इन सबके लिए सूफियों को दोष नहीं दिया जा सकता। इसलाम में सुरा को पाप की दृष्टि से देखा गया है और साकी का स्थान इतना नीचा है कि उसे हजार सत्कर्म करने पर भी जन्नत की झलक तक मयस्सर नहीं हो सकती। सूफियों ने सुरा, साकी और प्याले आदि की चर्चा कर प्रधानरूप से धर्मध्वजियों की इस भावना पर चोट पहुँचाने की चेष्टा की है और कर्मकांडी शेख साहब को मचलने का अवकाश दिया है। साकी के प्रेम की चर्चा इन साधकों ने इतनी जोरदार शैली में की कि ये प्रतीक सर्वमान्य हो गए और मुल्ले और शेख भी चूँ-चाँ करके शान्त पड़ गए।

प्रतीकों के संबन्ध में एक बात और। सूफियों ने जब माशूक का प्रतीक अख्तियार किया तो यह आवश्यक था कि माशूक के प्रत्येक अंग को वे रूपक के रूप में स्वीकार करते। फलतः सूफी-साहित्य में माशूक के 'नूर' का वर्णन तो होता ही है, साथ ही उसके नखशिख का वर्णन भी होता है। प्रत्येक सूफी-काव्य के 'नखशिख-खंड' इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। सूफियों के नखशिख-वर्णन में मुख की प्रधानता रहती है और अलकों के सौन्दर्य का काफी विस्तार से चित्रण रहता है। सूफियों के लिए आराध्य के केश मायास्वरूप हैं जिसकी कांति में मानव-हृदय उलझ

जाता है।१ इसी के संकेत से जीव नाचता रहता है। ब्रह्म के कटाक्ष कुसुमबाण हैं जो 'बेधि रहा सिगरी संसारा'—इससे जो घायल नहीं हुआ उसका जीवन व्यर्थ है। जायसी का कहना है कि आकाश, नक्षत्र, पृथ्वी और ब्रह्माण्ड सभी उस तिरछी चितवन से घायल हैं। इसी प्रकार सभी अंगों को ईश्वरीय हुस्न के रूप में स्वीकार कर सूफियों ने उसके प्रत्येक कण का प्रसार सारे विश्व में माना है।

सूफियों के पास काव्य लिखने की एक विशेष शैली थी जिसे मसनवी कहते हैं। इरानी सूफी-कवि गजलें भी लिखते थे, रूबाइयाँ भी लिखते थे और मसनवियाँ भी; लेकिन हिन्दी सूफी-कवियों ने सिर्फ मसनवियाँ ही लिखीं। इन्हें कहानियों के माध्यम से अपनी बातें कहने में आसानी दिखलाई पड़ी। इस प्रकार प्रतीकों को काम में लाने का भी सुन्दर अवसर मिला। मसनवी पद्धति में महाकाव्य लिखने का एक विशेष क्रम रहता है। कहानी के सारे परिच्छेद अंकों में न बँटकर विषयानुसार विभक्त रहते हैं। प्रत्येक परिच्छेद को खंड कहा गया है और हर खंड में जिस कथानक या पात्र का विशद वर्णन रहता है उसी के अनुरूप खंड का नामकरण हो जाता है।

१ भौंर कुटिल केस नग कारे, लहरन्हि भरे भुअंग बैसारे।
बेधें जनौं मलयगिरि वासा सीस चढ़े लोटहि चहुँ पासा।
घुँघुरवार अलकैं विषभरी, सँकरे प्रेम चहैं गिउ परी।
अस फँदवार केस वै परा सीस गिउ फाँद।
अस्टौ कुरी नाग सब अरुझ केस के बाँद।

प्रायः प्रत्येक सूफी-काव्य का आरंभिक खंड स्तुतिखंड है। इस खंड में एक आराध्य की ही स्तुति नहीं है। यह स्तुति भारतीय मंगलाचरण से सर्वथा भिन्न है। मसनवी-काव्य में सर्वप्रथम अल्लाह की वंदना की जाती है, फिर अंतिम रसूल मुहम्मद की स्तुति की जाती है। बेहद देश के सम्राट् की वंदना के बाद तत्कालीन सम्राट् (शाहेवक्त) की प्रशंसा भी आवश्यक हो जाती है। बाद में कवि स्वयं अपनी वंश-परंपरा का वर्णन करता है, गुरु का परिचय देता है, अपने जन्मस्थान का पता बतलाता है और सबके पीछे अपनी कविता के विषय की चर्चा करते हुए अपना दैन्य दिखलाकर स्तुति-खंड समाप्त करता है। दूसरे खंड में कहानी का मुख्य पात्र पेश किया जाता है। वह संसार के दुःख-सुख में बँधा हुआ जीव होता है जिसे परमात्म-दर्शन की विशेष चिंता नहीं रहती। अपने आराध्य को वह भूला बैठा रहता है। पक्षी के रूप में कोई उसे भगवत्-लोक का सौन्दर्य बतलाता है—विस्मृत ज्ञान लौट आता है और प्रियतम के जमाल से व्याकुल होकर साधक संधान में निकलना चाहता है। अब सांसारिक फंदे उसे रोक नहीं पाते—वह विरक्त हो जाता है, पूर्णरूपेण योगी बन जाता है। गुरु आकर उसे रास्ता दिखलाता है। वह आगे बढ़ता है। कठिनाइयों को पददलित करता हुआ वह क्रमशः आगे बढ़ता जाता है, मंजिल निकट सरकती आती है। अंत में गुरु के प्रयास से साधक को आराध्य का दर्शन होता है; लेकिन वह भर नजर देखने के पहले ही बेहोश हो जाता है। इस अवसर पर गुरु उसे ज्ञान देता है—सम्हल जाओ, 'अहं' का लोप कर दो। उसे

शक्ति मिल जाती है। वह सब कुछ करने के लिए तैयार हो जाता है—युद्ध करता है, विजयी होता है। यह विजय साधक की रही-सही कमी पूरी कर देता है—साधक और साध्य मिल जाते हैं। इस तादात्म्य-सुख से संसार स्वर्ग बन जाता है।

लगभग सभी सूफी कहानियों में कथानक का क्रम यही है। जायसी का ही प्रायः सभी ने अनुसरण किया है। मसनवी-शैली की कहानियाँ इसी ढाँचे में ढली हुई हैं। यह नहीं समझना चाहिए कि हिन्दी का सूफी-काव्य हूबहू ईरानी सूफी-ग्रंथों का अनुकरण है। विदेशी सूफी कविता का क्षेत्र बहुत ही संकुचित है। सुरति और मदिरा से वे कवि एक पग भी आगे नहीं बढ़ना जानते। इश्क की लौ और सुरा की मस्ती, बस; इसके अतिरिक्त उन्हें किसी दूसरी चीज से मतलब नहीं। कहते हैं, यदि इनकी कविता में से साकी और सुरा, बुलबुल और चमन को हटा दिया जाय तो जो कुछ बच जायगा वह रद्दी कागजों की टोकरी की शोभा बढ़ावेगा। इन कवियों का दायरा इतना तंग था कि ये पति-पत्नी-भाव को छोड़कर जीवन के दूसरे अंशों को छू ही नहीं सकते थे। मानव की अनेक भावनाएँ, राग-विराग, समस्याएँ, इनसे अछूती ही रह गईं। जीवन की गति में बल देकर उसके समग्र तन्तुओं को सभी दिशाओं में विकसित होने का अवकाश देना शायद इनकी दृष्टि में विशेष महत्त्व नहीं रखता था। इनके चमन में प्रेम के दाव-काट चल रहे हैं, चीख और तड़प से राह चलनेवाले परेशान हैं; कहीं साकी की पुकार मची है, कहीं शराब का प्याला खनक रहा है—बुलबुल की आवाज पर थिरकना और

नायिका की अदाओं पर बिस्मिल होते रहना, इसके सिवा इन्हें और कोई रोजगार नहीं है। हिन्दी सूफ़ी-कवियों ने जीवन के सभी अंगों का प्रत्यक्षीकरण किया। यह सत्य है कि प्रेम उनका भी लक्ष्य है, पर उसके समाधान के रूप में जीवन की रंगीनियां ही नहीं उपस्थित की गई हैं, उसके विषाद और वैषम्य भी साथ-साथ दिखाए गए हैं। इन सूफियों ने जीवन को भरपूर देखा है, भर-आंखों देखा है।

शक्ति मिल जाती है। वह सब कुछ करने के लिए
है—युद्ध करता है, विजयी होता है। यह विजय
सही कमी पूरी कर देता है—साधक और साध्य मि
तादात्म्य-सुख से संसार स्वर्ग बन जाता है।

लगभग सभी सूफी कहानियों में कथानक
जायसी का ही प्रायः सभी ने अनुसरण किय
की कहानियाँ इसी ढाँचे मे ढली हुई हैं। यह
कि हिन्दी का सूफी-काव्य हूबहू ईरानी सूफी-
विदेशी सूफी कविता का क्षेत्र बहुत ही स
मदिरा से वे कवि एक पग भी आगे नही
ली और सुरा की मस्ती, बस; इसके अति
से मतलब नहीं। कहते हैं, यदि इनकी
बुलबुल और चमन को हटा दिया जा
रद्दी कागजों की टोकरी की शोभा ब
इतना तंग था कि ये पति-पत्नी-भा
अंशों को छू ही नही सकते थे।
विराग, समस्याएँ, इनमे अछूती
बल देकर उसके समग्र तन्तुओं
अवकाश देना शायद इनकी दृ
इनके चमन में प्रेम के दाव-
राह चलनेवाले परेशान हैं;
शराब का प्याला छलक रहा

अनुयायियों का फारसवालों पर निर्मम अत्याचार था। इस कांड में भीतर-भीतर सम्मिलित रहनेवाले तो चुप बैठे-बैठे तमाशा देखते रहे, लेकिन अनुभूति-सम्पन्न लोगों ने विरोध प्रारंभ कर दिया। विरोध की यह धारा इस्लाम के रोके नहीं रुकी। कोमल हृदय रखनेवाले इसकी ओर जोर से लपक पड़े। यह रहस्यवाद की धारा वहीं कुंठित हो जाती है जहां अतिशय बौद्धिकता है। यहूदियों में आप रहस्यवाद का दर्शन नहीं कर सकते; क्योंकि उस जाति को वंशगत 'दिल' नाम की चीज शायद नहीं मिली है। ग्रीकों के लिए भी यही कहानी दुहराई जा सकती है। इन दोनों जातियों को छोड़कर प्रायः सभी जगहों में रहस्यवादियों के दर्शन हो जाते हैं। भारत और पूर्वीय देश तो निसर्ग की ओर से ही इन्हीं के निमित बनाए गए हैं।

मनुष्य जब साधारण धार्मिक कृत्यों से संतुष्ट नहीं होता तो वह पारमार्थिक सत्य की अनुभूति एवं खोज करना चाहता है। इसके साथ ही वह परमात्मा के साथ एक निविड़ सम्पर्क की सुखानुभूति भी चाहता है। जिज्ञासा की प्रथम भावना रहस्यवाद का दार्शनिक पहलू है, यह जरा नीरस है। सुखानुभूति की दूसरी भावना रहस्यवाद का धार्मिक पहलू है, यह दार्शनिक नहीं है, अनुभवगम्य है—इसीलिए सरस है, कोमल, मधुर।

फारस का वातावरण इस माधुर्य से ओतप्रोत है—वहाँ प्रचुर कवित्व की गुंजाइश है और रसाधिक्य के कारण अनुभूतियों के सिहरने का अवकाश है। स्पष्ट कहा जाय तो भारत के वेदान्तियों और अद्वैतवादियों में वैसी रस की सरिता नहीं मिलती—न बुलबुल है,

जायसी का रहस्यवाद

साधारण भक्ति और रहस्यवाद में सामान्य अंतर यही है कि भक्त तो स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है, परन्तु रहस्यवादी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम की ओर जाने की चेष्टा करता है। रहस्यवादी का धर्म हृदय का धर्म है, वह वेद या पुराण, बाइबिल या कुरान से अलग है। यह सदा ध्यान में रखना चाहिए कि रहस्यवाद किसी विशेष धार्मिक पद्धति की संज्ञा नहीं है। वह तो चिंतन और अनुभूति की अनेकानेक प्रणालियों से उद्‌भूत होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि इसकी उत्पत्ति इस्लाम में भी होती है, ईसाई धर्म में भी और भारत के हिन्दूधर्म में भी इसका स्थान हो सकता है। 'हृदय का धर्म' माननेवाले इन रहस्यवादियों को जहाँ भी दिल के विस्तार की भूमि मिल जाती है वहीं ये अपनी करुण रागिनी छेड़ बैठते हैं।

फ़ारस में सूफ़ी-मत के प्रचार का मुख्य कारण इस्लाम के कट्टर

अनुयायियों का फारसवालों पर निर्मम अत्याचार था। इस कांड में भीतर-भीतर सम्मिलित रहनेवाले तो चुप बैठे-बैठे तमाशा देखते रहे, लेकिन अनुभूति-सम्पन्न लोगों ने विरोध प्रारंभ कर दिया। विरोध की यह धारा इस्लाम के रोके नहीं रुकी। कोमल हृदय रखनेवाले इसकी ओर जोर से लपक पड़े। यह रहस्यवाद की धारा वहीं कुंठित हो जाती है जहाँ अतिशय बौद्धिकता है। यहूदियों में आप रहस्यवाद का दर्शन नहीं कर सकते; क्योंकि उस जाति को वंशगत 'दिल' नाम की चीज शायद नहीं मिली है। ग्रीकों के लिए भी यही कहानी दुहराई जा सकती है। इन दोनों जातियों को छोड़कर प्रायः सभी जगहों में रहस्यवादियों के दर्शन हो जाते हैं। भारत और पूर्वीय देश तो निसर्ग की ओर से ही इन्हीं के निमित्त बनाए गए हैं।

मनुष्य जब साधारण धार्मिक कृत्यों से संतुष्ट नहीं होता तो वह पारमार्थिक सत्य की अनुभूति एवं खोज करना चाहता है। इसके साथ ही वह परमात्मा के साथ एक निविड़ सम्पर्क की सुखानुभूति भी चाहता है। जिज्ञासा की प्रथम भावना रहस्यवाद का दार्शनिक पहलू है, यह जरा नीरस है। सुखानुभूति की दूसरी भावना रहस्यवाद का धार्मिक पहलू है, यह दार्शनिक नहीं है, अनुभवगम्य है—इसीलिए सरस है, कोमल, मधुर।

फारस का वातावरण इस माधुर्य से ओतप्रोत है—वहाँ प्रचुर कवित्व की गुंजाइश है और रसाधिक्य के कारण अनुभूतियों के सिहरने का अवकाश है। स्पष्ट कहा जाय तो भारत के वेदान्तियों और अद्वैतवादियों में वैसी रस का सरिता नहीं मिलती—न बुलबुल है,

न चमन है, बालू की ठंढी रेत भी नहीं है, खजूर की शीतल छाँह भी नहीं है। लेकिन जब फारस और भारत साथ-साथ बैठकर सोचते हैं तो वुलवुल भी चली आती है, छाँह भी दौड़ पड़ती है। यही कारण है कि कबीर का अद्वैत वही नहीं है जो इस्लाम का एकेश्वरवाद है, और जायसी का अल्लाह वही नहीं है जो कुरान का खुदा है। कुरान का खुदा राजा है, वह निरंकुश है—बंदा को प्रजा की तरह उसकी आज्ञाओं का पालन करना है, इससे अधिक उसे कुछ भी सोचने कीआवश्यकता नहीं। इस्लाम में आत्मा खुदा नहीं बन सकती—बहुत कोशिश करेगी तो अनुग्रह प्राप्त कर लेगी, बस। कबीर का अद्वैतवाद किसी राजा की सत्ता स्वीकार नहीं करता। उनके राम अलख-निरंजन और निर्गुण-निर्विकार होते हुए उसके 'साहिब' हैं—स्वामी हैं, प्रियतम हैं।

कबीर का ज्ञानप्रधान अद्वैतवाद तसव्वुफ के प्रेमप्रधान रहस्यवाद से कम प्रभावित नहीं है। इसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि जायसी के प्रेमप्रधान रहस्यवाद में ज्ञानप्रधान भारतीय अद्वैतवाद का भी अभाव नहीं है। इस प्रकार रहस्यवाद द्विविध होता है—साधनात्मक और भावात्मक। कबीर मुख्यतः पहली कोटि के रहस्यवादी हैं, जायसी मुख्यतः दूसरी कोटि के। किन्तु इन दोनों प्रतिनिधि संतों के समग्र दर्शन पर विचार किया जाय तो हम पायेंगे कि दोनों के ही दर्शन में रहस्यवाद के दोनों महत्त्वपूर्ण तत्त्व वर्तमान हैं। शुक्लजी ने जायसी के दर्शन को 'अद्वैतवादी—रहस्यवादी' नाम से अभिहित करके उसकी उपर्युक्त विशेषता की ही गवाही बनाई है।

जायसी में वेदान्त-सम्मत अद्वैतवाद के अतिरिक्त हठयोग, तंत्र तथा रसायन के रूप में प्रचलित साधनात्मक भारतीय रहस्यवाद की प्रायः सभी मुख्य विशेषताएँ पायी जाती हैं, यद्यपि यह भी निर्विवाद ही है कि उनके सूफी-मतानुमोदित रहस्यवाद में भावुकभाव की ही प्रधानता है। यहाँ हम पहले जायसी के भावनात्मक रहस्यवाद का विवेचन कर लेने के बाद ही उनके साधनात्मक रहस्यवाद की विशेषताओं पर विचार करना समीचीन समझते हैं।

एक मत की साधना का चरमलक्ष्य है उस मुक्ति की प्राप्ति जिसे आज की दुनिया में 'पलायन' कहा जाता है। जायसी का कहना है कि उस लोक की प्राप्ति के लिए जो पथिक कष्ट सहता हुआ आगे बढ़ता है उसे बाद में ब्रह्मानंद की प्राप्ति हो जाती है—दुःख का शमन हो जाता है, अनिर्वचनीय सुख की उपलब्धि होने लगती है—'पथिक जो पहुँचै सहि कै घामू। दुख बिसरै सुख होइ बिसरामू।' उस लोक में 'वृक्ष छायामूल'—पहुँचकर मनुष्य इस अभिशप्त संसार से छुटकारा पा जाता है। लेकिन छाया खोजनेवाले मानव पथिक को जाना तो इसी संसार के पथ से है, उसे पाथेय तो इसी सृष्टि से जुटाना पड़ेगा।

जिनु यहि हाट न लीन्ह बेसाहा,
ताकँह आन हाट कित लाहा।

मनुष्य को इस हाट में—मानव-योनि में—पाथेय का सौदा कर लेना चाहिए; नहीं तो आन हाट में—दूसरी योनियों में-कुछ नहीं मिल

सकेगा। इस पाथेय, इस अन्तर्हित तत्त्व, को कर्मठ साधक ही पा सकता है। साधक की साधना के लिए शरीर और मन के संयम की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए हठयोग में यम, नियम आदि का विधान है जिसकी चर्चा बहुत पहले की जा चुकी है। हठयोग में चक्रों के भेदन का सिलसिला काफी महत्त्व रखता है। इसी प्रसंग को ध्यान में रखकर जायसी ने अपने साधक की यात्रा का वर्णन किया है। जायसी के मन में यह बात शायद पूर्णरूपेण बैठ गई थी कि साधना के मार्ग में हठयोगी बड़ी ही विकट और भीषण परिस्थतियों से गुजरकर सहस्रार में अमृत का पान करते हैं, अनहदनाद सुनते हैं और प्रभु का साक्षात्कार करते हैं। अपने सूफी साधक की साधना की कठिनाइयों को स्पष्ट करने के लिए जायसी के सामने हठयोग की साधना ही मूर्त्तरूप में आई। इसीलिए उनका रतनसेन जैसे ही साधक का जामा पहनता है वह योगी बन जाता है और उसकी वेश-भूषा ठीक उसी तरह ही होती है जैसे किसी हठयोग-साधन करनेवाले नाथपंथी योगी की। उसका मार्ग भी उसी तरह कंटकाकीर्ण है जैसे किसी योगी का रहता है। आश्चर्य तो यह है कि लक्ष्य के पास पहुँचने पर उसे भी प्रकारान्तर से चक्रों का भेदन करना पड़ता है। योगियों का आराध्य चक्रों के ऊपर अवस्थित है और बिना चक्रों को पार किये साधक को सूक्ष्म सहवास प्राप्त नहीं हो सकता। ठीक इसी तरह रतनसेन का आराध्य भी कितने खंडों के महल में स्थित है, उसके अगणित दरवाजे हैं, अनेक पहरेदार हैं और उन सबों का पार करने के बाद ही वह पद्मावती से मिल सकता है। हठयोग के आधार पर ही जायसी यह रूपक बाँधते है—

नव पौरी तेहि गढ़ मझियारा,
औ तहँ फिरहिं पाँच कोटवारा।
दसवँ दुआर गुपुत एक ताका,
अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँका।
भेदै जाइ कोइ वह घाटी,
जो लहि भेद चढ़ै होइ चाँटी।
गढ़ तर कुंड सुरंग तेहि माहाँ,
तहँ वह पंथ कहौं तोहि पाहाँ।
दसवँ दुआर ताल कै लेखा,
उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा।

हठयोग में मूलाधार से लेकर सहस्रार तक छः या दस चक्रों की जो कल्पना है उसी की पृष्ठभूमि में जायसी के 'दसम दुआर' को देखने पर तथा उसके 'अगम चढ़ाव' और 'घाटी-भेदन' की क्रिया को समझकर कम आश्चर्य नहीं होता। यहाँ 'उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा' कहकर जायसी ने कुंडलिनी शक्ति की साधना का स्मरण किया है। जायसी का 'गढ़' वही है जो कबीर का 'गगन' है, 'बेहद' है।

जायसी ने हठयोग के प्रमुख अंग प्राणायाम की भी चर्चा की है— 'तू मन नाथु मारि कै साँसा, जो पै करै अबहिं करु नासा', और कहीं-कहीं स्पष्ट रूप से वज्रासन का निर्देश करते हुए सुषुम्ना-पिंगलादि नाड़ियों का भी उन्होंने नाम लिया है—'तब बैठहु वज्रासन मारी गहि सुखमना पिंगला नारी।' जायसी के यहाँ अनहद भी है— 'अनहद ते भा आदम दूजा' और योगियों का शून्य भी यहाँ उसी रूप

नि० का० द०—२५।

सकेगा। इस पाथेय, इस अन्तर्हित तत्त्व, को कर्मठ साधक ही पा सकता है। साधक की साधना के लिए शरीर और मन के संयम की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए हठयोग में यम, नियम आदि का विधान है जिसकी चर्चा बहुत पहले की जा चुकी है। हठयोग में चक्रों के भेदन का सिलसिला काफी महत्त्व रखता है। इसी प्रसंग को ध्यान में रखकर जायसी ने अपने साधक की यात्रा का वर्णन किया है। जायसी के मन में यह बात शायद पूर्णरूपेण बैठ गई थी कि साधना के मार्ग में हठयोगी बड़ी ही विकट और भीषण परिस्थितियों से गुजरकर सहस्रार में अमृत का पान करते हैं, अनहदनाद सुनते हैं और प्रभु का साक्षात्कार करते हैं। अपने सूफी साधक की साधना की कठिनाइयों को स्पष्ट करने के लिए जायसी के सामने हठयोग की साधना ही मूर्तरूप में आई। इसीलिए उनका रतनसेन जैसे ही साधक का जामा पहनता है वह योगी बन जाता है और उसकी वेश-भूषा ठीक उसी तरह ही होती है जैसे किसी हठयोग-साधन करनेवाले नाथपंथी योगी की। उसका मार्ग भी उसी तरह कंटकाकीर्ण है जैसे किसी योगी का रहता है। आश्चर्य तो यह है कि लक्ष्य के पास पहुँचने पर उसे भी प्रकारान्तर में चक्रों का भेदन करना पड़ता है। योगियों का आराध्य चक्रों के ऊपर अवस्थित है और बिना चक्रों को पार किये साधक को सूक्ष्म सहवास प्राप्त नहीं हो सकता। ठीक इसी तरह रतनसेन का आराध्य भी कितने गढ़ों के महल में स्थित है, उसके अगणित दरवाजे हैं, अनेक पहरेदार हैं और उन गढ़ों को पार करने के बाद ही वह पद्मावती से मिल सकता है। हठयोग के आधार पर ही जायसी यह रूपक बाँधते हैं—

हठयोग में मूलाधार से लेकर सहस्रार तक छः या दस चक्रों की जो कल्पना है उसकी पृष्ठभूमि में जायसी के 'दसम दुआर' को देखने पर तथा उनके 'अगम चढ़ाव' और 'घाटी-भेदन' की क्रिया को समझकर कम आश्चर्य नहीं होगा। यहाँ 'उलटि दिस्टि जो लाग सो देखा' कहकर जायसी ने कुंडलिनी शक्ति की साधना का स्मरण किया है। जायसी का 'गढ़' वही है जो कबीर का 'गगन' है, 'बेहद' है।

जायसी ने हठयोग के प्रमुख अंग प्राणायाम की भी चर्चा की है—'तू मन नाथु मारि कै सांसा, जो पै करे अबहि कर नासा', और कहीं-कहीं स्पष्ट रूप में वज्रासन का निर्देश करते हुए सुषुम्ना-पिंगलादि नाड़ियों का भी उन्होंने नाम लिया है—'तब बैठहु वज्रासन मारी गहि सुखमना पिंगला नारी।' जायसी के यहाँ अनहद भी है—'अनहद तें भा आदम दूजा' और योगियों का शून्य भी यहाँ उसी रूप

नि० फा० द०—२५।

में बैठा है। 'अखरावट' में जायसी 'सुन्न' का महत्त्व बतलाते हैं —

सुन्नहि ते है सुन्न उपाती, सुन्नहिं तें उपजहिं बहु भाँती।
सुन्नहि माँझ इन्द्र ब्रह्मंडा, सुन्नहिं तै टीके नौ खंडा।
सुन्नहिं ते उपजे सब कोई, पुनि बिलाई सब सुन्नहि होई।
सुन्नम सुन्नम सब उतराई, सुन्नहि मँह सब रहे समाई।[1]

योगमार्ग की साधना का सूफी-संतों पर कितना प्रभाव था यह उसमान की 'चित्रावली' के परेवा-खंड से स्पष्ट हो जाता है। जायसी के युग में गोरखनाथ के हठयोग की प्रसिद्धि इतनी अधिक थी कि मंझन ने बहुत पहले ही अपनी चित्रावली में खुलमखुल्ला हठयोग की चर्चा की है और इतना ही नहीं चार देशों (नवचक्र) की चर्चा करते हुए उसमान ने दूसरे देश का नाम गोरखनाथ के नाम पर गोरखपुर रख दिया है। प्रसंगवश इस गोरखपुर की झाँकी ले लेने में विशेष हर्ज नहीं होगा। उसमान के युग में नाथपंथियों को सशरीर योग-साधन करते देखकर आश्चर्य कैसे नहीं हो !

आगे गोरखपुर भल देसू निबहै सोइ जो गोरख भेसू।
जहँ तहँ मढ़ी गुफा बहु अहहीं जोगी जगी सनासी रहहीं।
चारिहु ओर जाप नित होई चरचा आन करै नहिं कोई।
कोउ दुहुँ दिसि डोलैं विकरारा कोऊ बैठि रह आसन मारा।
काहू पंच अगिनि तप सारा कोऊ लटकइ रूखन डारा।

१ सरहपा की इस उक्ति से तुलना कीजिए—

आदि न अंत न मज्झ णउ, णउ भव णउ निव्वाण।
एहु सो परम महासुह णउ पर णउ अप्पाण॥

इस देश में प्रवेश करने का प्रमाण-पत्र 'गोरख-भेस' है। यहाँ के सभी लोग इसी वेश में रहते हैं और आगंतुकों को भी इसी पोशाक में जाने की अनुमति है—'चले सोइ जो पहिरै कंथा।' और,

तेल नांहि सिर जटा बढ़ावै, रजक मासि जे बसन रँगावै।
भसम देह पग पाँवरि होई एहि मन विकट चलै पै सोई।
मेखलि सिंगी-चक्र अधारी, जो गोटा रुदराछ बँधारी।
भल मँद बसै इहाँ इक भेसा, होइ विचारि न राँक नरेसा।

इतना सब करने के बाद साधक 'नेह-नगर' में प्रवेश करता है। उसमान के मन की बात प्रायः सभी सूफी संतों के दिल में जमी हुई थी और सभी ने किसी-न-किसी रूप में योग की साधना को अपने रहस्यवाद में स्थान दिया। जायसी ने भी हठयोग की क्रियायों का महत्त्व स्वीकार किया और 'पद्मावत' में रहस्यवाद के साधनात्मक पक्ष पर जोर दिया।

लेकिन वस्तुतः यह रहस्यवाद का वाह्य उपकरण मात्र है। साधना यदि इसके आगे नहीं बढ़े तो वह रहस्यवाद के उच्च स्तर तक पहुँच ही नहीं सकती। भारत के साधनात्मक रहस्यवाद में इस उच्च स्तर तक पहुँचने का मूल साधन ज्ञान[१] है, और सच बात तो यह है कि उसी के

---

१ *यहाँ मोक्ष-प्राप्ति के लिए ज्ञान तथा योग दोनों की आवश्यकता समझी गई है—*

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम्।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि॥ योगतत्त्वोपनिषद्

फलस्वरूप यह रहस्यवाद बहुत सूक्ष्म एवं मधुर नहीं हो पाता। किन्तु सूफी रहस्यवाद का मूल तत्त्व—प्रेम—हर बात में ज्ञान का विरोधी हो, ऐसी कोई बात नहीं। वास्तविकता यह है कि प्रेम का आधार ज्ञान ही है। प्रेम विशिष्टता-संवलित होता है और यह विशिष्टता ज्ञान-लभ्य ही है। तात्पर्य यह कि ज्ञान प्रेम तक पहुँचने की सोपान-परंपरा है। जायसी ज्ञान की महत्ता को स्वीकार करते हुए कहते हैं—

जिन घर खेह उड़ाने ढूँढ़त फिर सो खेह।
अब तौं दिष्टि तब आवै अंजन नयन उरेह॥

जिनके घर धूल में उड़ गए, जिन्हें माया ने अभिभूत कर लिया वे भी धूल से ही लिपटे रहते हैं, माया में ही लिप्त रहते हैं—यदि वे पुनः अपना घर देखना चाहते हों तो उन्हें अपनी आँखों में ज्ञान का अंजन लगाना चाहिए।

जायसी के साधनात्मक रहस्यवाद में जहाँ हठयोग तथा वेदान्त के प्रभाव परिलक्षित होते हैं वहीं मुसलमान होने के नाते इस्लाम के प्रति भी, कम-से-कम बाह्याचार की दृष्टि से, पूर्ण श्रद्धा का भाव दिखलाई पड़ता है। खुदा और पैगम्बर, कुरान और नमाज और यहीं तक नहीं, मूर्तिपूजा का खंडन और संगीत का विरोध भी रहस्यवादी जायसी में मिल जाता है। शुक्लजी और उनके बाद के सभी दूसरे विद्वानों ने भी इन स्थलों को कोई विशेष महत्व न देकर अनुपात की दृष्टि से कहीं अधिक मूल तत्त्व रहस्यवाद के माधुर्य को ही जायसी की वास्तविक विशेषता माना है। कुछ विद्वानों ने इन बातों में जायसी की धार्मिक

संकीर्णता का आभास पाया है; पर उनका दृष्टिकोण मान्य नहीं कहा जा सकता; क्योंकि संगीत-विरोध तो संदिग्ध-रूप से ही पाया जाता है तथा मूर्तिपूजा का खंडन भी कबीर की तुलना में बहुत ही संयत है, और एक निर्गुणमार्गी के नाते वह अनपेक्षित भी नहीं कहा जा सकता।

इस तरह इस्लाम के संस्कार को हठयोग तथा वेदान्त की व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक विशेषताओं से बहुत दूर तक प्रभावित होने देते हुए जायसी पूरी तैयारी के साथ एक भावात्मक रहस्यवादी के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। यही उनका वास्तविक रूप है भी।

भावात्मक रहस्यवाद की अभिव्यंजना में प्रेम, सौन्दर्य, प्रकृति और शैशव—इन चारों में से किसी एक की प्रधानता होती है। उदाहरणार्थ पाश्चात्य साहित्य में शेली का रहस्यवाद प्रेम-प्रधान, वर्ड्स्वर्थ का प्रकृति-प्रधान, कीट्स का सौन्दर्य-प्रधान तथा ब्लेक का शैशव-प्रधान माना जाता है। जायसी का रहस्यवाद हूबहू तो नहीं, पर कुछ-कुछ शेली की तरह का है। यद्यपि वह रहस्यवाद प्रेम-प्रधान है फिर भी जायसी ने सौन्दर्य, प्रकृति तथा शिशु-भाव को भी यदा-कदा रहस्यवादी अभिव्यंजना का आधार बनाया है।

जायसी की दृष्टि में प्रेम का बहुत ऊँचा स्थान है। सारी पृथ्वी प्रेम से सराबोर है—यदि उसमें से एक प्याला भी नहीं पिया तो संसार में आना व्यर्थ हुआ—'जो नहि सीस प्रेम पथ लावा सो पिरिथमी महँ काहेक आवा।' सूफियों के यहाँ इश्क की इतनी अधिक मर्यादा

है कि प्रेम को छोड़कर संसार में और कुछ उन्हें सुहाता ही नहीं। विश्व के अणु-अणु में ईश्वरीय प्रेम की अरुणिमा बिखरी हुई है, लाल की 'लाली' उमड़ रही है। यह प्रेम कोई साधारण प्रेम नहीं है—संसार में सबसे बड़ा, सबसे ऊँचा और सबसे महान है।

ध्रुव ते ऊँच प्रेम ध्रुव ऊँचा,
प्रेम अदिष्ट गगन ते ऊँचा।

इस प्रेम का आविर्भाव एक बार हृदय में हो गया तो 'का तेहि नींद भूख बिसरामा' और जिसने एक बार उस अनंत सागर का दर्शन कर लिया उसके लिए पृथ्वी के महासागर बूंद की तरह दिखलाई पड़ेंगे—'ओ जेइ समुद प्रेम कर देखा तेइ एहि समुद बूँद करि लेखा।' लेकिन यह प्रेम जितना अधिक स्पृहणीय है उतना ही अधिक दुस्साध्य भी है। साधक की कठिनाइयों का वर्णन करके सूफियों ने मार्ग की रुकावटों का ऐसा चित्र खींचा है कि बीसवीं सदी का आरामपसंद मानव शायद ही किसी जन्म में साधक बनकर इश्क फरमाने का सपना भी देखना पसंद करे। जायसी ने पहले ही चेतावनी दे रखी है—'उलटा पंथ प्रेम के बारा, चढ़ै सरग जो परै पतारा।' इसीलिए आदर्श पुरुषों के रूप में जायसी ने बार-बार गोपीचंद, भर्तृहरि तथा गोपियों का नामोल्लेख किया है। इतना ही नहीं, अर्द्धचेतन जगत में भी उन्हें मयूर, चातक, चकोर-जैसे प्रेम-प्राण पक्षियों का वर्णन अति प्रिय है।

यह प्रेमपंथ यदि ऊँचा और अगम है तो वह साथ-ही-साथ आकर्षक भी है। जब रतनसेन प्रेम से उद्वेलित होता है तब,

चला भुगुति माँगे कहँ साधि कथा तप जोग।
सिद्ध होई पदमावति जेहिकर हिए वियोग॥

यह प्रेम जहाँ साधना की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है वहाँ लौकिक दृष्टि से कितना निर्भय और अमर्यादित हो जाता है इसका भी वर्णन जायसी में मिलता ही है। दिन और घड़ी की बात तो कौन विचारे, (प्रेमपंथ दिन घड़ी न देखा) यहाँ तो नागमती का यह कहना भी कोई विशेष अर्थ नहीं रखता—'जहँवा राम तहाँ संग सीता।' उसका यह कहना भी व्यर्थ है—

जौ लहि जीउ संग छाड़ न काया।
कीन्हौं सेव पखरिहौं पाया॥

कभी-कभी यह प्रेम, भावावेश के क्षणों में, लौकिक स्तर पर उतर आता है; लेकिन भावात्मक रहस्यवाद की यह एक विशेषता है और शायद अनिवार्य विशेषता है नहीं तो कबीर भी पटरी से नहीं खिसकते और आधुनिक युग में रवीन्द्र, प्रसाद और महादेवी की साधना पर भी आलोचकों की छींटाकशी नहीं होती ! प्रेम ऊपर उठता है तो वह परमेश्वराभिमुख होता है, किन्तु उसका आधार शृंगार ही है—और चाहे वह ईसाई रहस्यवाद हो या फारसी अथवा अँगरेजी उनके वर्णनों में शृंगार का पर्याप्त अवकाश रहता ही है।

जायसी के रहस्यवाद में प्रायः सभी प्रकार के रहस्यवादों के दर्शन होते हैं। सौन्दर्य और प्रेम तो जैसे लक्ष्य ही हैं, किन्तु शिशु और प्रकृतिभाव भी जहाँ-तहाँ दिखलाई पड़ जाते हैं। 'पद्मावत'

में शिशुभाव को व्यक्त करनेवाला एक स्थल ध्यान में आया है—

आवत जग बालक अस रोआ,
उठा रोइ हा ग्यान सो सोआ।

और,

सोवत रहा जहाँ सुख साखा,
कस न तहाँ सोवत विधि राखा।

इसी प्रकार जायसी प्रकृति में उस अचित्य की परोक्ष ज्योति और उसके सौन्दर्य का, नूर और जमाल का, संकेत पाते हैं।

...............बहुतै जोति जोति वही भई।
रवि शशि नखत दिपहिं ओही जोती,रतन पदारथ मानिक मोती।

सारी प्रकृति को आराध्य से ही प्रकाश मिला हुआ है—उसी की ज्योत्स्ना में सभी लोटपोट हो रहे हैं। रतनसेन पद्मावती के संबन्ध में कहता है—

अनु धनि! तू निसिअर निसि माहाँ,हौ दिनिअर जेहि कै तू छाहाँ।
चाँदहिं कहाँ ज्योति औ करा, सुरुज कै जोति चाँद निरभरा॥

इस प्रकार जायसी ने रहस्यवाद को सर्वांगीन बनाकर एक ठोस धरातल पर खड़ा किया है। उसमें तीव्रता है, पुलक है, करुणा है, वेदना है। प्रेम की आँच के साथ साधना की लू जायसी के रहस्यवाद को काफी ऊपर खीच ले जाती है।

रहस्यवाद के ऊपर सामान्यरूप से विचार करते हुए हिन्दी के

दुर्वासा—आलोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल का मत यह था कि ये रहस्यवादी कवि दूर देश की सैर में मस्त रहकर वास्तविकता से इतनी दूर चले जाते हैं कि उनके सामने विश्व और उसके बंधन कोई महत्त्व नहीं रखते—समाज को बचाए रखने, उसके उन्नयन एवं उत्थान का मार्गदर्शन करने आदि से उन्हें विशेष तात्पर्य नहीं रहता। इसीलिए शुक्लजी को तुलसी जितने प्रिय हैं उतने रहस्यवादी नहीं। आधुनिक रहस्यवादियों का श्राद्ध करते हुए शुक्लजी ने रहस्यवाद को बिल्कुल निकम्मा ठहराकर उससे दूर रहने की चेतावनी दी थी। बात यह है कि रहस्यवादी किसी तरह की रूढ़ि पसंद नहीं करना चाहता। प्रेम के पथ में चलनेवालों के लिए लोक-लाज छोड़ना शायद पथिक होने की पहली सनद है। कहते हैं कि समाज की मर्यादा जब भावुकों को जकड़ने लगती है तो उसी बंधनमोचन के लिए किए गए विद्रोह को रहस्यवाद की संज्ञा दी जाती है। रहस्यवादी को संकीर्णता एकदम पसंद नहीं—और वस्तुतः इश्क की लपट में जलनेवाला जब हथेली पर प्राण रखकर ही भटक रहा है तो वह किसी की चिंता क्यों करे ?

लेकिन शुक्लजी के कथन को दूसरे ढंग से भी विचार करना पड़ेगा। गेटे ने कहा है कि रहस्यवादी कविताएँ न तो परिपक्व कविता हैं न परिपक्व दर्शन (इट इज अनराइप पोइट्री, अनराइप फिलासफी) ध्यान से देखने पर यह कथन ठीक भी मालूम होता है; क्योंकि रवि ठाकुर में जितनी कविता है उतनी कबीर में नहीं, और तुलसी में जितना पुष्ट दर्शन है उतना जायसी में नहीं। लोगों का कहना है

कि कबीर आदि संत न तो ठीक से अद्वैतवाद ही समझते हैं और न हठयोग ही—उनके साहित्य में दुनियाभर की सुनी-सुनाई बातों को अक्रम रूप से भानमती के पिटारे में बन्द करके रख दिया गया है। और सचमुच इस कथन में कुछ वजन है भी; क्योंकि एक कबीर और दूसरे जायसी को यदि छाँट दीजिए तो अन्य विचित्र नामधारी संतों की रचनाओं में कोई जानदार चीज नहीं मिलेगी—वे न तो उच्च कोटि के कवि हैं, न दार्शनिक।

'पद्मावत' में इतिहास और कल्पना का समन्वय

जायसी के कहानी की ओर मुड़ने में एक रहस्य है। उन्होंने यह ठीक-ठीक समझ लिया था कि दर्जनों उपदेशात्मक व्याख्यानों से जो बात हृदय में नहीं घुसाई जा सकती उसे कहानी के माध्यम से बड़ी आसानी से पैठाया जा सकता है। उपदेश मस्तिष्क को छूता है, कहानी दिल को गुदगुदाती है। 'खोपड़ी की कठोर हड्डियों से घिरे हुए मस्तिष्क पर कोई चिह्न आसानी से अंकित नहीं किया जा सकता; किन्तु खून के कतरों का हृदय चाहे जिस रूप में ढाल दिया जा सकता है। सूक्ष्म चिंतन हर किसी का काम नहीं, पर भावुकता की लहरों के साथ बह चलना मनुष्य का सहज स्वभाव है।' इसीलिए मौ० रूमी ने आध्यात्मिक प्रेम के प्रदर्शन के लिए अपनी मसनवी में कहानी का सहारा लिया था और इसी से श्रीमद्भागवत, पुराण आदि धार्मिक ग्रंथों की भी सृष्टि हुई।

जायसी की प्रवन्धात्मक रचना 'पद्मावत' म चित्तौड़ के राजा

रतनसेन और सिंहल द्वीप की राजकुमारी पद्मावती की प्रेमकहानी वर्णित है। ऊपरी दृष्टि से देखने पर कहानी की सारी रूपरेखा ऐतिहासिक मालूम पड़ती है; लेकिन सत्यतः जायसी की कविता इतिहास की पटरी से नीचे उतरकर ही चलती है। जायसी कोई इतिहासवेत्ता नहीं थे और न उन्हें इतिहास का कोई शोध ही प्रस्तुत करना था। इसलिए उसकी लीक छोड़ने में उन्हें कोई हिचक भी नहीं थी। उनकी कथा के जो फारसी आदर्श (मसनवी आदि) रहे होंगे उनमें कथा सौष्ठव और कहानीकला पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। किसी भी वैचित्र्यपूर्ण विविध-प्रसंगमयी कहानी को कवितावद्ध कर देना मसनवी लेखकों की शैली रही है। हाँ, सिर्फ एक वात होनी चाहिए—उस कहानी में प्रिय प्राप्ति की कठिनाइयों और प्रेम की पीर के प्रसंग मार्मिक ढंग से आए हों, बस।

जायसी के वहुत दिन पहले से ही उत्तरभारत में उदयन की कहानियों की तरह 'पद्मिनी रानी और हिरामन सूए' की कहानी लोगों के वीच काफी प्रचलित थी। आज भी हमारे गाँवों में प्रेमियों की अनेकानेक कहानियाँ कही जाती हैं। ये 'कथा-कोविद' पात्रों का नाम नहीं जानते हैं; केवल इतना ही कहते हैं—'एक था राजा', 'एक थी रानी' 'एक था दिल्ली का वादशाह' और सारी कहानी कह जाते हैं। बिचारे राजा, रानी और बादशाह वक्ता और श्रोता दोनों के वीच अज्ञातनाम गोत्र ही बने रह जाते हैं। जायसी के सामने पद्मावती की कथा इसी रूप में अवश्यमेव प्रचलित होगी और 'पद्मावत' लिखने की प्रेरकशक्ति भी इसी तरह की अनगढ़ कहानियाँ

अवध के ग्रामीण 'रतनसी' ही कहकर कहानियाँ सुनाते हैं। अयोध्या से थोड़ी दूर के एक गाँव के एक वयोवृद्ध किसान से पद्मावती की कहानी पूछने पर वक्ता ने इन पंक्तियों के लेखक को क़ाफी रोचक ढंग से, कहानी के नायक-नायिका पर काफी श्रद्धा रखते हुए, कभी गद्य और कभी पद्य में चलनेवाली कथा सुनाई। उसके कहने का सारांश यह था कि रतनसी ने एक दिन दूर-दूर से आए हुए चारणों के मुँह से पदुमावती नामक नारी की सौन्दर्य-गाथा सुनी और उस वर्णन से वह इतना प्रभावित हुआ कि राजपाट छोड़कर विरक्त रहने लगा। पटरानी रंभावती ने उसकी गतिविधि देखकर कुछ शंका की जिससे राजा बिगड़ गया। एक दिन भोजन करते समय राजा को रसोई में स्वाद नहीं मिला—कुछ तो विरहावस्था के कारण और कुछ रानी की असावधानी के कारण भी—इसलिए राजा ने शिकायत की। रानी तमककर बोली—मेरा बनाया अच्छा नहीं लगता तो क्यों नहीं कोई 'पदुमनि' ले आते? राजा रतनसी थाल पर से उठकर अनुसंधान में निकला। सागर के किनारे एक सिद्ध औघड़ मिला। उसने राजा के मन की बात जानकर उन्हें अपनी सिद्धियाँ दिखलाईं और योगबल से सिंहलद्वीप पहुँचा दिया। सिंहल में उसी दिन सिंहलेश्वर की बहन पद्मिनी का स्वयंवर होनेवाला था। राजा रतनमी ने वहाँ जाकर उसमें भाग लिया और, जैसा कि जरूरी था, उसमें अपना शौर्य दिखलाकर 'पदुमनि' का पाणिग्रहण किया।—इस कथानक को सुनने के वाद जब हमने 'पद्मिनी-चरित' पढ़ा तो ऐसा लगा कि उस वृद्ध किसान ने मुझे जो कुछ भी सुनाया वह हूबहू इसी पुस्तक की ही कहानी थी।

पर थोमा। इसका परिणाम यह हुआ कि समूची कथा में इतिहास कल्पना तथा जनश्रुति की कलापूर्ण समन्विति संभव हुई है। गौरीचन्द हीरानन्द ओझा ने तो स्पष्ट ही कह दिया है कि 'पद्मावत ऐतिहासिक उपन्यासों की तरह कवितावद्ध कथा है। कलेवर ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर है; लेकिन जहाँ-तहाँ कल्पना से काम लेने के कारण इतिहास-विरुद्ध बातें भी हैं।'

पहले हम पूर्वार्द्ध की विवेचना करेंगे। 'पद्मावत' का यह भाग कल्पित तो है; किन्तु इतिहास के सर्वथा प्रतिकूल नहीं।

टॉड की पुस्तक 'एनेल्स ऑव राजस्थान' के अनुसार पद्मिनी के पति का नाम भीमसिंह था; लेकिन जायसी ने रतनसेन लिखा है। कुछ ऐतिहासिकों के अनुसार लक्ष्मण सिंह चितौड़ का नरेश था। बहुत अधिक संभावना है कि जायसी के आसपास में राज्य करनेवाले महाराज रतन सिंह से रतनसेन की प्रेरणा मिली हो और उन्हीं के नाम पर उसने महाकाव्य के नायक का नामकरण कर दिया हो। इन महाराज रतन सिंह के जीवन की घटनाएँ 'पद्मावत' के रतनसेन से काफी मिलती हैं। रतन सिंह और बूंदी नरेश सूरजमल की वंशगत प्रतिद्वन्द्विता थी और इन्हीं सूरजमल के द्वारा महाराज रतन सिंह शिकार खेलते समय धोखे में मार डाले गए थे। यही कहानी 'पद्मावत' में हूबहू उतर आई है। जायसी की कल्पना ने सूरजमल को देवपाल का कलेवर दे दिया और इसी न्याय से इतिहास के भीम सिंह या लक्ष्मण सिंह रतनसेन हो गए हैं। शुक्लजी का कहना है कि अतिप्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ 'आइन-ए-अकबरी' में रतनसेन नाम ही आता है। इसलिए 'पद्मावत' के नायक का नाम इतिहास-सम्मत है, प्रामाणिक है।

पद्मिनी सिंहल की थी—यह तो टॉड भी लिखता है; किन्तु यह एक ऐसा तथ्य है जिसे जायसी ने अपनी कल्पना तथा जनश्रुति के आधार पर रूपान्तरित कर दिया है। सिंहल वस्तुतः राजपूताने या गुजरात में कोई स्थान रहा होगा, क्योंकि पद्मिनी का चौहानकुल का होना टॉड ने लिखा है। जायसी के मस्तिक में सिंहल के संबन्ध में कोई स्पष्ट कल्पना नहीं थी। ऐसा लगता है, आधुनिक सिंहल(सीलोन) से उसका विशेष परिचय नहीं था। यदि ऐसा होता तो वह सिंहल के वर्णन के सिलसिले में वहाँ के वृक्षों आदि का वर्णन अवश्य करता; पर जायसी के सिंहल-वर्णन में वे सारी बातें समाहित हैं जो किसी भी देश के प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णन के काम में लाई जा सकती हैं। लंका की विशेष वनस्पति का उसमें उल्लेख नहीं है। यदि जायसी सिंहल को राजपूताने या गुजरात में मानते, जैसा कि टॉड मानता है, तो वे समुद्र यात्रादि का वर्णन क्यों करते? रा० ब० गौ० ही० ओझा का मत है कि 'रत्न सिंह के राज्य करने का जो अल्प समय निश्चित है, उससे यही माना जा सकता है कि उसका विवाह सिंहल-द्वीप अथवा लंका के राजा की कन्या से नहीं सिंगोली (चित्तौड़ से ४० मील पूरव) के सरदार की कन्या से हुआ हो। हो सकता है, पद्मावती या पद्मिनी सिंगोली के सरदार की ही कन्या रही हो जिसे जायसी ने सिंहल समझकर पद्मावत में प्रकृत रूप दिया है।"[१] जो भी हो,

---

१ 'कल्याण' (नारी-अंक), पृ० ५७२

इतना निश्चय है कि जायसी के मन में सिंहल के प्रति कोई स्पष्ट भावना नहीं थी। सिंहल और पद्मिनी स्त्रियों का संबन्ध बहुत प्राचीन काल से चला आता था। योगियों में उसकी प्रसिद्धि थी। वस्तुतः सिंहलद्वीपवासी (लंका-निवासी) तो पक्के रंग के ही होते हैं और उनके बीच पद्मिनी-जैसी सुन्दरियों का होना कोरी कल्पना ही है। स्पष्ट है कि इस प्रसंग का आधार ऐतिहासिक होने के बदले साम्प्रदायिक है। 'कामरूप' और 'सिंहल' नाथपंथी योगियों के समय में काफी आकर्षण रखते थे और सिद्धि-प्राप्ति के परीक्षा-स्थल के रूप में काफी भावुक दृष्टि से देखे जाते थे। इस प्रसंग में मछन्दरनाथ की कहानी हम भूले नहीं हैं। यहाँ पद्मिनी जाति की स्त्रियाँ ही रहती थीं जिनके फेरे में पड़कर अक्खड़ योगी भी भ्रष्ट हो जाते थे। जायसी इस कथा-परंपरा से प्रभावित हैं—इसका निर्देश नाथपंथवाले परिच्छेद में हो चुका है। यहाँ इतना ही कहना अभिप्रेत है कि नामसाम्य के कारण जायसी ने पद्मिनी जाति की नारियों को इतिहास की पद्मिनी समझकर उसे चित्तौड़ के स्थान पर सिंहल में बैठाकर कथा की रचना की। उन्हें चित्तौड़ से पद्मिनी को दूर रखने की आवश्यकता इसलिए भी पड़ी कि कहानी की रूपकात्मक सत्ता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए साधक को मार्ग की कठिनाइयों से उलझकर प्रेमपात्र (ईश्वर) की लम्बी मंजिल तक पहुँचने का मौका देने के लिए तथा रत्नसेन की कठिन प्रेमसाधनाओं को दिखाने के लिए दूसरा कोई माध्यम भी नहीं था। यदि पद्मावती का स्थान चित्तौड़ के कहीं आसपास ही मान लिया जाता तो वह कृष्ण और गोपियों के

विरह की तरह हास्यास्यद हो गया रहता, सजल प्रेमकाव्य नहीं वन पाता।

कथा के विकास के लिए जायसी ने अनेक चरित्रों की नवीन उद्भावना की है। जायसी का चित्रसेन महाभारत के गंधर्वराज चित्रसेन की याद दिलाता है और पद्मावत में गंधर्वसेन वन गया है। इसी तरह जायसी की नागमती 'वीसलदेवरासो' की राजमती की काया लेकर आई है। पद्मावती की सपत्नी के वारे में इतिहास सर्वथा मौन है। जनश्रुति में भी नागमती का नाम नहीं आता। हाँ सौत की चर्चा अवश्य है और वह भी सिर्फ तोते को मारने के प्रयास के प्रसंग में। जायसी ने यदि 'प्रसाद' की काल्पनिक-नारीपात्रोद्भावना की तरह लोककथा का आधार लेकर नागमती की ठठरी में प्राणसंचार कर एक उत्कृष्ट विरहकाव्य की रचना की तो उन्हें इसका श्रेय मिलना ही चाहिए।

जायसी ने 'पद्मावत' के ऐतिहासिक कथानक में जो महत्त्वपूर्ण प्रबंधोपयोगी परिवर्तन किए हैं उनका उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है। वे मुख्यतः निम्नाङ्कित हैं—

(क) राघवचेतन एक कल्पित पात्र है। उसके समावेश से कवि ने अल्लाउद्दीन और राणा के युद्ध में कार्य-कारण संवन्ध स्थापित किया है। कथा के पूर्वभाग में वह गायव है। उत्तरभाग में शैतान के रूप में आकर सुखपूर्ण जीवन में हलचल उपस्थित करता है। वही अल्लाउद्दीन को वहकाकर पद्मिनी-विजय के लिए उत्साहित करता

है। राघवचेतन के अभाव में अल्लाउद्दीन और रतनसेन की कथाएँ अलग-अलग ही रहतीं, पर कल्पना (पूर्वभाग) और इतिहास (उत्तरभाग) को मिलाने के लिए जायसी ने अपनी सूक्ष्म अशरीरी कल्पना को चेतन कलेवर दे दिया है—यही राघवचेतन है।

(ख) चित्तौड़ पर आक्रमण करने के बाद संधि-प्रस्ताव में अल्लाउद्दीन रतनसेन से उन पाँच बहुमूल्य वस्तुओं की माँग पेश करता है जिसे सिंहल से लौटते समय समुद्र ने उसे दिया था। इस माँग की चर्चा न तो लोककथाओं में है और न 'पद्मिनी-चरित' में ही है।

(ग) इतिहास के अनुसार रतनसेन अल्लाउद्दीन को दर्पण में पद्मिनी का प्रतिबिंब दिखाने के लिए सहर्ष तैयार हो जाता है। हिन्दू नायक के चरित्र की आदर्शरक्षा के लिए जायसी ने इस प्रसंग में परिवर्तन कर दिया है। जिस घटना को इतिहास ने रतन सिंह का सक्रिय प्रयत्न माना है वह 'पद्मावत' में सर्वथा आकस्मिक है। पद्मावती अप्रत्याशित दर्पण के सामने घूमती-घूमती चली आती है और अल्लाउद्दीन उसकी एकाएक झाँकी पा लेता है। इसके द्वारा जायसी ने काव्योचित मधुरिमा की सृष्टि की है और एक नाटकीय स्थिति की उदभावना की है। नायक भी अभिशाप से बच जाता है।

(घ) इतिहास कहता है कि रतनसेन शिविर में बंदी बनाया गया। एक क्षत्रिय राजा के चरित्र के लिए शायद यह उचित नहीं

था। इसलिए जायसी ने उसका दिल्ली में बंदी होना माना है। ऐसा करने से विप्रलंभ का काफी अवकाश मिलता है और साथ ही पद्मावती के सतीत्व तथा गोरा-बादल के शौर्य और विक्रम के विस्तृत चित्रण-वर्णन के लिए भी पर्याप्त मसाला मिल जाता है।

(ङ) राजा देवपाल जायसी की अपनी सूझ है। रतनसेन को अल्लाउद्दीन के हाथों से न मरवाकर देवपाल के हाथों मरवाने में कवि ने नायक की मर्यादा की काफी रक्षा की है। शायद रतनसेन को हराने के लिए ही देवपाल की सृष्टि हुई जान पड़ती है। मुसलमान होते हुए भी जायसी को अपने हिन्दू नायक की हत्या मुसलमान के हाथों अभीष्ट नहीं थी।

कल्पना की लोरियों से पली हुई इन घटनाओं की उद्भावना का मुख्य उद्देश्य मसनवी पद्धति के कथानक में लोकप्रसिद्ध इतिवृत्त और ऐतिहासिक तथ्यों को एक ही लड़ी में पिरोने का ही था। 'अभी तक सूफियों ने केवल कल्पना के आधार पर प्रेमकथा लिखकर अपने सिद्धान्तों का प्रकाशन किया था; पर जायसी ने कल्पना के साथ-साथ ऐतिहासिक घटनाओं की शृंखला सजाकर कथा को सजीव कर दिया।' हिन्दी की प्रेमगाथा-परंपरा में यह नूतन प्रयास था।

हमने पहले ही निर्देश किया है कि 'पद्मावत' की कथा फारसी की मसनवी-शैली में लिखी गई है। कथा का प्रारंभ एक लौकिक उपाख्यान से होता है और वही कहानी आगे चलकर आध्यात्मिक बन जाती है। इन कहानियों के लिखने के पीछे जायसी का उद्देश्य

प्रतीकपद्धति का सहारा लेकर सूफी-सिद्धान्तों को मूर्त्तरूप देना ही था। कथा के पूर्वार्द्ध में कहीं भी कठिनाई नहीं है, संघर्ष नहीं है। लौकिक कहानी सीधी पटरी पर दौड़ती है—न कोई खलनायक है, न कहानी में मोड़-तोड़ ही है। जो भी थोड़ी बाधाएँ हैं, वे प्रकृति की हैं, बाहरी हैं। लेकिन जायसी ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि ये ही कठिनाइयाँ कम नहीं हैं—ये सूफी-साधनामार्ग के गहनतम व्यवधान हैं जिन्हें सहज ही पार नहीं किया जा सकता। पद्मावती ईश्वर के प्रतीक-रूप में आती है, रतनसेन साधक है। हिरामन तोता पथ-प्रदर्शक है, गुरु है, मुर्शिद है। सिंहलद्वीप ही कल्ब या हृदय है, चित्तौड़ शरीर का प्रतीक है। जायसी को जो बनी-बनाई कथा मिल गई थी उसमें ये रूपक इतनी आसानी से बैठ जाते हैं कि पता नहीं लगता कि वे कहानी कह रहे हैं या रूपक में सूफी सिद्धान्त फरमा रहे हैं। चितौड़ (तन) में निवास करनेवाला राजा (मन) लौकिक गोरखधंधे (नागमती) में लिपटा हुआ है। यह मोह उसे ऊपर उठने की शक्ति नहीं देता। एक दिन भगवत्कृपा से उसे असीम सौन्दर्य का ज्ञान होता है—उसे पाने के लिए वह व्याकुल हो जाता है; लेकिन गुरु के अभाव में अंधकार में ही छटपटाता रहता है। हीरामन तोता आकर पथप्रदर्शन करता है। साधक साधना के मार्ग पर आगे बढ़ने लगता है। सिंहल (हृदय) के भीतर रहनेवाली सहजबुद्धि (पद्मावती) ही उसका लक्ष्य है जिसे वह पाना चाहता है। काफी झंझटों के बाद वह वहाँ तक पहुँचता है, पर दर्शन होते ही अचेत हो जाता है। असीम सौन्दर्य की चकमक में साधक बेहोश हो जाता है—परमज्योति

का दर्शन नहीं हो पाता। जो साधक गाफिल हो गया उसने तो मौका हाथ से जाने दिया। वह फिर प्रयत्न करता है और तब आत्मा और परमात्मा का मेल हो जाता है। दोनों एक ही सूत्र में बँध जाते हैं। यहीं आकर जायसी का सूफी अध्यात्म समाप्त हो जाता है, लेकिन जायसी की कहानी तो समाप्त नहीं होती। इसलिए रूपक का व्यर्थ बोझ आगे भी बढ़ता जाता है। समझ में नहीं आता, पद्मावती की प्राप्ति (ईश्वर-मिलन) के पश्चात् नागमती और पद्मावती के बहुत दिनों तक प्रसन्न रहने और दोनों के गर्भ से कमलसेन और नागसेन नामक पुत्रों की उत्पत्ति आदि को जायसी के सूफी दर्शन की कसौटी पर कसकर कौन-सा अर्थ निकाला जा सकता है? क्योंकि जायसी के दर्शन की आखिरी सीमा तो वहीं समाप्त हो जाती है जहाँ पद्मावती रतनसेन को मिल जाती है और उनकी परस्पर शादी हो जाती है, फिर आगे रूपक का निर्वाह कैसे हो सकता है?

कथानक के उत्तरार्द्ध में पूर्वार्द्ध के रूपक गौण पड़ जाते हैं और कुछ नवीन प्रतीक एकाएक चले आते हैं। यहाँ न नागमती का प्रतीक चलता है, न हिरामन सूए का, न सिंहल का। राघवचेतन शैतान के रूप में आता है और अल्लाउद्दीन माया का प्रतीक बनता है। ये दोनों प्रतीक इतने अस्पष्ट हैं और कहानी के चक्र में जायसी इतना उलझ जाते हैं कि उत्तरार्द्ध की घटनाओं को इन प्रतीकों से सटा-सटाकर पढ़ा जाय तो एक पंक्ति भी आगे बढ़ना मुश्किल है। राघवचेतन (शैतान) को रतनसेन और पद्मावती (आत्मा और

वह झुँझला उठता है और ऐसे बाधक प्रसंगों से बचकर आगे बढ़ जाना चाहता है।[१] जायसी कभी-कभी आध्यात्मिकता को इतनी दूर ले जाते हैं कि लौकिक पक्ष का उन्हें ध्यान ही नहीं रहता। अन्योक्ति-पद्धति की विशृंखलता 'पद्मावत' की सबसे बड़ी कमज़ोरी है। सत्य तो यह है कि पुस्तक के अन्त में प्रतीकों की जो कुंजी जायसी ने दी है वह कथा के ताले में ठीक बैठती ही नहीं।[२] इस संकेतकोष में इतनी भ्रांतियाँ हैं कि कथा कहीं-कहीं बिल्कुल चौपट हो जाती है।

इतना होने पर भी जायसी के 'पद्मावत' का महत्त्व कुछ कम नहीं होता। इतिहास का स्तर ही कुछ ऐसा नीरस हुआ करता है कि उसके ऊपर दर्शन का जादू काम नहीं करता। सच पूछिए तो जायसी न तो टॉड थे, न बर्नियर, न ह्यूनसांग और न अलबरूनी—इसीलिए इतिहास उनके सामने नीरस नामावली के रूप में नहीं आया। वे न तो 'हितोपदेश' लिख रहे थे और न 'बैतालपचीसी'। वे कवि थे और काव्य लिख रहे थे—सजल, कोमल। वे रसात्मक कविता द्वारा मानव-

---

१ *'योगप्रवाह'—डा० पी० बड़थ्वाल।*

२ अलैक्जेण्डर *ग्रियर्सन शिरेफ*—'I doubt very much whether he had any definite allegory present to his mind through out. The key which he gives in the first stanza of his Envoy does not by any means fit the lock.'

हृदय की भावनाओं को एक ही सम पर हिला देना चाहते थे। इस रस के संचार के लिए प्रबंधकाव्य के घटनाचक्र की आवश्यकता थी जो इतिहास और जनश्रुति के सम्मिलन से मिली और इसपर कवि की प्रतिभा ने स्वर्णिम पानी फेरकर इसे चमका दिया। इस प्रकार, 'पद्मावत' का पाठक जनश्रुति, इतिहास और कल्पना की पुनीत त्रिवेणी में अवगाहन करता है। प्रेम के इस भिखारी ने अपूर्व कौशल से पथरीले इतिहास और निर्मल-स्निग्ध कल्पनानिर्झरिणी का सम्मिलन करा दिया है—हिमालय के हृदय को फोड़कर ही हमने गोमुखी को निकलते देखा है, फिर धीरे-धीरे कंकड़ों के साथ उस पयस्विनी को बहते भी !

प्रमुख सूफी-संतों की काव्य-चेतना

मलिक मुहम्मद जायसी के पूर्ववर्ती प्रेमकथाओं में कुतवन की मृगावती और मंझन की मधुमालती की ही अधिक प्रसिद्धि है। इन दोनों पुस्तकों की प्रामाणिकता के संबन्ध में पहले विचार किया जा चुका है। ये पुस्तकें एक तो खंडित रूप में वर्तमान हैं दूसरे, पता नहीं, वे अपने मूल रूप में हैं या नहीं। अतः इतिहास की दृष्टि से और विशेषतः जायसी की कविता की पृष्ठभूमि के रूप में इन पुस्तकों का अस्तित्व संदिग्ध माना जायगा। फिर भी इनके जो रूप हमारे सामने मिलते हैं उनकी जाँच-पड़ताल से हम उनके रचयिताओं की विचारधाराओं के कुछ तो निकट पहुँच ही सकते हैं क्योंकि इसे छोड़ और कोई विकल्प हमारे सामने नहीं है। जायसी के परवर्ती कवियों की रचनाओं को ऐसे दुर्भाग्य का सामना नहीं करना पड़ा। वे प्रायः पूर्ण ही मिलती हैं और उनकी प्रमाणिकता के संबन्ध में संदेह नहीं है। इस परिच्छेद में हम कुतुवन, मंझन, उसमान और नूर-मुहम्मद—इन चार प्रसिद्ध सूफी संतों की प्रेमकहानियों पर विचार करेंगे।

(क) कुतुबन

मृगावती के संबन्ध में जायसी की एक पंक्ति—'राजकुँअर कंचनपुर गएऊ, मिरगावती लगि जोगी भएऊ'—के अतिरिक्त किसी को बहुत दिनों तक एक शब्द भी अधिक नहीं मालूम था। सन् १९०० में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने हस्तलिखित पुस्तकों की खोज का आंदोलन प्रारंभ किया और उसी सिलसिले में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पुस्तकालय में 'मृगावती' की एक फटी-सी खंडित प्रति मिली। यह प्रति अधूरी तो थी ही, काफी अशुद्ध भी थी। आजकल 'मृगावती' के अंश के रूप में जो उदाहरण हमारे सामने रखे जाते हैं वे इसी अधूरी और अशुद्ध प्रति के परिमार्जित संस्करण हैं। पुरातत्त्ववेत्ताओं ने काफी छानबीन के बाद इसका रचना-काल हिजरी संवत् ९०९ (वि० सं० १५६७) माना है।

इस खंडित प्रेमकाव्य के रचयिता शेख बुरहान के शिष्य कुतुबन हैं। कुतुबन की जीवनी के संबन्ध में इतिहास अंधकार में है। इनकी 'मृगावती' की कहानी किसी ऐतिहासिक घटना पर अवलंबित नहीं है, वह कवि के मस्तिष्क की अपनी उपज है। अपनी कहानी को ममनवी शैली में लिखकर सूफी-दर्शन के भार-वहन-योग्य बनाना साधारण काम नहीं है। कुतुबन की यह कृति उनकी प्रौढ़ावस्था की रचना नहीं मालूम पड़ती। अतः कहानी और दर्शन बे-मेल हो गए हैं। सूफी रूपकों को कवि ने मनमानी के साथ मरोड़ दिया है जिससे दर्शन की टाँग टूट जाती है। 'मृगावती' के दर्शन का स्तर इसलिए काफी नीचा है।

इन पंक्तियों में 'बाहर वह भीतर वह सोई' को देखकर सूफियों के सर्वात्मवाद का परिचय मिलता है और अंतिम दोहे में आत्मा और परमात्मा के संमिलन एवं तल्लीनता का सुन्दर चित्र भी मिलता है। इस उदाहरण से यह भी प्रकट है कि कुतुबन पांच चौपाइयों के बाद दोहे का क्रम रखना पसंद करते हैं। इनकी कविता में छंद भंग काफी हैं और भाषा गँवारू अवधी है। कहीं-कहीं हिन्दी के भी पुट मिलते हैं। कुतुबन ने काफी परिश्रम से कहानी को साहित्यिक ऊँचाई तक पहुँचाने का प्रयास किया है, किन्तु इस प्रयत्न में वे सफल नहीं हो पाए हैं। उनकी प्रतिभा इतनी तीखी नहीं थी जिससे वे किसी महान-साहित्य की उद्भावना कर सकते।

(ख) मंझन

'मधुमालती' की प्रेरणा 'मृगावती' के रचयिता से काफी सबल दिखलाई पड़ती है। मंझन ने कल्पना-प्रसूत कहानी लिखी, लेकिन उसमें सूफी-काल की आत्मा को प्रवेश करा देने में उसने काफी कमाल हासिल किया है। जायसी के पहले की रचनाओं में 'मधुमालती' ही पुष्ट कृति दिखलाई पड़ती है, हालाँकि यह भी उसी तरह खंडित और अपूर्ण है जिस तरह 'मृगावती' है। मंझन के संबन्ध में 'कुछ भी ज्ञात नहीं है।' अनुमानतः लोगों ने इनका समय सं० १६५०-१७२० तक माना है और सं० १५७५ से १५९५ तक के समय को 'मधुमालती' का रचना-काल ठहराया है। मंझन की प्रेमकहानी में काफी मधुर कल्पना की गई है और प्रेम के

विस्तृत एवं हृदयग्राही वर्णन के अलावे श्रृंगार को उद्बुद्ध करने के लिए प्रकृति के अनेकानेक रमणीय दृश्यों का भी इसमें समावेश किया गया है।

'मधुमालती' में कनेसर-सम्राट् सूरजभानु के पुत्र मनोहर और महारसनगर की राजकुमारी मधुमालती के प्रेम की गाथा है। मधुमालती की चित्रसारी में मनोहर को राजकुमारी मिलती है, उस पर वह मोहित होता है और प्रेमालाप के पश्चात् दोनों इकट्ठे सो जाते हैं। परियाँ जिस तरह कनेसर से मनोहर को महारस लाई थीं उसी तरह सोते हुए राजकुमार को चुपके से उठाकर राजधानी पहुँचा देती हैं। वहाँ जागने पर मधुमालती को न देखकर वह व्याकुल हो जाता है और राजपाट छोड़कर संधान में निकल पड़ता है। राह में उसका जहाज डूबता है, वह साथियों से अलग होकर किसी प्रकार बचकर एक निर्जन स्थान में पहुँचता है। यहाँ उसे एक सुन्दरी पलंग पर लेटी दिखलाई पड़ती है। यह युवती चित्रसेन की पुत्री प्रेमा है जो राक्षस की चपेट में पड़कर इस जंगल में लाई गई है। मनोहर के षड्यंत्र से राक्षस मारा जाता है और दोनों भाग निकलते हैं। प्रेमा वास्तव में मधुमालती की सखी है—इसके सहयोग से मनोहर की पुनः मधुमालती से भेंट होती है। दोनों को चित्रसारी में सोते हुए देखकर मधुमालती की माँ रूपमंजरी ने अपनी पुत्री को इस प्रकार के गुपचुप प्रणय के लिए बुरा-भला कहा और आदेश दिया कि वह मनोहर को भूल जाय। अपनी बातों का मधुमालती पर कुछ भी प्रभाव न पड़ता देखकर उसने उसे शाप दे दिया कि

तुम पंछी बन जाओ। मधुमालती पंछी बनकर भी मनोहर को सर्वत्र ढूँढ़ती रही। इस पंछी के सौन्दर्य को देखकर ताराचंद नामक एक राजकुमार ने इसे पकड़ लिया। मधुमालती उसे अपनी कहानी सुनाती है और वह उसे पितृगृह में भेज देता है। रूपमंजरी उसे पाकर बड़ी खुश होती है। इसी बीच योगी के वेश में घूमता-घूमता मनोहर प्रेमा के नगर में पहुँच जाता है। वह महारस सूचना भेजती है और मधुमालती अपने माता-पिता के साथ प्रेमा के यहाँ पहुँच जाती है। यहीं दोनों का विवाह हो जाता है। ताराचंद भी मनोहर के ही साथ रहने लगता है। एक दिन शिकार से लौटने के बाद ताराचंद प्रेमा को देखकर बेहोश हो जाता है। मंझन की कहानी ताराचंद को अचेत छोड़कर ही मौन हो जाती है। आशा की जाती है कि जिस तरह मधुमालती और मनोहर की शादी हो गई उसी तरह प्रेमा और ताराचंद को भी प्रणयसूत्र में बाँधना मंझन को अभीष्ट होगा।

मंझन के इस आख्यान में परंपरागत प्रेमकहानियों से कुछ नवीन बातें मिलती हैं। जायसी आदि सभी परवर्ती प्रेम-कथाकारों तथा फारसी के प्रायः सभी सूफियों ने नायक-नायिका का प्रेम गुण-श्रवण से प्रारंभ किया है। सबमें कोई-न-कोई दूत आकर नायिका का रूप-गुण नायक को सविस्तार सुना देता है और उसकी मादकता में नायक मस्त होकर खोज में वैरागी होकर निकल पड़ता है। मंझन ने किसी सुनी-सुनाई बात पर नायक को अंधाधुंध खोजने के लिए नहीं दौड़ाया है। उनका मनोहर स्वयं मधुमालती का प्रत्यक्ष दर्शन

करता है और बाद में वियोग होने पर उसके संधान में :
है। मंझन की यह मौलिकता कहानी की दृष्टि से तो काफ
है, लेकिन सूफी-दर्शन की पृष्ठभूमि के लिए सर्वथा अन्
सूफी साधना में साधक को प्रारंभ में ही यदि साध्य का स
हो जाय तो वह साधना के मार्ग पर चलेगा ही क्यों? प्रि
प्रिया का मिलन तो साधना की आखिरी सीमा है। सूफी
यदि पहले कुछ प्राप्त कर सकता है तो सिर्फ आराध्य के ज
उसके सौन्दर्य की झांकी और वह भी किसी मध्यस्थ के द्वारा
जमाल की तीव्रता साधक को साधनापथ पर अग्रसर होने के
उत्साह देती है और मिलन की घड़ियों तक प्रतीक्षा करने की अलौ
शक्ति देती है। मंझन ने प्रारंभ में ही मनोहर और मधुमाल
का चित्रसारी में संयोग करवाकर सारा रूपक ही बिगाड़ दिया है
अन्य सूफी काव्यों में पहले प्रेम काफी पुष्ट हो लेता है तब संयो
होता है। 'मधुमालती' में विवाह के पहले ही प्रथमदर्शन-जनित
प्रेमानुभूति के साथ-साथ संयोग दिखलाया गया है। भारतीय
संस्कृति में विवाह के पहले संयोग उत्तम नहीं माना जाता और
चित्रसारी में मनोहर और मधुमालती को सोता देखकर रूपमंजरी
अगर शाप देती है तो कोई गलती नहीं करती; क्योंकि मंझन ने यह
दिखलाना चाहा है कि विवाह के पहले का संयोग उनकी दृष्टि में
भी वर्जित है। साधारण कहानी के रूप में मंझन की इस समझदारी
की प्रशंसा [illegible] पर सूफी दर्शन के क्षेत्र में उनके इस कर्तव्य पर
[illegible] नहीं हुआ। मंझन की मौलिकता मधुमालती के विरह-प्रसंग

में काफी सुन्दर परिस्थितियों की सृष्टि करती है। सूफियों के यहाँ इश्क की आग में तड़पने का सौभाग्य सिर्फ नायक को ही मिला है— साधक का शरीर ही कष्ट सहने के लिए बना है। नायिका सर्वदा मौन रहती है। भारतीय प्रेमपद्धति में नायक की ओर से ही विरह की न्यूनता पाई जाती है और नायिका विरह की देवी बनकर प्रेमी के लिए छटपटाती रहती है। मंझन ने मनोहर की विरहाग्नि का तो परंपरागत वर्णन किया है, साथ ही उन्होंने यह भी दिखलाया है कि यह आँच एकांगी नहीं है। प्रेम की लौ दोनों दिलों को समान रूप से जलाती है। मनोहर यदि प्रेमी बनकर सरिता, सागर, वन, उपवन में मधुमालती की छाया ढूँढ़ता फिरता है (मधुमालती मधुमालती करई सँवर सँवर सोई भुँइँ लै धरई) तो मधुमालती भी उससे पीछे नहीं रहती, वह भी पक्षी बनकर सर्वत्र उसी की खोज करती फिरती है। इस प्रकार मंझन ने एक ही कथानक में मुसलमानी और भारतीय आदर्शों का सम्मिलित रूप उपस्थित किया है।

कहा जा चुका है कि मंझन का दर्शन कुतुबन से पुष्ट है। मधुमालती के लिए मनोहर की आकांक्षाएँ तथा साधनाएँ ठीक उसी तरह हैं जैसी एक योगी की ईश्वर के लिए होती हैं। वैसे तो सभी सूफी प्रेमकथाओं के नायक घरद्वार छोड़कर घूमते हैं, पर मनोहर को जितना कष्ट हुआ है, उतना शायद ही किसी को हुआ हो। मंझन ने मनोहर के वियोग को सम्पूर्ण विश्व का वियोग माना है। मनोहर रोता है तो सिर्फ उसका रुदन उसी के साथ समाप्त नहीं हो जाता, पृथ्वी के सारे प्राणी उसके दुःख में रोते हैं;

पछी भी, पौवे भी, पर्वत भी, सागर भी। मंझन ने प्रेमा को तो प्रेम की मूर्ति ही वना दी है—सूफी काव्यों की नायिकाओं को छोड़कर और कोई दूसरी नारी इसकी टक्कर की नहीं है।

मंझन का आराध्य काफी सवल है, उसकी अपरिमित शक्तियाँ हैं। विश्व के विराट् उपादानों को देखकर हम कुछ-कुछ उसके महत्त्व को समझ सकते हैं। मंझन ने यह दिखलाया है कि साँई सब जीवों के ऊपर अकेला ही संसार से निर्लिप्त रहकर सूक्ष्म रूप में निवास करता है। पहले मंझन ने उसे कहीं विश्व के वाहर वसेरा लेते हुए देखा था; लेकिन वाद में उन्होंने देखा कि वह सब जगह समान रूप से छाया हुआ है। उनका आराध्य ऐसा है—

निसकलंक निरदोपो एक अकेला सोई।
दुसह दोप जो लागै सहि कछु दोप न लोई॥

वह इतना व्यापक है कि कहा नहीं जा सकता। उसका विस्तार एक लोक में ही नहीं, समग्र ब्रह्माण्ड में है। वह जल-थल के जीवों एवं वनस्पतियों में रूप धारण कर प्रकट होता है।

एहि रूप जल थल और महियर रूप अनेक दिखाव।
आप कुँआय जो देखै सो कछु देखै पाव॥

अपने अध्यात्म को जब मंझन कहानी की अन्योक्ति में 'फिट' करने की चेष्टा करते हैं तो सामञ्जस्य नहीं वैठता। मनोहर मधुमालती के प्रेम की अलौकिकता के संबन्ध में कवि कभी नहीं रहता। यही कारण है कि उन दोनों का प्रेम अपार्थिव के वजाय काफी स्थूल हो जाता है और कभी-कभी ऐन्द्रिक

भी बन जाता है। मधुमालती की चेष्टाएँ कभी-कभी पद्माकर की नायिका की याद दिलाती हैं—

कबहुँ आलिंगन रस देई, कबहुँ कटाछ जीउ हरि लेई।
कबहुँ भौंह बान जो मारै, कबहुँ वचन अमी अनुसारे।
कबहुँ नैन जीउ हरि लेहीं, कबहुँ अधर सुधारस देहीं।
कबहुँ मान सो प्रीति बढ़ावै, कबहुँ नैन मिलि रस उपजावै।

लेकिन मंझन के विरह-वर्णन पर यदि विचार किया जाय तो उसकी मर्यादा के सामने ये सारी बातें गौण पड़ जाती हैं। विरह के क्षत्र में मंझन ने जो स्थान प्राप्त किया है वह अन्य सूफी कवियों के लिए दुर्लभ है। कहते हैं, इस ऊँचाई तक सूफी-कवियों के सिरताज जायसी भी नहीं पहुँच पाए हैं। निम्नलिखित पंक्तियां विरह-साहित्य में अपना काफी ऊँचा स्थान रखती हैं—

विरह अवधि अवगाह अपारा, कोटि माँहिं एक परै न पारा।
विरह कि जगत अविरथा जाहीं, विरह रूप यह सृष्टि सबाहीं।
नैन विरह अंजन जिन सारा, विरह रूप दर्पन संसारा।
कोटि माँहि विरला जग कोई, जाहि सरीर विरह दुख होई।
रतन कि सागर सागरहि गजमोती गज कोय।
चंदन कि बन बन उपजै विरह की तत तन होय।[1]

---

१ ध्यान से देखने पर मंझन की इस पंक्ति में चाणक्य के इस श्लोक की छाया मालूम पड़ती है—

'शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो नहि सर्वत्र चन्दनं न वने वने।'

विरह की ऐसी प्राञ्जल व्याख्या किसी भी प्रेमकाव्यकार की रचना में नहीं मिलती। सूफी-प्रेम की आत्मा है विरह और मंझन का कहना है कि यह विरह सबों को नसीब नहीं होता, विरले ही ऐसे होते हैं जो भगवान के वियोग में तड़पते हैं—'कोटि माँह विरला जग होई, जाहि सरीर विरह दुख होई।' यह विरही परमात्मा का आभास विरह की टीस में ही पाता है—'तुझको पीड़ा में ढूँढा तुझमें ढूँढूँगी पीड़ा' (महादेवी)। सूफी-साधक उस विरह के लिए सबकुछ कर सकता है। मंझन ने सूफियों के विरह को उपरोक्त पंक्तियों द्वारा एक स्थायित्व दिया है।

सूफी काव्य में नायिका का नख-शिख-वर्णन एक आवश्यक अंग है। काव्य-कला की दृष्टि से मंझन ने इसमें काफी सफलता पाई है। मधुमालती के अलकों का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

तेहि पर कच विषधर विष सारी, लोटहँ सेज सहज लहकारी।
निसि अँजोर जो वदन देखाएँ, निसि अँधेर जो कच सुकराएँ।
कच न होइ विरही दुख सारा भयो जाल मध सीस सिंगारा॥

इन पंक्तियों में केशों की लहरदार बनावट, उनकी कालिमा और साथ ही श्वेत मुखमंडल के साथ उनके संयोग को कवि ने काफी बारीकी के साथ परखा है। खोजनेवाले इसमें रूपक और अपह्नुति अलंकार भी पा सकते हैं। मंझन की एक पंक्ति है—

बदन पसेव बूँद चहुँ पासा
कचपचियें जनु चाँद गिरासा।

यहाँ नायिका के ललाट पर उभरी हुई श्रम-बिन्दुओं को देखकर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि इस चन्द्र पर पसीने की बूँदें ऐसी मालूम पड़ती हैं मानो चाँद पर कचपचियों (तारों का एक समूह जो एक ही जगह बहुत संख्या में निरंतर झिलमिलाता रहता है) ने अधिकार जमा लिया हो। यह हिन्दी साहित्य में पहली कल्पना है, अभूतपूर्व उत्प्रेक्षा है। मुसलमान ही नहीं, हिन्दी के किसी कवि ने अभी तक इस तरह की उत्प्रेक्षा नहीं लिखी। इसी तरह मंझन की शृंगारिक कल्पना देखिए—

जो है प्रानपति हिए सनचरी, कुच आदर कहँ उठ भई खड़ी।
दोऊ अरघ श्रीफल लेई, भीतर आनतर तानें दइ।
जीवहि प्रानपति की है छाई, कुच आदर उठि बाहर आई।

इसे सिर्फ कलाबाजी ही कहा जा सकता है। खेद है, मंझन ने सुन्दर उक्तियाँ बहुत कम ही कही हैं। अर्थालंकार से अधिक उन्हें शब्दालंकार से प्रेम मालूम पड़ता है और वह भी विशेषकर अनुप्रास से। उनके ऋतुवर्णन में अनुप्रासों का जमघट है। एक उदाहरण देखिए—

नवरत पाख कुआर जनावा, सबै संदेश समीर सुनावा।
सरद रैन ससि सीर अकासा, सब कहँ परब मोंहि बनबासा।

'मधुमालती' की भाषा अन्य प्रेमकथाकाव्यों की तरह अवधी है। मंझन ने तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत ही कम किया है। भाषा अवधी रखते हुए भी बुंदेलखंडी के प्रभाव से ये बच नहीं पाए जिसके

कारण इनकी रचना में 'स्थों' 'हते' आदि प्रयोग बहुधा खटकते हैं। कवि ने जबतब ऐसे विलक्षण शब्दों का प्रयोग किया है जो भाषा-विज्ञानियों को भी चक्कर में डालनेवाले हैं। मंझन की एक पंक्ति है—'पुनि सिरहन फिर आई तहाँ।' यहाँ पुनरुक्ति दोष तो है ही, साथ ही 'सिरहन' के अप्रचलितत्व से और भी गड़बड़ी आती है। बहुत मत्थापच्ची करने के बाद 'सिरहन' का अर्थ 'अप्सराएँ' लगता है। इसी तरह के दूसरे दूसरे शब्द भी मंझन ने प्रयोग किए हैं। 'मधुमालती' का छंद-विधान वही है जो 'मृगावती' का है—वही पाँच दोहों के बाद चौपाई रखने की परपरा, कोई नई बात नहीं।

(ग) उसमान

उसमान ने 'चित्रावली' की रचना काफी सम्हलकर की। जायसी के परवर्ती होने के कारण उनके गुण-दोषों को समझकर उन्होंने 'चित्रावली' को एक सरस-सुन्दर कलाकृति बनाने में कुछ भी उठा नहीं रखा। जायसी ने इतिहास के साथ कल्पना का बेमेल संबन्ध कर सूफी सिद्धान्तों के अन्योक्ति-रूप में विशृंखलता उत्पन्न कर दी थी जिसकी वजह से उनकी कहानी में वह असर नहीं है जो उसमान की कहानी में है। 'चित्रावली' के कथानक को चुनते हुए कवि इतिहास के फेर में नहीं पड़ा। जायसी की असफलता से लाभ उठाकर कवि ने अपनी कल्पना पर ही भरोसा रखना उचित समझा। उसमान को अपनी कहानी पर गर्व था। उन्होंने ' जाकी बुद्धि होइ अधिकाई, आन

'मैं एक कहीं बनाई' कहकर अपने 'कथा बनाने' की कला पर आत्मविश्वास प्रकट किया है और साथ ही अन्य कथाकारों को ललकारा भी है कि मेरी तरह सुन्दर काल्पनिक कहानी कोई बना तो दे! इनको अपनी कथा पर काफी नाज है। वे कहते हैं—

कथा एक मैं हिय उपाई, कहत मीठ औ सुनत सोहाई।
कहौं बनाई जस मोहिं सूझा, जेहि जस सूझ सो तैसे बूझा।

इस काल्पनिक कविता की रचना गाजीपुर में सन् १६१५ में हुई थी। हाजीबाबा के शिष्यत्व में उसमान ने काफी परिश्रम से इस ग्रंथ का प्रणयन किया था। जायसी की रचना के सिर्फ ७५ वर्ष बाद लिखी गई पुस्तक में 'पद्मावत' की छाप होगी, इसमें संदेह नहीं—'चित्रावली' की भाषा, शैली और इसका प्रबन्ध-कौशल 'पद्मावत' के साँचे में ही ढला है; किन्तु कहानी काफी पुष्ट है और रूपक का आरोप सुन्दर ढंग से हुआ है। पुस्तक के आदि में कवि ने मसनवी-शैली का पालन करते हुए ईश-स्तुति, पैगम्बर-स्तवन, जहाँगीर-यशगान, हाजीबाबा की प्रशंसा, गाजीपुर-वर्णन और अपना परिचय देते हुए पुस्तक का प्रारंभ किया है। लेकिन उसमान ने अन्य मसनवी कथाकारों की तरह अपनी वंश-परंपरा, गुरु-वंश-परंपरा, आदि का अनावश्यक विस्तार कर पाठक के धैर्य की परीक्षा लेने का दुस्साहस नहीं किया है।

उसमान की अपनी 'बनाई' हुई कथा का प्रारंभ नेपाल में होता है। नेपाल-सम्राट् धरनीधर निःसंतान है। वह तप करता है

करते हैं; पर बाद में पहचानकर राजी हो जाते हैं। सुजान वहीं रह जाता है। विरहिणी कँवलावती का हंस संदेश ले जाता है और राजा रूपनगर से चित्रावली को लेकर कँवलावती के पास पहुँचता है और फिर सभी के साथ अपनी राजधानी आता है। माता-पिता काफी प्रसन्न होते हैं और काफी दिनों तक दोनों रानियों-सहित सुजान राजसुखोपभोग करता है।

संक्षेप में 'चित्रावली' की यही कहानी है जिसके संबन्ध में उसमान का कहना है कि इसका आस्वादन बालक, युवा, वृद्ध, योगी और भोगी सभी कर सकते हैं। इस कहानी की रूपरेखा तो निश्चय ही कल्पित है; किन्तु वर्णनों को देखकर बरबस जायसी की याद आ जाती है। इसके नख-शिख, बारहमासा, नगर, तूफान, सरोवर आदि के वर्णन 'पद्मावत' के आधार पर किए गए मालूम पड़ते हैं।

'चित्रावली' का नायक शिव के आशीष से उत्पन्न हुआ है और वह जन्मजात योगी है। नायिका का नामकरण चित्रसारी के प्रसंग से किया गया जान पड़ता है। अन्य सूफी नायकों की तरह सुजान भी नायिका के जमाल का दर्शन कर, उसके नूर से सम्मोहित होकर बेहोश हो जाता है। सूफियों के यहाँ यह बेहोशी बड़ा महत्त्व रखती है। सुजान अपना चित्र बनाकर जब 'चित्रावली' के चित्र के पास रख देता है तो उसे नींद आ जाती है। यह नींद सूफियों के यहाँ माया के मद के रूप में आती है। इसके कारण साधक अधिक समय तक परमात्मचिंतन नहीं कर सकता। इसके संबन्ध में उसमान कहते हैं —

इहै नींद जासों धन खोवा, इहै नींद जो करै बिछोहा।
इहै नींद मगु चलै न देई, इहै नींद सरवस हरि लेई।
जो जग माँह नींद बस होई, रहै बीच मग सरवस खोई।
जे यहि नींद आपु बस कीन्हें, रहै नींद तोहि नौ निधि दीन्हें।

सुजान ने जो रूप देखा है उसका वर्णन करने में वह असमर्थ है। उसमान ने काफी सफलता के साथ उसके स्थूल चित्रदर्शन को सूक्ष्म परमात्म-दर्शन का रूप दिया है। अपने मित्र को सारी बातें बतलाते हुए सुजान कहता है—

कहा कहौं कछु कही न जाई, हिय सौंरत बुधि जाई हेराई।
कहत न बनै जो कछु मैं देखा, गूँग क सपन भयो मोर लेखा।
नाऊँ न जानौं पूछौं काही, पटतर नाहिं देखावौं जाही।
देस न जानौं केहि दिसि आही, पंथ न जानौं पूछौं काही।

चित्रावली के संबन्ध में कही गई बातें कितनी खूबी से अलक्ष सत्ता के साथ भी लागू होती हैं!—उसमान ने इसी तरह की बातें प्रायः सर्वत्र लिखी हैं। सुजान के लिए रूपनगर खुदा का शून्य लोक है—'लोचन अटकैं तहाँ पै, मन न सके तँह जाय।' वाणी और मन से भी अगोचर लोक में उसका आराध्य रहता है। उसने जो चित्र देखा था वह तो वस्तुतः उस आराध्य की छाया थी। योगी ने कुमार को समझाया कि तुमने चित्र को देखकर उसे ही चितेरा समझ लिया, यह तुम्हारी भूल है। चित्र के भीतर जो चित्रकार रहता है उसे निर्मल दृष्टि से ही देखा जा सकता है। वह इतना सूक्ष्म है कि सभी

की आँखें उसे नहीं पहिचान सकतीं। और यह निर्मल दृष्टि गुरु के अभाव में मिलना असंभव है; क्योंकि 'जाकहँ गुरु न पंथ देखावा सो अंधा चारिहुँ दिसि धावा।' जिस चित्र को तुमने देखा है वह तो सिर्फ माया है, उसको ध्यान में रखनेवाला 'मूरख सो जो चित्र मन लावै, सेमर सुआ जैस पछतावै।' इसके बाद चित्रावली और उसके चित्र की परस्पर तुलना करते हुए कवि चुपके-से जगत् और ब्रह्म, आत्मा और परमात्मा का रहस्य भी खोलता जाता है।—

चित्रहि कहाँ जोति छवि ओती, वह सजीव यह बिनु जिउ जोती।
चित्र अबोल होहि जनु गूँगा बोहिक बोल जस मानिक मूँगा।
चित्र कटाछ भाव बिनु नैना, बोहि क नैन सब मोहन सैना।

काहि लगावों उपम तेहि अच्छर पूज न छाँहि।
सुर नर मुनि जन पचि मरहिं, दरसन पावहिं नाहिं॥

सरोवर-वर्णन के प्रसंग में उसमान ने अध्यात्म का सुन्दर समावेश किया है। चित्रावली अपनी सखियों के साथ सरोवर में स्नान करने जाती है और यह कहकर छिप जाती है कि उसे जो ढूँढ़ लेगी उसकी विजय समझी जायगी। इस आँखमिचौनी को उसमान ने परमात्मा को लुका-छिपी समझा है और कहानी के कोमल स्थल पर उनका अध्यात्म शुरू हो जाता है। सखियाँ बहुत परिश्रम करती हैं, किन्तु चित्रावली मिलती नहीं। वे कहते हैं कि जो प्रकट कहकर भी छिपी रहती है, उसे गुप्त होने पर कैसे पाया जा सकता है? इतना ही नहीं,

चतुरानन पढ़ि चारौ वेदू रहा खोजि पर पाव न भेदू।
हम अंधो जेहि आपु न सूझा भेद तुम्हार कहाँ लौं बूझा।
कौन सो ठाऊँ जहाँ तुम नाहीं हम चख जोति न देखहिं काहीं।

पावै खोज तुम्हार सो जेहि दिखरावहु पंथ।
कहा होइ जोगी भए, औ बहु पढ़े गरंथ॥

इस तरह, जहाँ भी ऐसे प्रसंग आए हैं उसमान कहीं भी चूके नहीं हैं। सूफी प्रेम-काव्य में यही एक दोष है कि कथा के सरस प्रसंगों में जहाँ इतमिनान से डूबकर आराम के साथ उसका रसपान करने लगिए वहीं उनका अध्यात्म शुरू हो जाता है और सारा बना-बनाया बिगड़ जाता है। नतीजा यह होता है कि आगे बहुत पढ़ने के बाद कहीं फिर दिल जुटता है और सदा यही अंदेशा बना रहता है कि कहीं फिर न दर्शन आ जाय। एक बार छकने के बाद रसास्वादन में पाठक लगातार हिचकता जाता है।

चित्रावली के नखशिख-प्रसंग में उसमान काफी सतर्क हैं और यही सतर्कता उन्हें कवि नहीं बनने देती। यहाँ भी वे सूफी ज्यादा हैं, कवि कम। उनकी चित्रावली पार्थिव उपादनों के साथ रहकर भी अलौकिक शक्तियाँ रखती है। उसकी आँखें, उसकी नाक, उसके होठ—सभी के वर्णन में कवि परमात्मा के रूप का वर्णन करता जाता है। पग-पग पर वह हमें सावधान करता चलता है कि यह जो होठ है, यह जो नासिका है, यह जो आंख है—ये सब उसी को मिल सकते हैं जिसकी बुद्धि शुद्ध और निर्मल हो, साधना की आंच सह सकती

में कोई भेद नहीं मालूम पड़ता। इसके बाद का रास्ता जरा दुर्गम है—आगे वही बढ़ सकता है 'जाके संग कछु भार न होई।' यह अंतिम नगर रूपनगर है—यहीं यात्रा का अंत समझा जाता है। उसमान इस नगर के संबन्ध में कहते हैं—

हेरत तहाँ पंथ नहिं पावा, हेरन चहै जो आपु हेरावा।
पथिक तहाँ जो जाई भुलाना, बिमल पंथ तेहीं पहिचाना।
रूपनगर अति आह सुहावा, जेही भाग सो देखै पावा।
अतिहिं डेरावन अतिहिं सो ऊँचा, कोटि माँह कोउ एक पहूँचा।

यही देश योगियों का लक्ष्य है और संतों का भी। उसमान के ये चारों नगर सूफी साधना की चार अवस्थाएँ हैं। भोगपुर, गोरखपुर, प्रेमनगर और रूपनगर को हम क्रमशः शरीअत, तरीकत, मारफत और हकीकत मान सकते हैं। उसमान ने नगर-वर्णन में इन्हीं सूफी-साधना की अवस्थाओं का वर्णन किया है।

प्रेम का मार्ग सूफियों की दृष्टि में सदा भयावह रहा है। उसमान का नायक सदा यही खोजता है कि उसकी आँखों में प्रेम का अंजन लगा दिया जाय जिससे वह सारे विश्व में प्रियतम की परिछाहीं देख सके। यह प्रेम संसार की सभी वस्तुओं से श्रेष्ठ है। इसके सामने ज्ञान, ध्यान, जप, तप सभी तुच्छ हैं।

ज्ञान ध्यान मद्धिम सबै जप तप संयम नेम।
'मान' सो उत्तम जगत जन जो प्रतिपारै प्रेम॥

प्रेम होते ही विरह की पीड़ा से सामना होता है—सुख के दिन

कम दिन के होते हैं; आँख मिली और वियोग हुआ। यह वियोग साधारण लौकिक वियोग नहीं है। लौकिक वियोग में खीझ होती है, नायक पर क्रोध आता है, उपालंभ की भावना जगती है और विश्व की खुशियाँ बैरिन बन जाती हैं। आध्यात्मिक विरह की अनुभूति इतनी मधुर होती है कि उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसकी आँच का वही सह सकता है जिसके दिल में 'पीर' जग गई हो।

विरह दहनि कोई किमि कहै, रसना कहि जरि जाइ।
सोइ हिय माँहि सभाँरई, जेहि तन लागै आइ॥

अथवा,

विरह अगिन उर मँह बरै एहि तन जानै सोइ।
सुलगै काठ बिलूत ज्यों धुँआ न परगट होइ॥

प्रेम के क्षेत्र में भाव-गोपन का बड़ा महत्त्व है। वह प्रेम ही क्या जो खुल जाय! दिल की आग को चीरकर दिखला देना एक बात है, लेकिन उसे धीरे-धीरे सुलगता छोड़कर होठों पर ताला लगा देना दूसरी बात है। अव्यक्त प्रेम सर्वदा चोटी की चीज मानी जाती है, इसीलिए प्रेमी मोम की तरह घुल-घुलकर जीना, दीपक की तरह ढुल-ढुलकर जलना अधिक पसंद करता है। दुनिया को बिना बताए, चुपचाप अकेले ही टीस का रस लेने में जो आनंद है वह शायद विश्व के सुखों की समष्टि में दुर्लभ है—

मान जगत परगट जरै पावक विरह सरीर।
धन विरहिन औ धन हिया, गुपुत सहै जो पीर॥

उसमान का विचार है कि प्रेम के पौधे को बढ़ाने के लिए विरह के छींटे आवश्यक होते हैं। यदि उचित समय पर पौधे को पानी नहीं मिले तो वह सूख जायगा। विरह के अभाव में पौधे की गति कुंठित हो जाती है। प्रेम के दीप को उसकाने के लिए विरह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है—

प्रेम अँकुर जहाँ सिर काढ़ा, बिरह नीर सों छिन-छिन बाढ़ा।
प्रेम दीप जँह ज्योति दिखाई, बिरह देइ छिन-छिन उसकाई।

प्रेम के वर्णन में उसमान का स्थान मंझन से श्रेष्ठ है। विरह की सारी दशाएं उसमान में मिलती हैं और इसका कभी आभास भी नहीं मिलता कि कवि इस लोक को छोड़कर ऊपर उड़ रहा है, लेकिन तनिक सावधान होने पर कवि की चालाकी स्पष्ट नजर आने लगती है और ऐसा तब होता है जब कवि हमसे दूर हटकर खड़ा-खड़ा मुस्कुराता रहता है। मंझन की दुनिया में जीवन के सारे पहलू नहीं प्रकाश पा सकते, उसमान ने प्रेम-कहानी में लौकिक रीतियों और जीवन के मार्मिक अंगों के चित्रण-वर्णन से अपने को जानबूझकर दूर रखना पसंद नहीं किया। यहाँ वियोग में माँ-बाप रोते हैं, परिजन रोते हैं; कन्या के विदा के समय माँ सीख देती है जो बरबस कण्व ऋषि की याद दिला देती है। उसमान ने पुरुष और प्रिया के संसार के साथ-साथ जनगण-मन का भी ध्यान रखा है और इस प्रसंग में वे जायसी के निकट दिखलाई पड़ते हैं। उसमान के काव्य का संदेश वही है जो प्रत्येक सूफी संत का होता है, पर संदेश कहने के ढंग में जादू भरकर कवि ने उसे एक ऐसा रूप दिया है जिसे देखकर हमें ऐसा लगता है

जैसे वे कोई बिल्कुल नई चीज कह रहे हों। हाँ, छंद-विधान की दृष्टि से जायसी का ऋण उनपर साफ-साफ दीखता है। जायसी के पूर्ववर्ती कवियों ने पाँच चौपाइयों के बाद एक दोहे का क्रम रखा था; किन्तु जायसी ने सात चौपाइयों के बाद दोहे लिखने की जो परिपाटी चला दी थी उसी का अनुकरण बाद के कवियों ने किया और इस दृष्टि से उसमान की 'चित्रावली' अपवाद नहीं है। जायसी से बहुत-कुछ ग्रहण करते हुए भी 'चित्रावली' के प्रणेता ने कहीं-कहीं अपनी असाधारण मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। काव्य-कला की दृष्टि से इस ग्रंथ का भी आदर सूफी-साहित्य में कम नहीं। कवि की सूझ का परिचय एक ही उदाहरण से मिल जायगा। नखशिखवर्णन करते समय कटि-प्रदेश के पास पहुँचकर कवि ठिठक जाता है और कल्पना को कुरेदकर बोल उठता है—

सोभित किंकिनि निकट कटि 'मान' उपम जी आई।
हंस पाँति तज मानसर बैठे परवत जाई।

नायिका के उत्तुंग नितंब पर किंकिनि झूल रही है। पर्वत के शिखर का ध्यान कीजिए और उसको घेरकर बैठनेवाली हंसों की उजली पंक्ति का सौन्दर्य अनुभव कीजिए और तब उसमान की उपमा पर लोटपोट हो जाइए। ध्यान में रखना होगा कि नायिका के कटि-प्रदेश की रमणीयता से मुग्ध होकर इन हंसों ने मानसरोवर की सुषमा का परित्याग कर इस नवीन कैलास पर अपना बसेरा बनाया है।

खेद है, 'चित्रावली' में ऐसे प्रसंग कम ही आए हैं।

(घ) नूर मुहम्मद

'इन्द्रावती' का रचयिता एक तरुण कवि है। उसका लड़कपन अभी तक छूटा नहीं है—दिन-रात खेल-कूद में रहनेवाला लड़का 'पोथी कहना' क्या जाने ? कहीं विद्वान लोग उसकी ढिठाई देखकर नाक-भौं न सिकोड़ने लगें इसलिए उसने पुस्तकारंभ में ही काफी ईमानदारी के साथ अपना दैन्य प्रकट किया है। प्रौढ़ रचना के गुणों से वंचित रहते हुए भी 'इन्द्रावती' के पीछे एक उत्साही नवयुवक की प्रतिभा छिपी बैठी है जिसके कारण पाठक को सर्वदा स्फूर्ति और उमंग के दर्शन होते रहते हैं।

नूर मुहम्मद ने सं० १८०१ में सरहवद नामक गाँव में 'इन्द्रावती' को लिखना प्रारंभ किया। कवि ने उसमान की ही तरह अपनी वंशावली और गुरु-परंपरा का अनावश्यक वर्णन नहीं किया। उसमान ने काल्पनिक कहानी लेकर जिस खूबी के साथ अध्यात्म का समावेश किया था उससे संभवतः नूर मुहम्मद काफी प्रभावित हुए थे और यही देखकर उन्होंने भी काल्पनिक कहानी लेकर 'इन्द्रावती' की रचना की।

नूर मुहम्मद की कहानी का प्रारंभ कालिंजर में होता है। सम्राट् भूपति के पुत्र राजकुँअर की शादी एक परम सुंदरी राजकुमारी से हुई थी जिसके साथ राजकुमार का जीवन काफी आनन्दमय बीत रहा था। एक दिन स्वप्न में उसने एक परम लावण्यमयी स्त्री का दर्शन किया और उसके नाम-गोत्र से अपरिचित रहते हुए भी उसके अभाव

में दूसरे दिन से उसका मन राज्य के सारे भोग-विलासों से उचट गया। उसने खाना-पीना भी छोड़ दिया और सारे राज्य में चिंता का सागर उमड़ पड़ा। राजपरिवार की सारी चेष्टाएँ व्यर्थ हुईं। राजा की फुलवारी में एक मौनव्रती तपस्वी रहता था—हितचिंतक के साथ-साथ वह अच्छा भविष्यवक्ता भी था। रात्रि में राजकुँअर अपना हाल सुनाने उसे गया। तपस्वी ने उसे बताया कि आगमपुर देश के राजा जगपति की पुत्री इन्द्रावती (रतनजोत) के सौन्दर्य ने उसे बेसुध कर दिया है और उसकी अनुपस्थिति में सदा यही दशा बनी रहेगी। राजकुँअर ने सारे राजसी वस्त्र उतार डाले और योगी होकर घर से निकल पड़ा। आगमपुर के पास महादेव-स्तवन करने पर आकाशवाणी हुई कि रानी के बगीचे में इन्द्रावती का दर्शन होगा। मालिन से परिचय प्राप्त कर राजकुमार ने भेंट की व्यवस्था की। उसके प्रयत्न से राजकुमारी झरोखे पर आई और दर्पण में अपना मुँह देखने लगी। राजकुमार ने दर्पण देखा और इन्द्रावती के रूप की चकाचौंध में मूर्च्छित होगया। राजकुमारी के उपचारों से जब वह होश में नहीं आया तो एक पत्र छोड़कर वह लौट गई। चैतन्य होने पर मालिन द्वारा राजकुँअर ने भी एक पत्र भेजा और विरहयुक्त प्रत्युत्तर भी आया जिससे कुमार को कुछ सान्त्वना मिली।

राजा जगपति की यह इच्छा थी कि जो स्वयं समुद्र में प्रवेश कर मोती निकाल सकेगा उसी को इन्द्रावती मिलेगी। राजकुँअर इस गुरु-कार्य में प्रवृत्त होनेवाला था कि दुर्जन नामक एक व्यक्ति ने उसे आवागढ़ में बंदी कर लिया। एक तोते के द्वारा उसने इन्द्रावती के

पास अपनी दिल की कहानी कह भेजी। राजकुमारी ने यह सूचना दी कि यदि मेरे पिता का मित्र कृपाराय किसी तरह तुम्हारी मुसीवत का हाल सुन सके तो उसके प्रयत्न से छुटकारा आसान है। कृपाराय के पास दूत भेजा गया जिसने काफी मिन्नत के बाद उसे आवागढ़ पर आक्रमण करने के लिए राजी किया। इस आक्रमण में दुर्जन मारा गया और राजकुँअर बंदीगृह से मुक्त हुआ। बहुतेरी बाधाओं के पश्चात् राजकुमार को मोती निकालने की आज्ञा मिली। मोती निकालकर वह आगमपुर गया और वहीं इन्द्रावती से उसकी शादी हो गई।

नूर मुहम्मद ने कथा के आरंभ में ही कह दिया है कि इसकी रूपरेखा एक स्वप्न के आधार पर निर्मित है। कवि का यह स्वप्न कोलरिज के 'कुब्ला खाँ' की तरह नहीं है जो जागने के बाद विस्मृत हो जाय। नूर मुहम्मद ने इस काल्पनिक कहानी में काफी दूर का रूपक बाँधा है। कवि का यह हृदय ही वाटिका है जिसमें माली गुरु बनकर आता है और परमात्मदर्शन के व्यवधानों को दूर करने का प्रयत्न करता है। माली के प्रयत्न से दिल में ही आराध्य का दर्शन हो सकता है और देश-देशान्तर में भटकने से विश्राम मिल जाता है। कवि का नायक एक कट्टर साधक है जो कालिंजर-निवासी है। कालिंजर नाम ऐतिहासिक मालूम पड़ता है और यह इस बात का सूचक है कि कालिंजर का वातावरण पार्थिव है, लौकिक है, ...रिक है। इस तरह कालिंजर का कुमार लौकिक साधक हुआ। ...न का देश आगमपुर है—यह कबीर का 'बेहद' देश है जहाँ

पहुँचना मुश्किल है। नायिका को आगमपुर-निवासिनी बनाकर कवि ने आरंभ से ही अन्योक्ति को पुष्ट करने की चेष्टा की है। राजकुँअर का प्रेम स्वप्नदर्शन से जागृत होता है। उसमान के सुजान का चित्र दर्शन से उत्थित प्रेम नूर मुहम्मद के प्रेम से स्थूल है। आगमपुर का वर्णन करते हुए नूर मुहम्मद हमेशा 'कबिलास' (कैलाश) का वर्णन करते हैं। यही लोक उनका लक्ष्य है जिसमें उनकी अधिष्ठात्री देवी का मंदिर है।

का बरनो सुख मंदिर ठाऊँ, आठ सदन आठो कर नाऊँ।
तिन भीतर बइठइ जे कोई, ता कहँ भूख प्यास ना होई।
सुन्दर नारी रहँइ घनेरी, भई न कामिनि काहु अकेरी।
है आनंद नाम एक ज्ञानो ताकर सब मंदिर दरबानी।

इस आनंदधाम के भीतर प्रवेश करने पर योगियों के 'सहस्रार' का रस मिलने लगता है। इस मंदिर के तेरह दरवाजे हैं जिनमें नौ तो सदा खुले रहते हैं। यह आराध्य का मंदिर है। यहाँ बिरले साधक ही पहुँच पाते हैं। इन्द्रावती के निवासस्थान का वर्णन देखिए—

सात अंतर पट भीतर सोई, रिहत न देखत अंचिन्ह कोई।
बाहर मंदिर माँ वह प्यारी रहत सदा है सेज सँवारी।
हीरा सात सात जस तारे हैं मंदिर भीतर उजियारे।
दुइ सै औ अड़तालिस करी लागे रतन पदारथ भरी।
है मंदिर मो तेरह द्वारा नौ द्वारा नित रहत उघारा।

इस महल तक पहुँचने के लिए जितने संघर्ष करने पड़ते हैं उन

सबको राजकुँअर ने 'करतार-पंथ' का संकट कहा है। जो इस युद्ध में मरता है वह चिरंजीवी हो जाता है, अमर हो जाता है। इस पथ पर चलनेवाले की सहायता देवता भी करते हैं। संसार की सारी मंगलकामनाएँ उसके साथ रहती हैं। उसका क्षय भी अमर बलिदान ही माना जाता है।

जो करतार पंथ पर जूझा, ताकहँ चिरंजीत हम बूझा।
करता मगु पर जे रन लायेउ, ताहि सहाय गगन सौं आयउ।
करता की सेवा के बेरा होई जहाँ डर दुर्जन केरा।
सुमिरन सेवा आधे करहीं, आधे लोग सत्रु सँग लड़हीं।
धन्य जो सिरजनहार मगु, गहि कै राखेउ पाव।
पाव न टारा युद्ध सों आय उरद भो घाव।।

राजकुँअर की आकांक्षाएँ उस समय साधना के शीर्ष पर पहुँच जाती हैं जब वह अपना अस्तित्व मिटाकर इन्द्रावती के शृंगार का उपादान बनने की अभिलाषा करता है। प्रेम की गहराई में डूबा हुआ व्यक्ति विरह की आकुलता में यह भूल जाता है कि जब वह स्वयं अंजन बनकर प्रेमिका की आँखों में लग जायगा तो वह अपने पूर्ण व्यक्तित्व के साथ उसका दर्शन कैसे कर सकेगा; मोती बनकर उसके नाक में लग गया तो नायिका के सौन्दर्य का अमृत कैसे पान कर सकेगा? साहित्य में इस चेष्टा को 'हेत्वाभास' कहते हैं। कुँअर की अभिलाषा की गरिमा देखिए—

जावक होउँ होइ दुख मेटउ, तो वह चरनकमल कहँ भेंटउ।
कजल होइ नयन लगि रहऊँ होउँ पवन लट ऊपर बहऊँ।
होइ मोती बेसर महँ परऊँ, होई प्रतिबिम्बी छाया धरऊँ।

नूर मुहम्मद का 'सिरजनहार' उसमान, मंझन और जायसी के करतार से भिन्न नहीं है। इसमें भी वही शक्तियां, वही प्रभाव हैं। जायसी ने 'किन्हेसि' के प्रवाह में उसकी अलौकिकता का जो दृश्य दिखलाया है वह तो इन कवियों में नहीं है, लेकिन 'पद्मावत' के स्तुति-खंड में 'किन्हेसि किन्हेसि' की चोट से जो जी तिलमिला जाता है वह सब इन कवियों में नहीं होने पाया है। सूक्ष्मता की दृष्टि से नूर मुहम्मद का ब्रह्म परंपरागत सूफियों के ब्रह्म-जैसा ही है। वह अनंत है, अखंड है—सब-कुछ है। वह सिरजनहार अकेला रहता है और हमारे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सभी बातों को देखता-सुनता रहता है। उसी ने रवि, शशि, आकाश और मानव-लोक की सृष्टि की है। उसके जोड़ का कोई दूसरा नहीं है। वही बादलों के द्वारा हमें पानी भेजता है, पवन के द्वारा जीवन देता है। वह श्रोता भी है, द्रष्टा भी है,—'तेहि सम कोउ न आन।' इस ब्रह्म के संबन्ध में कवि कहता है—

आप गुपुत औ परगट आप आद औ अंत।
आप सुनै औ देखै कीन्ह मनुप बुधवंत॥

अथवा,

अलख अमूरत सिरजनहारा, मूरख जगत अलेख सँवारा।
तेहि छाजत सिरजै जस चाहै, दोऊ जग आपुहिं करताहै।

इस ब्रह्म को छोड़कर सारे ध्येय कंटकाणीर्ण हैं—पथभ्रष्ट करनेवाले हैं। कवि को किसी मार्ग की जरूरत नहीं है। वह एक भक्त की तरह यही प्रार्थना करता है कि अल्लाह अपनी राह दिखा दे

जिस पर एकाग्रचित्त होकर वह संसार के सभी भोगों को त्याग कर चल पड़े ।

है मगु वहुत जगत महँ, तिन मगु की नहिं चाव ।
आपन पंथ देखाअहु, राखौं तापर पाँव ॥

नूर मुहम्मद का राजकुँअर इसी प्रकार का साधक है। उसे वहुत पहले ही भगवान के जमाल की झलक मिली थी। वह झलक प्रत्यक्ष जीवन में इसलिए नहीं मिली की परमात्मा सूक्ष्म होने की वजह से पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर अपने बंदों को रूप नहीं दिखा सकता। इस्लामी-दर्शन में अल्लाह पृथ्वी पर किसी रूप में नहीं आ सकता। नूर मुहम्मद ने इन्द्रावती की सखियों द्वारा कही गई मधुकर और मालती की कहानी में साधक और साध्य की कहानी ही कहलाई है। इस कहानी में मधुकर (जीव) को सूक्ष्मरूप से परमात्मा के नूर का दर्शन होता है। साधक की साधना वढ़ती है और साधना के शीर्ष पर एक वार साध्य का दर्शन प्रकारान्तर से होता है। मालती (आराध्य) फुलवारी में सखियों के साथ आती है और दर्पण में अपना मुँह देखती है। मधुकर दर्पण देखकर बेहोश हो जाता है। कवि ने काफी सफलता के साथ ब्रह्म और उसके दर्पण जगत् का परिचय करा दिया है और यह भी वतला दिया है कि मंजिल के निकट पहुँचकर साधक सारे विश्व में अपने आराध्य का दर्शन करने लगता है। ब्रह्म के सर्वव्यापी रूप को देखकर मधुकर बेहोश हो जाता है; क्योंकि इस अलौकिक सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण करना साधारण हृदय का काम नहीं। यह बेहोशी सूफियों के यहाँ एक

आवश्यक चीज है। रतनसेन भी पद्मावती को देखकर बेहोश होता है, सुजान भी चित्रावली को देखकर अचेत हो जाता है और माधव भी कामकंदला को देखकर गिर पड़ता है। नूर मुहम्मद का कहना है कि इस समय तक जीव की साधना काफी ऊँची नहीं बढ़ी रहती, अतः यदि उसे मालती (परमात्मा) का साक्षात् दर्शन हो जाता तो शायद वह वहीं शांत हो जाता। इसीलिए मालती उसे दर्पण में अपना मुँह दिखलाती है।[१] इस अवसर का चित्र देखिए—

दरपन दीन्ह हाथ मँह लीन्हा, मालति वदन झरोखहिं कीन्हा।
झाँका दर्पन मों परछाहीं, परी वदन की बिछुरी नाहीं।
देखि वदन की छाया मधुकर भए अचेत।
मालति कली भँवर लखि विकसि रही संकेत॥

नूर मुहम्मद ने मालती और मधुकर की कहानी में ब्रह्म और जीव की कहानी कही है। स्पष्टतः यही राजकुँअर की साधना की भी कहानी है।

बहुत छोटी उम्र में ही 'इन्द्रावती' जैसी सुन्दर रचना प्रस्तुत करने के लिए नूर मुहम्मद प्रशंसा के अधिकारी हो जाते हैं। जायसी से बहुत-कुछ प्रभावित रहते हुए भी कल्पना की उड़ान में कवि पीछे नहीं पड़ता। यदि कुछ प्रौढ़ होकर 'इन्द्रावती' की रचना उसने

---

१. आईने में मुँह दिखलाने की यह बात संभवतः नूरमुहम्मद को जायसी से मिली थी जिसका उन्होंने नया मोड़ देकर 'इन्द्रावती' में समावेश किया है।—ले०

की होती तो जायसी के समकक्ष बनने में कवि को अधिक देर नहीं थी। कहीं-कहीं नूर मुहम्मद के भाव बड़े ही उच्च, भाषा बड़ी ही प्रांजल और कल्पना बड़ी ही मनोरम है। नख-शिख-वर्णन और विरह-खंड में कवि ने परंपरागत पद्धति का ही अनुसरण किया है। इसी तरह स्तुति, फुलवारी, स्नान और युद्ध आदि खंडों में भी पूर्ववर्ती कवियों की छाप स्पष्ट है। छंद-विधान की दृष्टि से जायसी के ये ऋणी नहीं हैं—इन्होंने पाँच चौपाइयों के बाद ही दोहे का क्रम रखा है। यह पद्धति जायसी के पहले प्रचलित थी और नूर-मुहम्मद ने उसी का पालन किया है। प्रेम का वर्णन करते समय कवि ने मनमोहक चित्र प्रस्तुत किए हैं। इन्द्रावती का सौन्दर्य देखकर राजकुँअर मूर्च्छित हो जाता है, इस प्रसंग में कवि के उद्गार देखिए—

हा हा सखिन कहा पछिताई, काहे तपी परा मुरझाई।
नहिं मुरछा मुख देखि सयाना, लट परतहिं मुख पर मुरछाना।
एक कहा लट सौं मुख सोभा होत अधिक लखि मुरछा लोभा।
एक कहा लट नागिनि कारी डसा गरल सौं गिरा भिखारी।
एक कहा लट जामिनी होई रात जानि जोगी गा सोई।

'इन्द्रावती' की भाषा ठेठ अवधी ही है जिसमें फारसी और संस्कृत के भी शब्द जहाँ-तहाँ मिले हुए हैं। कहीं-कहीं तो ये शब्द इतने भयावह लगते हैं कि काव्य की कोमल काया डरकर काँपने लगती है। ठेठ अवधी शब्दों के साथ जब वावेला, त्रिविष्टप, स्वान्त, वृन्दारक, स्तम्बेरम आदि शब्दों का सामना होता है तो ऐसा लगता है जैसे कोई ग्रामीण युवती किसी शहर के चिड़ियाखाने में जंगली

जानवरों से घिरकर चीख रही हो ! कहीं-कहीं 'इन्द्रावती' में भोजपुरी के प्रयोग भी मिलते हैं, जैसे, 'बहुत देवस को करत पयाना, एक समुद्र आईल नियराना ।' फिर भी नूर मुहम्मद की भाव-योजना काफी सुन्दर है । इनके वर्णन इतने स्वाभाविक हैं कि अनेक स्थलों पर प्रत्यक्ष-दर्शन का आनंद आता है । कहीं-कहीं इन्होंने कूट भी लिखे हैं और ध्यान से देखने पर पता चलता है कि ये काव्य के सभी अंगों के ज्ञाता थे । इतनी प्रतिभा रखते हुए भी कवि अपने को सदा बच्चा ही समझता है । उसे यह कहने का उचित हक है कि छोटी आयु में भी वह बड़ी बातें कह सकता है—

हौं अबही थोरे दिन केरा,
बात बहुत दिन कर मैं हेरा ।



कबीर और जायसी

कबीर का जो ऋण मुसलमानों पर होगा उसे जायसी ने उतार दिया। हिन्दू-जीवन की विशिष्टताओं को अपनाकर जायसी ने यह दिखला दिया कि जब एक हिन्दू मुसलमानों को शिष्यत्व प्रदान कर नाज रख सकता है तो एक मुसलमान भी उसकी भावनाओं की मूक प्रतिमा में चेतना फूँक कर फक्र कर सकता है। जायसी का यह गौरव तब तो और भी बढ़ जाता है जब हम देखते हैं कि रहस्य की उड़ान के साथ-साथ उन्होंने पृथ्वी का भी कम कल्याण नहीं किया है। कबीर का जीवन-ध्येय दोनों जातियों में प्रसरित वैषम्य को दूर करना था और लगभग यही उद्देश्य लेकर जायसी भी साहित्य के मैदान में उतरे; पर दोनों के पैंतरों ने यह दिखला दिया कि एक के तमाचे और दूसरे की पुचकार में कितना बल है। इन दोनों मुसलमानों के सामने हिन्दू-जीवन एक रहस्य बनकर उपस्थित हुआ था। कबीर उसकी भावनाओं से प्रत्याख्यान करते हुए भी काफी प्रभावित होते हैं, उसे अस्वीकार करते हुए भी ग्रहण करते हैं; जायसी कहीं-कहीं नहीं समझते हुए भी अपनाने की कोशिश करते हैं और इस्लाम के

प्रति पक्षपात रखते हुए भी हिन्दू-कहानी, चिंतन और भावना को प्रश्रय देते हैं।

इन दोनों संतों का आविर्भाव एक ही युग में हुआ था। एक ही परिस्थिति में दोनों पले और बढ़े। सामाजिक विषमता की चोट से दोनों एक ही तरह तिलमिलाए। जायसी के सौभाग्य से कबीर कुछ वर्षों पहले हुए और इसीलिए जितनी कठिनाई इस अग्रदूत को उठानी पड़ी उतनी शायद जायसी को नहीं। कबीर का जो कुछ है सब प्रकट है, स्पष्टतया व्यक्त है—इसीलिए उसपर चोटों के निशान हैं, धातु का खुरदुरापन है। जायसी का रास्ता बहुत-कुछ साफ कर दिया गया था—वे निर्गुणमार्ग पर एक मस्त गायक की तरह आते हैं—जो कुछ कहते हैं वीणा के परदों के भीतर छिपाकर कहते हैं, कुछ धूमिल धूमिल कहते हैं; इसलिए उनकी वाणी में कोमलता है, सौन्दर्य है। कबीर की ठोक-पीट यहाँ नहीं दिखलाई पड़ती। जायसी ने कबीर के ऋण को सहर्ष स्वीकार करते हुए अपनी उदारता का पूर्ण परिचय दिया है। वे कबीर को काफी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं और स्पष्ट कहते हैं कि वे उनसे पराजित हो गए हैं—एक जुलाहे से मैं हारा।' वस्तुतः हठयोग और अद्वैतवाद का जो प्रभाव जायसी पर है वह बहुत-कुछ कबीर से ही अनुप्रेरित माना जा सकता है।

दर्शन के क्षेत्र में दोनों अपना-अपना विशेष दृष्टिकोण रखते हैं। यह सत्य है कि दोनों का आराध्य एक ही है और वह निर्गुण, निराकार है; लेकिन निर्विशेष ब्रह्म के लिए जितनी सूक्ष्मता, अपेक्षित है उसके

विरहिणी है, जायसी की भी—दोनों चाखत हैं, दोनों तड़पते हैं। जीव विमुक्त होकर ब्रह्म से तद्रूप होने के लिए, उसमें तल्लीन होकर अखंड आनंदोपलब्धि के लिए छटपटाता रहता है। जायसी का रहस्यवाद तसव्वुफ से प्रभावित रहकर भी भारतीय गंभीरता लिए हुए है। फर्क इतना ही है कि कबीर ने भारतीय प्रेम-पद्धति को अपनाकर आत्मा को नारी माना है और स्त्रियोचित कोमलता के साथ उसे अभिसार के पथ पर आगे बढ़ाया है, लेकिन जायसी ने ईरानी प्रेम-भावना का सहारा लेकर आत्मा को पुरुष माना है और अभिसार के प्रसंग को हास्यास्पद बना दिया है। हाँ, साधानात्मक रहस्यवाद के सिलसिले में जायसी के साधक को हम पुरुष के रूप में देखकर प्रसन्न होते हैं। फिर भी कबीर की पंक्तियों में योग आदि की जितनी पुष्ट चर्चा है उतनी जायसी में नहीं। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि जायसी के पास कुछ सुनी-सुनाई बातें हैं और योग के कुछ चलते सस्ते शब्द हैं जिनका प्रयोग वे बराबर करते हैं। कबीर का योग इतना सस्ता नहीं है। योग के सिलसिले में कबीर ने जिस तरह की उलटबासियाँ बुझाई हैं उसी तरह जायसी ने अपनी सारी कथा को अन्योक्ति का रूप देकर 'बूझ सकै सो बूझनहारा' का चैलेंज दिया है।

रहस्यवाद के कोमल पहलू नारी-पुरुष-रतिभाव का उद्भाव दोनों के यहाँ एक ही स्रोत से हुआ है। उपनिषदों में नदी और सागर, दीपक और पतंग की मधुर रति का निर्देश अनेक स्थलों पर मिलता है। नदियाँ अपना नाम, रूप छोड़कर जिस प्रकार समुद्र में निमज्जित

अनुपात की दृष्टि से दोनों में भेद पड़ जाता है। कबीर का राम इतना सूक्ष्म है कि कबीर को उसके संबन्ध में कुछ कहने मात्र से तत्त्व के नष्ट होने की आशंका है—उस असीम के संबन्ध में जो कुछ भी कहा जायगा वह तो ससीम ही होगा और कबीर यह बर्दाश्त नहीं कर सकते कि उस सूक्ष्मतम सत्ता को किसी भी दृष्टि से तनिक भी सीमाबद्ध करके स्थूल बनाया जाय। कबीर जिस 'पानी ते पातला धूआंहू ते झीन' सांई की आराधना करते हैं वह शायद जायसी का अल्लाह नहीं है। जायसी ने भी अपने ब्रह्म को निर्गुण ही देखना पसंद किया है, लेकिन जिस ढंग से उन्होंने अपने चिंतन को अभिव्यक्त करने का मार्ग अपनाया है वह असीम ब्रह्म को साकार रूप में प्रकट कर देता है और जायसी का खुदा निर्गुण-साकार बनकर हमारे सामने चला आता है। स्थूल रूपक को लेकर चलने से यह खतरा अनिवार्य ही था और जायसी को कोई छोटी-मोटी कहानी लिखनी नहीं थी जिसमें सचेष्ट रहकर ब्रह्म की सूक्ष्मता का निदर्शन किया जा सके; पोथे का प्रणेता कबतक अपने को उस दलदल से बचाए रख सकता है?

इस ब्रह्म के साथ जीव का संबन्ध नदी और तरंग की तरह है, पावक और चिनगारी[1] की तरह है। कबीर की आत्मा भी

---

१ तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षराद्विविधाः सौम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥ मुण्डक २।१।१

विरहिणी है, जायसी की भी—दोनों चीरसी हैं—दोनों तड़पते हैं। जीव विमुक्त होकर ब्रह्म से तद्रूप होने के लिए, उसमें तल्लीन होकर अखंड आनंदोपलब्धि के लिए छटपटाता रहता है। जायसी का रहस्यवाद तसव्वुफ से प्रभावित रहकर भी भारतीय गंभीरता लिए हुए है। फर्क इतना ही है कि कबीर ने भारतीय प्रेम-पद्धति को अपनाकर आत्मा को नारी माना है और स्त्रियोचित कोमलता के साथ उसे अभिसार के पथ पर आगे बढ़ाया है, लेकिन जायसी ने ईरानी प्रेम-भावना का सहारा लेकर आत्मा को पुरुष माना है और अभिसार के प्रसंग को हास्यास्पद बना दिया है। हाँ, साधानात्मक रहस्यवाद के सिलसिले में जायसी के साधक को हम पुरुष के रूप में देखकर प्रसन्न होते हैं। फिर भी कबीर की पंक्तियों में योग आदि की जितनी पुष्ट चर्चा है उतनी जायसी में नहीं। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि जायसी के पास कुछ सुनी-सुनाई बातें हैं और योग के कुछ चलते सस्ते शब्द हैं जिनका प्रयोग वे बराबर करते हैं। कबीर का योग इतना सस्ता नहीं है। योग के सिलसिले में कबीर ने जिस तरह की उलटवासियाँ बुझाई हैं उसी तरह जायसी ने अपनी सारी कथा को अन्योक्ति का रूप देकर 'बूझ सकै सो बूझनहारा' का चैलेंज दिया है।

रहस्यवाद के कोमल पहलू नारी-पुरुष-रतिभाव का उद्भाव दोनों के यहाँ एक ही स्रोत से हुआ है। उपनिषदों में नदी और सागर, दीपक और पतंग की मधुर रति का निर्देश अनेक स्थलों पर मिलता है। नदियाँ अपना नाम, रूप छोड़कर जिस प्रकार समुद्र में निमज्जित

होती है उसी तरह प्राणियों को भी आराध्य के चरणों में अपने को समर्पित करने का आदेश उपनिषदों में काफी मिलता है। निम्नाङ्कित श्लोक से हम रतिभाव के उद्गम-स्थान का अनुमान कर सकते हैं।

यथा नदीनां वहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभितो ज्वलंति॥
यथा प्रदीप्त ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥

इसी वेदान्त रूप के आधार पर हिन्दी में दीप-पतंग और उर्दू में शमा-परवाना की कितनी अनोखी कल्पना की गई है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर प्रेमकाव्य की रचना हुई होगी। कबीर की विरहिणी प्रकृति में सर्वत्र अपने लाल की लाली देखती है और जायसी की आत्मा भी नूर का जमाल देखती है—दोनों उसकी ओर दौड़ती हैं, पतंगे की तरह, नदी की तरह। रहस्यवादी के प्रेमपथ की जितनी अवस्थाएँ होती हैं वे सारी अवस्थाएँ इन दोनों कवियों में पाई जाती हैं। जब प्रियतम आँखमिचौनी खेलता है तो कुछ क्षण के लिए तो साधक को आनंद आता है लेकिन तुरत ही उसे सर्वत्र निराशा ही निराशा दिखलाई पड़ती है। उसे ऐसा लगता है कि उस नूर के सिवा दूसरा कुछ भी सुन्दर नहीं है, सर्वत्र उदासी है, सब कुछ शून्यवत् है वह कह उठता है—

गुलिस्ताँ में जाकर हरेक गुल को देखा,
न तेरी सी रंगत न तेरी सी बू है।

की ऊँचाई-गहराई से विशेष मतलब नहीं रहता; और इस दृष्टि से एक ज्ञानी की साधना काफी विस्तृत मालूम पड़ती है जो अपने साथ सारे समाज या समग्र लोक को ऊपर उठाना चाहती है। सूफी काव्य की संकीर्णता उसकी प्रेम-भावना और योग-साधना से काफी प्रभावित हैं। प्रेम का क्षेत्र और वह भी इश्क-हकीकी का क्षेत्र कभी समूह का विषय नहीं बन सकता। इसके साथ योगादि की बातें भी व्यक्तिगत साधना की चीजें हैं। तो सामाजिक साधना की भूमि में कबीर आदि ज्ञानी संत आगे बढ़ जाते हैं। लेकिन सूफियों की यह संकीर्णता उनके प्रेम में जो एक स्थायित्व देती है वह ज्ञानियों को सुलभ नहीं। ज्ञानी का हृदय अनंत समुद्र की तरह उदार है अतः उसमें प्रेम की गंभीरता नहीं रहती। सूफी की संकीर्णता ही प्रेम के क्षेत्र में वरदान बन जाती है।

सूफी काव्य में साम्प्रदायिक बातों की अतिशयता देखकर अनेक विद्वानों ने जायसी आदि संतों को इसलाम का समर्थक मानना ज्यादा अच्छा समझा है। कबीर ने कम से कम कभी भी अपने को निछक्का मुसलमान सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया। जायसी की जबरदस्त वकालत करते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें मुसलमानियत की गंध नहीं है। 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' का पाठक कभी भी जायसी को मुसलमान छोड़कर कुछ दूसरा समझने का कष्ट नहीं उठा सकता। कहा जा सकता है कि हिन्दू संस्कृति में पलने के कारण कबीर को जितनी उदारता मिली थी और व्यापक दृष्टिकोण प्राप्त हुआ था उतना मुसलमानी तमद्दुन में पलनेवाले जायसी को नहीं

मिला। कबीर को स्पष्टतया गुरु रामानंद का समन्वयवादी विशाल हृदय मिला था जो सैय्यद असरफ या शेख मोहिदी के शिष्य को मिलना दुर्लभ था।

जीवन के प्रति जायसी का दृष्टिकोण बहुत विस्तृत था। कबीर का जीवन के विभिन्न अंगों पर विचार करने का अवकाश नहीं मिला। जायसी की इस विशेषता के लिए उनकी प्रबंधात्मकता को ही अधिक श्रेय दिया जा सकता है कबीर की मुक्तक पद-शैली इस काम के लिए पंगु थी। दूसरी बात यह कि कबीर को जितना बाहरी संघर्ष करना पड़ा था उतना यदि जायसी को भी करना पड़ता तो बहुत संभव था जायसी वही नहीं होते जो हो सके हैं। कबीर के युग ने उन्हें संत, कवि, सुधारक और सब कुछ बनने के लिए बाध्य किया। समाज सुधारक को तो कम-से-कम विचारों की बहुविधिता के लिए छूट मिलनी ही चाहिए।

कबीर के जन-आंदोलन ने साहित्य को एक नई दिशा की ओर मुड़ने के लिए बाध्य किया था। जन-साहित्य की सृष्टि करनेवाले कर्मठ ने जनभाषा को अपनाया था। कबीर का यह आंदोलन कितना सफल रहा यह उस युग में लहरानेवाले भक्ति के स्रोत से पूछने पर ठीक-ठीक पता चल जायगा। यदि मत-गणना का सिलसिला उस युग में रहता तो उसके आंकड़े आज स्वयं बोलते कि संतों की भाषा ने कितने लोगों को अपनी ओर मिला लिया था और संतों का कितना विशाल परिवार भारत में निवास करता था। सूफी संतों ने कबीर की इस सफलता से लाभ उठाया। इनकी भाषा भी लोक-भाषा ही है।

जनता के बीच प्रचलित कहानियों को सूफियों ने उन्हीं की बोली में सुना-सुनाकर अपने मत का प्रचार किया। कबीर-स्कूल के संतों की भाषा, कुछ अपवादों को छोड़कर, किसी स्थानविशेष का परिचय नहीं देती। समन्वय के इन पुजारियों ने भाषा के क्षेत्र में भी विचित्र समन्वय किया। सूफी काव्य में सभी जगहों की मिलीजुली भाषा का रूप नहीं मिलता। इन प्रेमगाथाकारों की एक ही साधना भूमि थी—अवध प्रांत। इस तपोभूमि में रहने के कारण सभी कवियों में अवधी का ही आग्रह दिखलाई पड़ता है; यहां तक कि पीछे चलकर अवधी भाषा का व्यवहार सूफी कविता के ट्रेड-मार्क के रूप में होने लगा। इसका एक बड़ा जबरदस्त कारण यह है कि ज्ञानमार्गी संतों को जितना पर्यटन करना पड़ता था उतना एकान्त साधनानिष्ठ सूफी संतों को नहीं, और एकदेशीय रहनेवाली प्रतिभा को दूसरे की जमीन से रोड़े-ढेले उठाने की तकलीफ नहीं करनी पड़ी त। उसकी स्वच्छता में दाग लगने का भी खतरा नहीं था।

संत साहित्य में जायसी और कबीर का व्यक्तित्व इतना प्रमुख है कि दोनों दो स्कूलों के प्रतीक के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। उनके पीछे दौड़नेवाले कवि उनके व्यक्तित्व से तनिक भी दूर नहीं हैं—जैसे वे उनकी छाया ही हों। अतः जायसी और कबीर के काव्य की तुलना के पीछे सारे ज्ञानमार्गी और सारे प्रेममार्गी कवियों की मीमांसा हो जाती है। कबीर का काव्य मुक्तक है, जायसी का प्रबंध—सारा ज्ञानमार्गी साहित्य ही मुक्तक में और सारा प्रेममार्गी साहित्य प्रबंध में। कबीर ने ठेठ भाषा को अपनाते हुए सरल शैली में अपने

सिद्धान्तों को प्रकट किया, जायसी ने भी ठेठ अवधी की प्रचलित शैली में अपनी बातें कहीं। कबीर के मुक्तक में दोहे, चौपाई, पद और रेख्ता के दर्शन होते हैं, जिनमें दोहे और पदों की संख्या काफी है। दोहे और चौपाई को साथ-साथ लिखना भी कबीर को खराब नहीं लगता था। जायसी ने अपनी सभी पुस्तकें दोहे-चौपाई में ही लिखीं। इस शैली को छोड़ और कोई दूसरी शैली जायसी की रचनाओं में नहीं दिखलाई पड़ती। कहना नहीं होगा सम्पूर्ण प्रेमकाव्य-परंपरा में इसका एक भी अपवाद नहीं मिलता।

कहा जाता है कबीर अशिक्षित थे और उनकी अपनी बातें भी सिद्ध करती हैं कि इन्होंने 'मसि कागद' छूने का कष्ट नहीं उठाया था। जायसी को उस दुर्भाग्य का सामना नहीं करना पड़ा था। यह ठीक है कि जायसी को आज की तरह किसी कॉलेज की उच्च शिक्षा नहीं मिली थी पर तसव्वुफ के तत्त्व-ज्ञान के लिए जितनी पर्याप्त शिक्षा की आवश्यकता होती है उतनी शिक्षा जायसी को अवश्य मिली होगी। आश्चर्य होता है कि बिना पढ़े लिखे भी कबीर ने साहित्य में जो स्थान बना लिया वह जायसी नहीं बना सके।

सूफी कविता का मुख्य काम निर्गुण ज्ञान-मार्ग की शुष्कता को धो-पोंछकर उसमें प्रेम का पुट देकर सरस बनाकर लोगों के आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु बनाना था। यह प्रयत्न व्यापक को विशिष्ट, निराकार को साकार और अचिंत्य को चिंत्य बनाकर; उसमें आकृति, प्रकृति, रूप, गुण, नाट्य, कवित्व और कला भरकर सुन्दर-से-सुन्दर रूप में लोगों के सामने प्रस्तुत करने का ही था। इस दृष्टि से यदि हम

कबीर के साहित्य को असीम समुद्र समझें तो जायसी के साहित्य को उस असीम सागर में प्रवेश करने योग्य एक सुन्दर सरिता समझ सकते हैं। यदि ज्ञानकाव्य दिगन्तव्यापी व्योम है तो प्रेमकाव्य उस विश्व-व्यापी आकाश में उड़ान लेनेवाला एक रमणीक व्योम-यान है। यदि संत-काव्य स्वयं परमेश्वर है तो सूफी काव्य विरहयुक्त प्रौढ़ और परिपक्व सुन्दरी जीवात्मा है जिसके माध्यम से उस अखंड सत्ता की हल्की-हल्की झांकी मिलती है। ज्ञान का पथ यदि सघन वन है तो प्रेम का पथ उसमें नर्तकी-सा नृत्य करते हुए मतवाले मयूर के समान है। संक्षेप में, कबीर की भावना यदि सर्वतोभावेन सूक्ष्म है तो जायसी की भावना उसी सूक्ष्म का स्थूल-रूप है। कबीर और जायसी दोनों अपने-अपने क्षेत्र के राजा हैं—उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है।

हिन्दी साहित्य को जायसी की देन

जायसी के पहले प्रेमगाथा की कोई व्यवस्थित परंपरा थी, यह कहना कठिन है। लोक-साहित्य में ऐसी कथाओं का अस्तित्व सहज विश्वास्य है, किन्तु साहित्यक रूप में उनका कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं। यों तो स्वयं जायसी ही अपने पहले की प्रचलित प्रेम गाथाओं का उल्लेख करते हैं किन्तु अद्यावधि उन गाथाओं की प्रामाणिक प्रतियाँ नहीं मिल पाई हैं। फलतः यह कहना कठिन है कि जायसी स्वयं किसी प्राचीन परंपरा से प्रत्यक्ष रूप से कहाँ तक प्रभावित हुए हैं।

इसके विपरीत हम देखते हैं कि जायसी के बहुत बाद तक भी प्रेमगाथा की यह परंपरा निरंतर चलती रही, यहाँ तक कि आधुनिक साहित्य में भी ढूँढ़नेवाले सूफियाना प्रेम का पता पा लेते हैं। यदि जायसी का रहस्यवाद प्रेमकाव्य परंपरा के बाहर अपना प्रभाव विस्तार नहीं कर पाया तो इससे उनकी महत्ता घटी नहीं, क्योंकि उनका

सर्वश्रेष्ठ कर्त्तृत्व यह है कि उन्होंने वर्णनात्मक काव्य का जो आदर्श रखा वह तुलसीदास जैसे महान व्यक्तित्वसम्पन्न संत के द्वारा भी अनुकृत हुआ। दूसरे सूफियों ने 'पद्मावत' को आदर्श मानकर प्रेमगाथाएँ लिखीं, यह तो एक प्रकार से साम्प्रदायिक अनुकरणमात्र है, और यह शायद ही जायसी की बहुत अधिक गौरववृद्धि करनेवाली बात हो लेकिन तुलसीदास ने जायसी के छंदविधान का अनुकरण किया यह निश्चय ही उनकी प्रभावशाली प्रतिभा का परिचायक है।

जायसी के 'पद्मावत' के बाद और निश्चय ही उससे प्रभावित होकर भारत के मुसलमान सूफी-संतों के द्वारा माधवानल-कामकंदला, चित्रावली, ज्ञानदीपक, हंस जवाहर, इन्द्रावती आदि प्रेमगाथाओं की रचना होती रही। क्या वर्ण्य-विषय, क्या रस, भाषा और छंद— सभी दृष्टियों से ये प्रेमकथाएँ 'पद्मावत' पर ही अवलंबित हैं। इन कथाकाव्यों को हम 'पद्मावत' की छाया कह सकते हैं। इन्हें देखने पर ऐसा लगता है जैसे ये कवि जायसी के 'पद्मावत' को सामने रखकर कविता लिख रहे हों और नायक-नायिका तथा स्थलविशेष का नाम-परिवर्तन करके हूबहू नकल कर रहे हों। निश्चय ही सभी की व्यक्तिगत प्रतिभा ने कुछ मनचाही बातें समाविष्ट की हैं, पर सम्पूर्णरूप से देखने पर जायसी का गहरा ऋण इन परवर्ती कवियों पर दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार इस कोटि की अन्य प्रेमगाथाओं में भी 'पद्मावत' का सफल या असफल अनुकरण ही हुआ है।

इस संबन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि मुसलमान सूफी संतों ने जहाँ 'पद्मावत' का आदर्श साम्प्रदायिक प्रेरणा और रहस्यवादी

अभिव्यंजना के लिए अपनाया वहीं कुछ हिन्दू कवियों ने उसके साहित्यिक ढांचे (लिटरेरी फौर्म) को अपनाया। ये हिन्दू कवि और सभी बातों में तो प्रेमकाव्य की परंपरा का अनुकरण करते हैं किन्तु उसके मुख्य उद्देश्य—सूफी सिद्धान्त निरूपण—का प्रयत्न नहीं करते जो मुसलमान कवियों का लक्ष्य था। हिन्दू कवियों द्वारा रचित प्रेमगाथाओं में 'आख्यायिका और उससे उत्पन्न मनोरंजन की भावना ही प्रधान है। हंसराज की 'ढोला मारवणी चौपही' काशीराम की 'कनकमंजरी', हर-सेवक की 'कामरूप की कथा' पुहकर की 'रस-रतन' आदि ऐसी प्रेमकथाएँ हैं जिनमें केवल कथा का कौतूहल है, किसी सिद्धान्त विशेष का प्रतिपादन नहीं, लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि इन प्रेमकथाओं का साहित्यिक रूप जायसी के प्रेमाख्यानों पर ही आधारित है अपने यहां के प्रचलित महाकाव्यों या खंडकाव्यों पर नहीं। इनमें कहानी का साँचा वही है, छंद का विधान वही है, सर्गों की जगह पर खंडों का नामकरण भी वैसा ही है। आध्यात्मिक रूपक को सन्निविष्ट नहीं करने की बात छोड़कर हिन्दू प्रेमकथाकारों ने सामान्यतः मुसलमान संतों के द्वारा तथा विशेषतः जायसी के द्वारा चलाई गई प्रेमकथा के आदर्शों का पूरा-पूरा पालन किया है, यद्यपि उनकी रचनाओं में कवित्व और घटना-वैचित्र्य की ही प्रधानता देखी जाती है।

जायसी ने प्रेम-परंपरा को वस्तुतः इतना प्रभावोत्पादक रूप दिया था कि बाद के कवि जायसी को छोड़ किसी दूसरे की ओर उन्मुख हो ही नहीं सकते थे। जिस प्रकार उनके 'पद्मावत' में समस्त कथा

चित्रावली, ज्ञानदीपक, हंस जवाहिर, इन्द्रावती आदि प्रेमकाव्यों की रचना होती रही। इनका कथा-शिल्प, रस-रंग, भाषा और छंद—सभी दृष्टियों से ये प्रेमकथाएँ 'पद्मावत' पर ही आधारित हैं। इन कथाकाव्यों को हम 'पद्मावत' की छाया कह सकते हैं। इन्हें देखने पर ऐसा लगता है जैसे ये कवि जायसी के 'पद्मावत' को सामने रखकर कविता लिख रहे हों और नायक-नायिका तथा स्थलविशेष का नाम-परिवर्तन करके हूबहू नकल कर रहे हों। निश्चय ही सभी की व्यक्तिगत प्रतिभा ने कुछ मनचाही बातें समाविष्ट की हैं, पर सम्पूर्णरूप से देखने पर जायसी का गहरा ऋण इन परवर्ती कवियों पर दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार इस कोटि की अन्य प्रेमगाथाओं में भी 'पद्मावत' का सफल या असफल अनुकरण ही हुआ है।

इस संबन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि मुसलमान सूफी संतों जहाँ 'पद्मावत' का आदर्श साम्प्रदायिक प्रेरणा और रहस्यव

अभिव्यंजना के लिए अपनाया वही कुछ हिन्दू कवियों ने उसके साहित्यिक ढाँचे (लिटरेरी फोर्म) को अपनाया। ये हिन्दू कवि और सभी बातों में तो प्रेमकाव्य की परंपरा का अनुकरण करते हैं किन्तु उसके मुख्य उद्देश्य—सूफी सिद्धान्त निरूपण—का प्रयत्न नहीं करते जो मुसलमान कवियों का लक्ष्य था। हिन्दू कवियों द्वारा रचित प्रेमगाथाओं में 'आख्यायिका और उससे उत्पन्न मनोरंजन की भावना ही प्रधान है। हंसराज की 'ढोला मारवणी चौपही' काशीराम की 'कनकमंजरी', हर-सेवक की 'कामरूप की कथा' पुष्कर की 'रस-रतन' आदि ऐसी प्रेमकथाएँ हैं जिनमें केवल कथा का कौतूहल है, किसी सिद्धान्त विशेष का प्रतिपादन नहीं, लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि इन प्रेमकथाओं का साहित्यिक रूप जायसी के प्रेमाख्यानों पर ही आधारित है अपने यहाँ के प्रचलित महाकाव्यों या खंडकाव्यों पर नहीं। इनमें कहानी का साँचा वही है, छंद का विधान वही है, सर्गों की जगह पर खंडों का नामकरण भी वैसा ही है। आध्यात्मिक रूपक को सन्निविष्ट नहीं करने की बात छोड़कर हिन्दू प्रेमकथाकारों ने सामान्यतः मुसलमान संतों के द्वारा तथा विशेषतः जायसी के द्वारा चलाई गई प्रेमकथा के आदर्शों का पूरा-पूरा पालन किया है, यद्यपि उनकी रचनाओं में कवित्व और घटना-वैचित्र्य की ही प्रधानता देखी जाती है।

जायसी ने प्रेम-परंपरा को वस्तुतः इतना प्रभावोत्पादक रूप दिया था कि बाद के कवि जायसी को छोड़ किसी दूसरे की ओर उन्मुख हो ही नहीं सकते थे। जिस प्रकार उनके 'पद्मावत' में समस्त कथा

सर्वश्रेष्ठ कर्तृत्व यह है कि उन्होंने वर्णनात्मक काव्य का जो आदर्श रखा वह तुलसीदास जैसे महान व्यक्तित्वसम्पन्न संत के द्वारा भी अनुकृत हुआ। दूसरे सूफियों ने 'पद्मावत' को आदर्श मानकर प्रेमगाथाएँ लिखीं, यह तो एक प्रकार से साम्प्रदायिक अनुकरणमात्र है, और यह शायद ही जायसी की बहुत अधिक गौरववृद्धि करनेवाली बात हो लेकिन तुलसीदास ने जायसी के छंदविधान का अनुकरण किया यह निश्चय ही उनकी प्रभावशाली प्रतिभा का परिचायक है।

जायसी के 'पद्मावत' के बाद और निश्चय ही उससे प्रभावित होकर भारत के मुसलमान सूफी-संतों के द्वारा माधवानल-कामकंदला, चित्रावली, ज्ञानदीपक, हंस जवाहर, इन्द्रावती आदि प्रेमगाथाओं की रचना होती रही। क्या वर्ण्य-विषय, क्या रस, भाषा और छंद—सभी दृष्टियों से ये प्रेमकथाएँ 'पद्मावत' पर ही अवलंबित हैं। इन कथाकाव्यों को हम 'पद्मावत' की छाया कह सकते हैं। इन्हें देखने पर ऐसा लगता है जैसे ये कवि जायसी के 'पद्मावत' को सामने रखकर कविता लिख रहे हों और नायक-नायिका तथा स्थलविशेष का नाम-परिवर्तन करके हूबहू नकल कर रहे हों। निश्चय ही सभी की व्यक्तिगत प्रतिभा ने कुछ मनचाही बातें समाविष्ट की हैं, पर सम्पूर्णरूप से देखने पर जायसी का गहरा ऋण इन परवर्ती कवियों पर दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार इस कोटि की अन्य प्रेमगाथाओं में भी 'पद्मावत' का सफल या असफल अनुकरण ही हुआ है।

इस संबन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि मुसलमान सूफी संतों ने जहाँ 'पद्मावत' का आदर्श साम्प्रदायिक प्रेरणा और रहस्यवादी

अभिव्यंजना के लिए अपनाया वही कुछ हिन्दू कवियों ने उसके साहित्यिक ढांचे (लिटरेरी फौर्म) को अपनाया। ये हिन्दू कवि और सभी बातों में तो प्रेमकाव्य की परंपरा का अनुकरण करते हैं किन्तु उसके मुख्य उद्देश्य—सूफी सिद्धान्त निरूपण—का प्रयत्न नहीं करते जो मुसलमान कवियों का लक्ष्य था। हिन्दू कवियों द्वारा रचित प्रेमगाथाओं में 'आख्यायिका और उससे उत्पन्न मनोरंजन की भावना ही प्रधान है। हंसराज की 'ढोला मारवणी चौपही' काशीराम की 'कनकमंजरी', हर-सेवक की 'कामरूप की कथा' पुष्कर की 'रस-रतन' आदि ऐसी प्रेमकथाएं हैं जिनमें केवल कथा का कौतूहल है, किसी सिद्धान्त विशेष का प्रतिपादन नहीं, लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि इन प्रेमकथाओं का साहित्यिक रूप जायसी के प्रेमाख्यानों पर ही आधारित है अपने यहां के प्रचलित महाकाव्यों या खंडकाव्यों पर नहीं। इनमें कहानी का सांचा वही है, छंद का विधान वही है, सर्गों की जगह पर खंडों का नामकरण भी वैसा ही है। आध्यात्मिक रूपक को सन्निविष्ट नहीं करने की बात छोड़कर हिन्दू प्रेमकथाकारों ने सामान्यतः मुसलमान संतों के द्वारा तथा विशेषतः जायसी के द्वारा चलाई गई प्रेमकथा के आदर्शों का पूरा-पूरा पालन किया है, यद्यपि उनकी रचनाओं में कवित्व और घटना-वैचित्र्य की ही प्रधानता देखी जाती है।

जायसी ने प्रेम-परंपरा को वस्तुतः इतना प्रभावोत्पादक रूप दिया था कि बाद के कवि जायसी को छोड़ किसी दूसरे की ओर उन्मुख हो ही नहीं सकते थे। जिस प्रकार उनके 'पद्मावत' में समस्त कथा

हिन्दू पात्रों के जीवन में घटित होती हैं, इतिहास और कल्पना का समन्वय किया गया है, शृंगार और उसमें भी वियोग शृंगार की प्रधानता रखी गई है, सरल तथा स्वाभाविक अवधी भाषा का, तथा दोहा-चौपाई छंदों का प्रयोग किया गया है, उसी प्रकार ये सारी विशेषताएँ दूसरे प्रेमाख्यानों में भी पाई जाती हैं। निस्सन्देह हिन्दी साहित्य को जायसी की यह बहुत बड़ी देन है।

इस परंपरा के बाहर भी जायसी ने हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया है। शुक्लजी का यह कहना ठीक ही है कि 'चरित-काव्य में अवधी भाषा को ही सफलता हुई है और अवधी भाषा के श्रेष्ठ रत्न हैं 'रामचरितमानस' और 'पद्मावत'। इस दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में हम जायसी के उच्चस्थान का अनुमान कर सकते हैं।' सत्यतः तुलसी के पूर्ववर्ती होने के नाते अवधी को चरितकाव्य का माध्यम बनाने के लिये जायसी को ही सर्वाधिक श्रेय मिलना चाहिए। तब इतना अवश्य ध्यान में रखना पड़ेगा कि हिन्दी प्रेमगाथाकार और तुलसीदास तत्सम-प्रधान अवधी भाषा का व्यवहार करते थे जबकि जायसी आदि मुसलमान सूफी संत संस्कृत से अपरिचित रहने के कारण लोक प्रचलित अवधी का ही प्रयोग करते थे जिसके फलस्वरूप उनकी भाषा में एक विलक्षण माधुर्य तथा जीवन-स्पंदन आ जाता है।

छंद-विधान में थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ जायसी की योजना को ही प्रेमाख्यान लेखकों ने तथा चरित-काव्य रचयिताओं ने भी अपनाया। मधुमालती तथा मृगावती में चौपाई की पाँच पंक्तियों के बाद एक दोहा है—जायसी ने 'पद्मावत' में पाँच की जगह सात

पंक्तियों के बाद दोहे का क्रम रखा। तुलसीदास ने सात के बदले आठ पंक्तियां रखीं। तुलसीदास संस्कृत भाषा और पिंगलशास्त्र के ज्ञाता थे अतः उन्होंने आठ पंक्तियाँ लिखकर वास्तव में चार चौपाइयों के बाद एक दोहा रखा है। यह काव्य की दृष्टि से सब प्रकार से युक्तिसंगत है। तुलसी ने जायसी की छंदयोजना तथा भाषा को शास्त्रीयता तथा गरिमा अवश्य प्रदान की और इन पर उनकी मौलिकता की छाप स्पष्ट ही है, किन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जायसी ने उनसे काफी पहले इस दिशा में बहुत कुछ किया था जिसके लिए उन्हें उचित श्रेय मिलना ही चाहिए।

जायसी ने परवर्ती हिन्दी साहित्य में फैलनेवाली प्रेम-भावना के विकास की भूमि भी तैयार कर रखी थी। यह सूफियों के इश्क का ही परिणाम था कि मीरा की आत्मा प्रेम की तरंगों में लहराकर गिरिवर लाल के सामने 'पग घूँघरू बाँध' कर नाच उठी थी। प्रेम की यह धारा सीताराम-संबन्धी कहानियों में नहीं उमड़ी—मर्यादा के कठोर नियंत्रण ने इश्क हक़ीकी को वहाँ प्रवेश की अनुमति नहीं दी। इसीसे सिर्फ राधा-काव्य में सूफी प्रेम की सरिता को छूट मिली और इश्क-हक़ीकी की गुंजाइश दिखलाई पड़ी। हिन्दी में केवल राधा-काव्य में ही वह लोच है जो सामान्य मानव-प्रेम से लेकर विशुद्ध अलौकिक प्रेम को अपनी सीमा में आबद्ध कर सकता है। राम-काव्य इस दृष्टि से काफी कड़ा है इसलिए वहाँ सूफी प्रेम-पद्धति की दाल नहीं गली।

राधाकृष्ण के प्रेम को लेकर काफी उच्छृंखलता दिखलाई गई है और मध्ययुग के कवियों ने तो उसका रूप ही बिगाड़ दिया था।

हिन्दू पात्रों के जीवन में घटित होती हैं, इतिहास और कल्पना का समन्वय किया गया है, शृंगार और उसमें भी वियोग शृंगार की प्रधानता रखी गई है, सरल तथा स्वाभाविक अवधी भाषा का, तथा दोहा-चौपाई छंदो का प्रयोग किया गया है, उसी प्रकार ये सारी विशेषताएँ दूसरे प्रेमाख्यानों में भी पाई जाती हैं। निस्सन्देह हिन्दी साहित्य को जायसी की यह बहुत बड़ी देन है।

इस परंपरा के बाहर भी जायसी ने हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया है। शुक्लजी का यह कहना ठीक ही है कि 'चरित-काव्य में अवधी भाषा को ही सफलता हुई है और अवधी भाषा के श्रेष्ठ रत्न हैं 'रामचरितमानस' और 'पद्मावत'। इस दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में हम जायसी के उच्चस्थान का अनुमान कर सकते हैं।' सत्यतः तुलसी के पूर्ववर्ती होने के नाते अवधी को चरितकाव्य का माध्यम बनाने के लिये जायसी को ही सर्वाधिक श्रेय मिलना चाहिए। तब इतना अवश्य ध्यान में रखना पड़ेगा कि हिन्दी प्रेमगाथाकार और तुलसीदास तत्सम-प्रधान अवधी भाषा का व्यवहार करते थे जबकि जायसी आदि मुसलमान सूफी संत संस्कृत से अपरिचित रहने के कारण लोक प्रचलित अवधी का ही प्रयोग करते थे जिसके फलस्वरूप उनकी भाषा में एक विलक्षण माधुर्य तथा जीवन-स्पंदन आ जाता है।

छंद-विधान में थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ जायसी की योजना को ही प्रेमाख्यान लेखकों ने तथा चरित-काव्य रचयिताओं ने भी अपनाया। मधुमालती तथा मृगावती में चौपाई की पाँच पंक्तियों के बाद एक दोहा है—जायसी ने 'पद्मावत' में पाँच की जगह सात

तपस्या करने लगा। वह एक साल वाद फिर अपने प्रियतम के दरवाजे के पास पहुँचा। खटखटाने पर फिर वही परिचित आवाज आई—'तू कौन है ?' इस वार साधक ने जवाव दिया—'तू है !' दरवाजा खुल गया और प्रेमी अपने प्रेमराज्य में पहुँचकर अपने प्रियतम में मिल गया। सूफीमत के अनुसार यह आत्मसमर्पण ही इश्क-हकीकी का सर्वश्रेष्ठ सोपान है। आशिक ही माशूक के रूप-गुण को प्रकृतितः लाभ करके स्वयं माशूक वन जाता है। हिन्दी साहित्य में इस पद्धति को देखकर हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए क्योंकि कृष्ण काव्य के पीछे सूफी काव्य की पृष्ठभूमि को शायद हम नहीं भूल सकेंगे। रसखान की राधा सांवरे के प्रेम में इतना विभोर हो उठी है कि वह अपनी स्त्रैणता छोड़कर पुरुष वनना चाहती है—वह 'मैं' से 'तू' वनना चाहती है। इसीलिए वह सिर के ऊपर मोरपंखी लगाती है, गले में गुंजों की माला पहनती है, गोपों और गौवों के संग वृंदावन में घूमती है। कृष्ण के प्रेम ने इतना मस्त वना दिया है कि कभी-कभी वह विलकुल ही भूल जाती है कि वह राधा है—वह अपने को कृष्ण मानकर 'राधा राधा' चिल्लाती हुई वन-वन राधा की तलाश में भटकती फिरती है। इस प्रेम के सामने लोकलाज की क्या चिंता। तल्लीन होते समय दुनिया के कानून कहाँ रह जाते हैं? इसीलिए रसखान की राधा ने एक सखी को एक वात वताई—

तेरी गलीन में जा दिन तें
निकसे मनमोहन गोधन गावत।
ये व्रज लोग सों कौन-सी वात,

जायसी के 'पद्मावत' की कहानी साधारण लौकिक कहानी है जिसे उन्होंने एक नया कलेवर देकर लोगों के सामने नई रंगीनी के साथ रखा। जायसी का यह आदर्श राधाकाव्य में काफी उत्साह के साथ स्वीकार किया गया। जिस राधा को विद्यापति और जयदेव ने काफी निम्न स्तर पर खड़ा कर दिया था उसके माधुर्य को अक्षुण्ण रखते हुए जायसी के परवर्ती कवियों ने उसे वेदान्त के ज्ञान-सोपान पर अधिष्ठित करने का प्रयत्न किया। जायसी की प्रतिभा से कायल होकर उनके पथदर्शन को वे अस्वीकार नहीं कर सके। फल यह हुआ कि राधा-चिंतन की एक नई रीति ही निकल आई। अब वह कृष्ण के लम्पट-व्यवहारों में शरीक होनेवाली परकीया ही नहीं रही उसे एक ठोस और गंभीर भूमिका भी दी गई। सूरदास की गोपिका और रसखान की राधा की इसी तरह उद्भावना हुई—ये व्रजबालाएँ चुलबुल भी हैं, गंभीर भी।

सूफी कविता में साधना का अंत आत्मनिमज्जन है, प्रिय और प्रिया का अभेदानुभव है। इसके लिए सबसे आवश्यक वस्तु है 'अहं' का लोप। इस अहंविमोचन के संबन्ध में मौलाना रूमी की एक कहानी हमेशा दुहराई जाती है। कहा जाता है कि एक प्रेमी अपने प्रेमपात्र के पास मिलने गया। दरवाजा बंद था। जब उसने दरवाजा खट-खटाया तो भीतर से किसी ने पूछा—'तू कौन है?' उत्तर मिला—'मैं हूँ, किवाड़ खोलो।' दरवाजा बंद का बंद रहा, खुला नहीं और निरंतर आवाज लगाने पर भी भीतर के जिज्ञासु ने फिर कुछ नहीं कहा, कोई उत्तर नहीं आया। प्रेमी साधक घोर जंगल में जाकर

तपस्या करने लगा। वह एक साल बाद फिर अपने प्रियतम के दरवाजे के पास पहुँचा। खटखटाने पर फिर वही परिचित आवाज आई—'तू कौन है ?' इस बार साधक ने जवाब दिया—'तू है !' दरवाजा खुल गया और प्रेमी अपने प्रेमराज्य में पहुँचकर अपने प्रियतम में मिल गया। सूफीमत के अनुसार यह आत्मसमर्पण ही इश्क-हकीकी का सर्वश्रेष्ठ सोपान है। आशिक ही माशूक के रूप-गुण को प्रकृतित: लाभ करके स्वयं माशूक बन जाता है। हिन्दी साहित्य में इस पद्धति को देखकर हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए क्योंकि कृष्ण काव्य के पीछे सूफी काव्य की पृष्ठभूमि को शायद हम नहीं भूल सकेंगे। रसखान की राधा सांवरे के प्रेम में इतना विभोर हो उठी है कि वह अपनी स्त्रैणता छोड़कर पुरुष बनना चाहती है—वह 'मैं' से 'तू' बनना चाहती है। इसीलिए वह सिर के ऊपर मोरपंखी लगाती है, गले में गुंजों की माला पहनती है, गोपों और गौवों के संग वृंदावन में घूमती है। कृष्ण के प्रेम ने इतना मस्त बना दिया है कि कभी-कभी वह बिल्कुल ही भूल जाती है कि वह राधा है—वह अपने को कृष्ण मानकर 'राधा राधा' चिल्लाती हुई बन-बन राधा की तलाश में भटकती फिरती है। इस प्रेम के सामने लोकलाज की क्या चिंता। तल्लीन होते समय दुनिया के कानून कहाँ रह जाते हैं? इसीलिए रसखान की राधा ने एक सखी को एक बात बताई—

तेरी गलीन में जा दिन तें
निकसे मनमोहन गोधन गावत।
ये ब्रज लोग सों कौन-सी बात,

चलाई कै जो नहिं नैन चलावत ॥
वै रसखानि जो रीझि हैं नेकु
तौ रीझि कै क्यों वनवारी रिझावत।
बावरी जो पै कलङ्क लग्यो तो,
निसङ्क ह्वै क्यों नहीं अंक लगावत ॥

प्रेम की तीव्रता में संसार की बहुत-सी रूढ़ियाँ बह जाती हैं। सूफी जब 'हाल' की अवस्था में पहुँचता है तो संसार की सारी चीजें एक ही रंग में रंगी दिखलाई पड़ती हैं—और वह रंग उसके लाल की लाली रहती है। आनंदघन की सुजान और सूरदास की राधा प्रेमातिरेक में सारे विश्व को साँवला ही देखती हैं और इस रंग को छोड़ दूसरा रंग उन्हें सूझता ही नहीं। 'बावरी वे अँखिया मरि जांय जो साँवरो छोड़ निहारत गोरो' का विश्वास लेकर बढ़नेवाली साधिकाएँ सूफियों के 'हाल' से काफी समीप की गली में हैं, इसमें सदेह नहीं।

इस प्रकार समग्र सगुण-साहित्य पर जायसी का प्रभाव भाव या भाषा शैली की दृष्टि से स्पष्ट हो जाता है। जायसी के व्यक्तित्व ने, इस प्रकार, अपने सम्प्रदाय में ही प्रतिष्ठा नहीं पाई थी अपितु आने वाली पीढ़ियों में भी अपना स्थान सुरक्षित कर रखा था।

आधुनिक युग में रहस्यवाद के पथ पर चलनेवाली एक ही साधिका हैं, महादेवी वर्मा। उनके रहस्यवाद में साधनात्मक पक्ष का अभाव है, भावात्मक पक्ष ही सब कुछ है। प्रेम की व्यंजना में निश्चय ही महादेवी का दर्शन अधिक सूक्ष्म है और शायद पुष्ट भी; किन्तु प्रतीक

की दृष्टि से महादेवी सूफियों के ऋण को अस्वीकार नहीं कर सकतीं। हिन्दी साहित्य में कभी भी शमा और परवाने के दृष्टान्त ने स्थान नहीं बनाया। इस पर सूफी-साहित्य का ही एकाधिपत्य है, यह उनकी वंशगत सम्पत्ति है। महादेवी की 'दीपशिखा' को ध्यान में रखते हुए उनके शलभ और दीपक के प्रतीकों पर विचार कीजिए और सूफियों की देन की गरिमा से भारावनत होकर मौन रह जाइए। दीपक की लौ पर टूटनेवाले दीवाने पतिंगों की कहानी यदि सूफी नहीं कह गए होते तो शायद आज 'दीपशिखा' को आधार नहीं मिलता और हिन्दी साहित्य एक अमूल्य निधि से वंचित रहता!

ये सारी बातें जायसी के काव्य से हिन्दी संसार को मिलीं। जायसी ने अपनी कला में वह जादू फूँक दिया जिसका असर आज भी नहीं गया है। आप जानते ही होंगे 'पद्मावत' के पीछे उस व्यक्तित्व की प्रतिभा छिपी हुई है जो महा-कुरूप था, बहरा था और जिसकी एक आँख भी गायब थी!

परिशिष्ट (क)

पारिभाषिक शब्दावली

[इस परिच्छेद में कुछ ऐसे शब्दों पर विशेष प्रकाश डाला गया है जिनकी विस्तृत विवेचना पुस्तक में सम्यक् रूप से संभव नहीं हो सकी है। योगमार्ग से दूर रहने के कारण साधारण विद्यार्थी को उस क्षेत्र के प्रायः सभी शब्द ही कठिन लगते हैं; पर चूँकि सामान्य शब्दों की विवेचना पिछले पृष्ठों में स्थान-स्थान पर हो चुकी है अतः यहाँ कुछ विशेष शब्दों पर ही विचार किया जा रहा है। इस प्रसंग में हठयोग तथा सूफ़ीदर्शन के प्रतीक ही मुख्यरूप से सामने लाए गए हैं।]

सुरति—इस शब्द के निश्चित अर्थ के पीछे काफी झमेला है। कोई इसे 'स्मृति'* का अपभ्रंश मानते हैं, कोई 'स्रोत' का; कोई

---

* 'अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ।'—पातञ्जलयोगदर्शन १।११

'स्वरति' (आत्मोन्मुख रति—अपने में लीन होने) के पक्ष में अपना मत देते हैं तो किसी के अनुसार 'सुरति' (श्रेष्ठ रति) अपने मूल रूप में शुद्ध ही दिखलाई पड़ती है। एक ने 'श्रुति' के पक्ष में भी अपनी राय दी है और इससे श्रवण (गुणश्रवण) का अर्थ ग्रहण किया है। भीखा को इस शब्द का मर्म बतलाते हुए पूर्ण आत्मविश्वास के साथ गुलाल साहब ने इसे 'मन' का पर्याय माना है—'भीखा, यही सुरति मन जानो, सत्य एक दूसर मति मानो।' राधास्वामी मतवालों ने इसे जीवात्मा के अर्थ में अंगीकार किया और कुछ लोगों ने प्रेम का पर्याय मानने में भी अपनी कल्पनाशक्ति को उन्मुक्त किया है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने 'सुरति' का अर्थ प्रेम और 'निरति' का वैराग्य माना है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'सुरति' को अन्तर्मुखी वृति के रूप में तथा 'निरति' को वहिर्मुखी वृत्ति के रूप में स्वीकार किया है।

'सुरति' शब्द में मुख्य 'रति' है जिसका अर्थ है प्रेम जो प्रवृत्ति-मूलक है। यह प्रेम अंतःकरण में तबतक उद्दीप्त नहीं होता जबतक हममें यह चेतना नहीं जगती है कि बाहर कोई ब्रह्म नहीं है, हम ही ब्रह्म हैं। सुरति से आत्मा के अंधकार का नाश हो जाता है और उसकी विलुप्त स्मरणशक्ति पुनः लौट आती है जिससे वह अपनी याद को ताजा कर मूलरूप में अपने को पहिचानने में समर्थ बनती है। इस ईश्वरीय स्मृति के पुनर्जागरण से रहस्यमयी सत्ता का एक झीना आभास प्राप्त होने लगता है और आत्मा आनंदातिरेक में फूल उठती है, नाच उठती है। वर्डस्वर्थ ने 'इन्टिमेशन्स ऑव

इमोर्टेलिटी' नामक कविता में इसी ईश्वरीय स्मृति[1] की चर्चा की है। अतः 'सुरति' को स्मृति का पर्याय भी माना जा सकता है। कबीर ने इस स्मृति का सुमिरन[2] (नामजप) के अर्थ में अनेक स्थलों पर व्यवहार किया है। दादू ने तो स्पष्टतः स्मृति अर्थ स्वीकार करते हुए कहा है कि सुरति को परिवर्तित करके उसे आत्मा के साथ मिला दो[3]। लेकिन, दरियासाहब, फूलदास तथा कबीरदास ने भी कुछ स्थलों पर 'सुरति' को जीवात्मा के रूप में स्वीकार कर उसके त्रिकुटि (गुप्तकाशी) सैर आदि का सविस्तार वर्णन उपस्थित किया है जिससे 'स्मृति' अर्थ को सदा स्वीकार करने में बाधा पड़ती है।

---

१. Our birth is but a sleep and forgetting;
The soul that rises with us, our life's star,
Hath had elsewhere its setting,
And cometh from afar;
Not in entire forgetfulness,
And not in utter nakedness
But trailing clouds of glory do we come
From God who in our home.
Heaven lies about us in our infancy!
—Wordsworth.

२ सुमिरन सुरत लगाइ के मुख तें कछू न बोल,
बाहर के पट देइ के अंतर के पट खोल।—कबीर

३. सुरत अपूठी फेरि करि आतम माँहे आणि।—दादू

निरति—सुरति (ईश्वरीय स्मृति) को जाग्रत् करने के निमित्त, बड़थ्वाल के अनुसार, सांसारिक प्रलोभनों के फंदे से दूर रहना ही श्रेयस्कर समझा गया है। मन को सांसारिक चकमक से बिल्कुल खींचकर, उसकी चंचलता पर अंकुश डालकर, आत्मलीन करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। यदि ऐसा नहीं किया जा सका तो एकाग्रचित्त होकर मन ईश्वरीयस्मृति में मग्न नहीं हो सकेगा। अतः सांसारिक प्रलोभनों से निवृत्ति बिल्कुल जरूरी चीज है। इस प्रकार अनेक चिंतकों के अनुसार यह 'सुरति' स्थिति की पूर्व अवस्था ठहरती है। बड़थ्वालजी ने इस क्रम को विपरीत स्थिति में एक स्थान पर स्वीकार किया है। उनके अनुसार सुरति (सुष्ठु रति) के पथ पर अग्रसर होती हुई जीवात्मा जब परमात्मा से तदाकार-सम्बन्ध स्थापित करने की स्थिति में आती है तब निरति (निरतिशय रति) की स्थिति आ जाती है। निरति, इस प्रकार सुरति की परिणति अवस्था है और वह आत्मा के ब्रह्ममय होने की तद्रूपावस्था का सूचक है।[४]

'सुरति' 'निरति' को विभिन्न पहलुओं से विचार करने के बाद भी यह स्पष्ट नहीं होता कि कबीर आदि संतों ने उसका सर्वाधिक प्रयोग किस अर्थ में किया था। कबीर ने कुछ स्थलों पर 'सुरति' का प्रयोग स्मृति[५] शब्द के साथ किया है। अतः यदि सुरति का अर्थ

---

४. *सुरति समानी निरति में अजपा माहीं जाप।*
लेख समाना अलख में आपा माँही आप ॥—कबीर

५. *'सुरति सुमृति दुई खूँटी कीन्हीं आरंभ किया बंमेकी।'*

स्मृति लिया जाय तो अर्थ में विशृंखलता आ जाती है। इसी तरह मन[६] के साथ भी 'सुरति' शब्द का व्यवहार इकट्ठे मिलता है जिससे यह स्पष्ट नहीं होता कि 'सुरति' मन का पर्याय है। ध्यान से देखने पर रति (प्रेम [७]) से संबन्धित भी यह नहीं दिखलाई पड़ता; क्योंकि (देखिए नीचे फुटनोट) यदि 'सुरति' ही प्रेम है तो कमलकुँआ में बैठकर फिर दुबारे प्रेम का रस पीना कैसा ? अतः 'सुरति' प्रेम से भी अलग चीज मालूम पड़ती है।

हमारे विचार से सुरति-निरति आत्मा के ही दो परस्पर विभिन्न रूप माने जा सकते हैं। कठोपनिषद् में शरीर में स्थित आत्मा के दो रूप माने गए हैं जो हृदय-गह्वर में सत्य का पान करते हुए एक साथ रहकर भी आतप और छाया की तरह परस्पर भिन्न हैं।[८]

---

६. *सुरति ढेकुली लेज लेनु मन नित ढोलनहार।*
कमल कुँआ में प्रेम[७] रस पीवै बारम्बार॥

८. *ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।*
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पंचाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥

—कठ० १।३।१.

(शुभकर्मों के फलस्वरूप मानव-शरीर में परब्रह्म के उत्तम स्थान (हृदय) में सत्य का पान करनेवाले दो तत्त्व बुद्धिरूपी गुफा में छिपे रहते हैं। ये साथ-साथ रहते हुए भी छाया और आतप के समान परस्पर भिन्न हैं।)—यहाँ आत्मा के दो रूप—साध्य और साधक के अर्थ में ध्वनित किए गए हैं।

मुण्डकोपनिषद् में 'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते'[९] कहकर एक ही वृक्ष (शरीर) का आश्रय लेकर रहनेवाले दो पक्षियों (जीवात्मा) का वर्णन मिलता है जिन्हें जीव और ब्रह्म मान लेने की भ्रांति बहुतों को हो जाती है। इन दो पक्षियों (दो रूप की आत्माओं) में एक तो फल का समुचित उपभोग करता है और दूसरा तटस्थ रहता है। शरीर के भीतर दो प्रकार की आत्मा रहती है—एक वह जो संसार का उपभोग करती है और दूसरी वह जो उससे नितान्त उदासीन[१०] रहा करती है। जो संसार का उपभोग करती है वह आत्मा जगत् में पूर्णरूपेण रत (सुरत) है और जो संसार से उदासीन एवं तटस्थ है, एकदम निर्लिप्त (निरत) है। इन संसार से आसक्त और निरासक्त आत्माओं के दो रूपों के अर्थ में हम सुरति तथा निरति शब्दों को स्वीकार कर सकते हैं। कबीर कहते हैं—

सुरति समानी निरति में निरति भई निरधार।
सुरति निरति परचा भया तब खूले संभ दुआर॥

यहाँ सुरति (संसार में आसक्त आत्मा) निरति (साध्य आत्मा) में लीन हो गई है। हमारा अन्तःकरण जैसा कि सभी जानते हैं, दैवी वृत्तियों एवं दानवी वृत्तियों की समष्टि है। इसमें दैवी हमें संसार से अलग अलौकिक मार्गों पर ले चलने की प्रेरणा देती है और दानवी हमें माया में फँसाकर पथभ्रष्ट करती है। जब दानवी

---

९. *मुण्डोपनिषद् ३।१।१०*

१०. *'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।'*
—मुण्डक० ३।१।२

स्मृति लिया जाय तो अर्थ में विश्रृंखलता आ जाती है। इसी तरह मन[६] के साथ भी 'सुरति' शब्द का व्यवहार इक्ट्ठे मिलता है जिससे यह स्पष्ट नहीं होता कि 'सुरति' मन का पर्याय है। ध्यान से देखने पर रति (प्रेम [७]) से संबन्धित भी यह नहीं दिखलाई पड़ता; क्योंकि (देखिए नीचे फुटनोट) यदि 'सुरति' ही प्रेम है तो कमलकुँआ में बैठकर फिर दुबारे प्रेम का रस पीना कैसा ? अतः 'सुरति' प्रेम से भी अलग चीज मालूम पड़ती है।

हमारे विचार से सुरति-निरति आत्मा के ही दो परस्पर विभिन्न रूप माने जा सकते हैं। कठोपनिषद् में शरीर में स्थित आत्मा के दो रूप माने गए हैं जो हृदय-गह्वर में सत्य का पान करते हुए एक साथ रहकर भी आतप और छाया की तरह परस्पर भिन्न हैं।[८]

---

६. *सुरति ढेकुली लेज लेनु मन नित ढोलनहार।*
कमल कुँआ में प्रेम[७] रस पीवै बारम्बार॥

८. *ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।*
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पंचाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥
—कठ० १।३।१.

(शुभकर्मों के फलस्वरूप मानव-शरीर में परब्रह्म के उत्तम स्थान (हृदय) में सत्य का पान करनेवाले दो तत्त्व बुद्धिरूपी गुफा में छिपे रहते हैं। ये साथ-साथ रहते हुए भी छाया और आतप के समान परस्पर भिन्न हैं।)—यहाँ आत्मा के दो रूप—साध्य और साधक के अर्थ में ध्वनित किए गए हैं।

मुण्डकोपनिपद् में 'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिपस्वजाते'[९] कहकर एक ही वृक्ष (शरीर) का आश्रय लेकर रहनेवाले दो पक्षियों (जीवात्मा) का वर्णन मिलता है जिन्हें जीव और ब्रह्म मान लेने की भ्रांति बहुतों को हो जाती है। इन दो पक्षियों (दो रूप की आत्माओं) में एक तो फल का समुचित उपभोग करता है और दूसरा तटस्थ रहता है। शरीर के भीतर दो प्रकार की आत्मा रहती है—एक वह जो संसार का उपभोग करती है और दूसरी वह जो उससे नितान्त उदासीन[१०] रहा करती है। जो संसार का उपभोग करती है वह आत्मा जगत् में पूर्णरूपेण रत (सुरत) है और जो संसार से उदासीन एवं तटस्थ है, एकदम निर्लिप्त (निरत) है। इन संसार से आसक्त और निरासक्त आत्माओं के दो रूपों के अर्थ में हम सुरति तथा निरति शब्दों को स्वीकार कर सकते हैं। कबीर कहते हैं—

सुरति समानी निरति में निरति भई निरधार।
सुरति निरति परचा भया तब खूले संभ दुआर॥

यहाँ सुरति (संसार में आसक्त आत्मा) निरति (साध्य आत्मा) में लीन हो गई है। हमारा अन्तःकरण जैसा कि सभी जानते हैं, दैवी वृतियों एवं दानवी वृतियों की समष्टि है। इसमें दैवी हमें संसार से अलग अलौकिक मार्गों पर ले चलने की प्रेरणा देती है और दानवी हमें माया में फँसाकर पथभ्रष्ट करती है। जब दानवी

९. मुण्डोपनिपद् ३।१।१०

१०. *'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।'*

—मुण्डक० ३।१।२

न संयत एवं शुद्ध होकर दैवी बन जाती है तब आत्मा निष्कलुष कर परमात्मा में लीन होने के लिए सँवर जाती है। यहां कबीर इन्हीं दो वृत्तियों की सहायता से आत्मा के दो रूपों को स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि एक आत्मा हमें माया में फँसाकर लौकिक उपादानों की ओर प्रेरित करती है और दूसरी आत्मा जो संसार से तटस्थ ब्रह्मस्वरूपिणी है, (क्योंकि आत्मा जब परमात्मा का अंश है तब उसका अंशरूप तो कहीं-न-कहीं स्वीकार करना ही पड़ेगा; नहीं तो 'घट घट में वह साँइ रमता' कैसे कहा जा सकेगा।) हमें सात्विक साधनों द्वारा सूक्ष्ममार्ग पर लाना चाहती है। जब सुरत (संसार में लीन) आत्मा और निरत (संसार से तटस्थ, ब्रह्मस्वरूप) आत्मा में अभेद हो जाता है तब पूर्णरूपेण अखंड आनंद की उपलब्धि होती है।

किन्तु, इतने विवेचन से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि कबीर ने सदा इसी अर्थ में इन शब्दों का व्यवहार किया है। ये शब्द सचमुच अजीब हैं। संतों ने जहाँ और जब जिस अर्थ की माँग की है उसकी पूर्ति इनके द्वारा हो गई है। कहीं कबीर ने सुरति से 'नृत्य' का अर्थ लिया है तो कहीं 'समाधि' का, कहीं 'सुमिरन' का तो कहीं 'मन' का; कहीं वह 'प्रेम' बन गया है और कहीं राग भी। ऊपर की विवेचना में दिया गया नूतन दृष्टिकोण जो उनके अधिकांश पदों को ध्यान में रखकर सामने रखा गया है, हमारे अनुसार अधिक समीचीन है।

अजपा जाप—नाम सुमिरन में विश्वास करनेवाले कबीर

भावावेश में कह उठते हैं—'निरगुण राम जपो रे भाई।' सोचने की बात है कि जब ब्रह्म 'रूपरेखनामगुनहीना' निर्गुण है तब फिर उसे जपा कैसे जाय, सुमिरन के लिए किस नाम की आवृत्ति की जाय।[१२] सगुण भक्तिमार्ग में 'सीताराम' तथा 'राधाश्याम' या 'नमः शिवाय' का सुमिरन आसान है; क्योंकि इनके पीछे एक निश्चित रूपादि की कल्पना है, अतः बाह्य जाप का यहाँ बहुत महत्त्व है। निर्गुण भक्तिधारा में अशरीरी अनाम ब्रह्म का जप बहिर्मुख होना मुश्किल है; क्योंकि जब उसे अनाम-अरूप मान लिया तब बोल-बोलकर क्या कहा जायगा ? अतः यहाँ जप बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख हो जाता है।[१३] 'अजपा जाप' शब्द से ही बोध होता है—'बिना जपे हुए जाप' करने की क्रिया। ऐसे जाप में माला की आवश्यकता नहीं पड़ती; क्योंकि वह बाहरी उपादान है।[१४] साधक बाह्य उपकरणों

---

१२ पतंजलि ने ब्रह्म को निर्गुण मानते हुए भी 'ॐकार' उसका वाचक माना है और उसी का जाप करते हुए परमेश्वर का सूक्ष्म चिंतन करने का आदेश दिया है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।
तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्, पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात।
तस्य वाचकः प्रणवः, तज्जपस्तदर्थभावनम्।—योगदर्शन १।२४-२८

१३ मन पवन अस्त सुरति कौं आतम पकड़े आप।
'रज्जब' लावै तत्त सों योंही अजपा जाप॥

१४ कबिरा माला काठ की बहुत जतन का फेर।
माला स्वांस उसाँस की जामे गाँठ न मेर॥

वृत्ति संयत एवं शुद्ध होकर दैवी बन जाती है तब आत्मा निष्कलुष होकर परमात्मा में लीन होने के लिए सँवर जाती है। यहाँ कबीर ने इन्हीं दो वृत्तियों की सहायता से आत्मा के दो रूपों को स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि एक आत्मा हमें माया में फँसाकर लौकिक उपादानों की ओर प्रेरित करती है और दूसरी आत्मा जो संसार से तटस्थ ब्रह्मस्वरूपिणी है, (क्योंकि आत्मा जब परमात्मा का अंश है तब उसका अंशरूप तो कहीं-न-कहीं स्वीकार करना ही पड़ेगा; नहीं तो 'घट घट में वह साँइ रमता' कैसे कहा जा सकेगा।) हमें सात्विक साधनों द्वारा सूक्ष्ममार्ग पर लाना चाहती है। जब सुरत (संसार में लीन) आत्मा और निरत (संसार से तटस्थ, ब्रह्मस्वरूप) आत्मा में अभेद हो जाता है तब पूर्णरूपेण अखंड आनंद की उपलब्धि होती है।

किन्तु, इतने विवेचन से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि कबीर ने सदा इसी अर्थ में इन शब्दों का व्यवहार किया है। ये शब्द सचमुच अजीब हैं। संतों ने जहाँ और जब जिस अर्थ की माँग की है उसकी पूर्ति इनके द्वारा हो गई है। कहीं कबीर ने सुरति से 'नृत्य' का अर्थ लिया है तो कहीं 'समाधि' का, कहीं 'सुमिरन' का तो कहीं 'मन' का; कहीं वह 'प्रेम' बन गया है और कहीं राग भी। ऊपर की विवेचना में दिया गया नूतन दृष्टिकोण जो उनके अधिकांश पदों को ध्यान में रखकर सामने रखा गया है, हमारे अनुसार अधिक समीचीन है।

अजपा जाप—नाम सुमिरन में विश्वास करनेवाले कबीर

भावावेश में कह उठते हैं—'निरगुण राम जपो रे भाई।' सोचने की बात है कि जब ब्रह्म 'रूपरेखनामगुनहीना' निर्गुण है तब फिर उसे जपा कैसे जाय, सुमिरन के लिए किस नाम की आवृत्ति की जाय।[१२] सगुण भक्तिमार्ग में 'सीताराम' तथा 'राधाश्याम' या 'नमः शिवाय' का सुमिरन आसान है; क्योंकि इनके पीछे एक निश्चित रूपादि की कल्पना है, अतः बाह्य जाप का यहाँ बहुत महत्त्व है। निर्गुण भक्तिधारा में अशरीरी अनाम ब्रह्म का जप बहिर्मुख होना मुश्किल है; क्योंकि जब उसे अनाम-अरूप मान लिया तब बोल-बोलकर क्या कहा जायगा? अतः यहाँ जप बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख हो जाता है।[१३] 'अजपा जाप' शब्द से ही बोध होता है—'बिना जपे हुए जाप' करने की क्रिया। ऐसे जाप में माला की आवश्यकता नहीं पड़ती; क्योंकि वह बाहरी उपादान है।[१४] साधक बाह्य उपकरणों

---

१२ पतंजलि ने ब्रह्म को निर्गुण मानते हुए भी 'ॐकार' उसका वाचक माना है और उसी का जाप करते हुए परमेश्वर का सूक्ष्म चिंतन करने का आदेश दिया है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।
तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्, पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात।
तस्य वाचकः प्रणवः, तज्जपस्तदर्थभावनम्।—योगदर्शन १।२४-२८

१३ मन पवन अस्त सुरति कौं आतम पकड़े आप।
'रज्जब' लावै तत्त सों यौंही अजपा जाप॥

१४ कबिरा माला काठ की बहुत जतन का फेर।
माला स्वांस उसाँस की जामे गाँठ न मेर॥

को छोड़कर अपने भीतर की सोई आत्मा को जगाता है और तब उसका अन्तःकरण ही प्रतिक्षण प्रत्येक श्वास-उच्छ्वास में नाम जपता रहता है।[१५] यह जप की चरमावस्था है। चित्त की अन्तर्वृत्ति की एकाग्रता के कारण तल्लीनता इस सीमा तक पहुँच जाती है कि साधक अपने-आपको भूलकर मंत्रमय हो जाता है।[१६] कबीर कहते हैं—'मन मस्त हुआ तब क्यों बोले ?' सगुण भक्ति में भी तल्लीनता की सीमा पर साधक को साध्य के रूप में देखा गया है—राधिका कृष्ण के संबन्ध में चिंतन करते-करते अपने को कृष्ण मानकर 'राधा-राधा' चिल्लाने लगती है। संत-काव्य के मनीषियों ने साधना को प्रत्येक क्षेत्र में अन्तर्मुखी कर लिया था। कबीर ने युग-युग तक हाथों में माला लेकर फेरनेवालों को सदैव यह आदेश दिया है कि वे हाथ की माला को छोड़कर मन की माला फेरने के अभ्यासी बनें।

माला फिरता युग गया मिटा न मन का फेर।
कर का मनका छोड़िकै मन का मनका फेर॥

---

१५ मुख सों भजे सो मानवा, दिल से भजे सो देव।
जीव से भजे सो ज्योति में 'रज्जब' साँची सेव॥

१६ ध्यान की अंतिम स्थिति के संबन्ध में बोलते हुए पतंजलि—
'तदेवाथमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।'—योगदर्शन ३।३।८४.
जब ध्यान में केवल ध्येयमात्र की प्रतीति होती है और चित्त का निजस्वरूप शून्य-सा हो जाता है तब वही ध्यान समाधि हो जाता है।

यह हिदायत इसलिए दी गई कि अक्सर देखा गया है कि माला तो हाथ में फिरता रहता है और जीभ से भी नाम की ध्वनि निकलती रहती है; पर चंचल मन चतुर्दिक् घूमता रहता है। इस तरह जाप करने से तो लक्ष्य की सिद्धि होती नहीं, उलटे समय की बर्बादी होती है। अतः बहुत सोच-समझकर संतों ने मन में ही जप करने की विधि अपनाई।[१७] 'बाहर के पट देइ के भीतर के पट खोल' कहकर कबीर 'मुख ते कछू न बोल' कहते हैं और उल्लास के साथ यह घोषणा करते हैं कि मैंने माला का तिरस्कार कर दिया है, जीभ से नाम उच्चारण बंद कर दिया है और हम स्वयं निश्चिन्त होकर विश्राम कर रहे हैं।[१८] क्योंकि सुमिरन का कार्यभार उनके 'हरि' ने स्वीकार कर लिया है।[१९] अजपा जाप का रहस्य इन संतों को गुरु गोरखनाथ से ही उपलब्ध हुआ है। उन्होंने मन को एकाग्र करने एवं प्राणायाम आदि

---

१७ *सतगुरु माला मन दिया पवन सुरति सूँ पोई,*
बिन हाथा निसिदिन जपै परम जाप यूँ होई।

१८ *कैवल्य की व्याख्या करते हुए पतंजलि ने कहा है कि उस स्थिति में कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता है—*
'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः
कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।'
योगदर्शन ४।३४।१५०.

१९. *माला जपौं न कर जपौं जिभ्या कहौं न राम,*
सुमिरन मेरा हरि करै मैं पायो विसराम ॥—कबीर

रेक में नाच उठता है ।[२५] इस उल्लासमयी स्थिति को सूफी 'हाल' मानते हैं जो उनके अनुसार तन्मयावस्था है । अब्दुल्ला हारिस महासिमी ने इस स्थिति को 'बिजली की तरह क्षणिक' माना है; किन्तु यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि संतों की नाद-लीनता क्षणिक नहीं, शाश्वत है । यहाँ बारहो मास विलास का स्वर गूँजता[२६] रहता है—'हम वासी उस देश के जहँ बारह मास विलास ।' यह नाद ब्रह्म-स्वरूप प्रणव में संलग्न ज्योतिस्वरूप होता है ।[२७] निःशब्द होने पर यह परब्रह्म परमात्मरूप में ही अनुभूत होता है । नाद के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होने पर मन भी अमन हो जाता है ।[२८] यह अनाहत नाद भक्तों की प मपद-स्थिति के समान है । इसे सुनकर योगी संशय-विहीन हो जाता है ।[२९] अंतःकरण में सूक्ष्म ब्रह्मनाद सुनने के बाद

---

२५. *'बिन पद निरत करौं तहाँ, बिन पद दै-दै ताल'*—धरनीदास
'अनहद ताल दृग थेई थेई बाजे,
सकल भुवन जाकी ज्योति बिराजे'—बुल्ला साहब ।

२६ *बाजत अनहद बाँसुरी तिरबेनी के तीर ।*
राग छतीसों होई रहे गरजत गगन गंभीर ॥—यारी साहब

२७ *अनहद सबद उठे झनकार तहँ प्रभु बैठे समरथ सार ।*—कबीर

२८ *सर्वचिन्तां समुत्सृज्य सर्वचेष्टा-विवर्जितः ।*
नादमेवानुसन्दध्यान्नादे चित्तं विलीयसे ॥ नादविन्दूपनिषद् ४१.

२९. *अनाहतं तु यच्छब्दं तस्य शब्दस्य यत्परम् ।*
तत्परं विन्दते यस्तु स योगी छिन्नसंशयः –ध्यानविन्दूपनिषद् ३.

मन और प्राण निस्संदेह निराकार ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं।[३०] इस स्थिति में जब 'आनंद बरखत बूँद सुहावन' तब साधक रस की धारा में डूब-डूब जाता है—आह्लादातिरेक में उसकी इन्द्रियाँ अपना काम छोड़ देती हैं।[३१] शरीर जड़ हो जाता है और रोम रोम हर्ष से पूरित हो ब्रह्मानंद का आस्वादन करने लगता है।[३२]

'अजपा जाप' की तरह 'अनाहतनाद' भी विरोधात्मक शब्द है। इसका प्रचलन योगमार्ग में खूब था और अशिक्षित संतों को हठयोगियों से ही यह चीज मिली होगी; यद्यपि उपनिषदों में भी इस सूक्ष्मनाद की चर्चा काफी मिलती है।

---

३० *गोरखनाथ कहते हैं कि इस स्तर पर न निरति है, न सुरति; न योग है, न भोग; न जरा है, न मृत्यु; न वाणी हैं और न ओंकार ही है—*

निरति सुरति जोगं न भोगं जरा मरण नहीं तहाँ रोगं।
गोरख बलै एकंकारं नहि तहँ वाचा ओंकारं ॥

३१ *इस संबन्ध में सूफी-संत जायसी का मत देखिए—*

जस भये पिए घूम कोई नाद सुनै पै घूम।
तेहि ते बरजे नीक है चढ़ै रहसि के दूम ॥

३२ *जब ते अनहद घोर सुनी।*

इन्द्री थकित गलित मन हुवा आसा सकल भुनी ॥
घूमत नैन शिथिल भई काया अमल जु सुरत सनी।
रोम रोम आनंद उपज करि आलस सकल भनी ॥

प्रत्यावर्तन की यात्रा—शरीर धारण करने के पश्चात् भौतिक उपकरणों द्वारा विशुद्ध आत्मतत्त्व इस तरह घेर लिया जाता है कि उसे अपने मूलस्वरूप का प्रत्यक्षीकरण करना मुश्किल हो जाता है। अपने उद्गम-स्थल (सूक्ष्म ब्रह्म) की झाँकी पाने के लिए वह विकल है; किन्तु तह पर तह इतने आवरण उसके ऊपर हैं कि उनका भेदन कर दृष्टि को उन्मुख करना कठिन हो जाता है। ज्यों-ज्यों शरीर विकसित होता जाता है, स्थूल उपकरणों में वृद्धि आती जाती है और आत्मा की मूल शुद्ध स्थिति पर पर्तें पड़ती जाती हैं। औपनिषदिक दर्शन ने आध्यात्मिक दृष्टि से शरीर के विभिन्न व्यापारों को भिन्न-भिन्न कोशों में बाँटा है। उत्तरोत्तर स्थूल से सूक्ष्मता की ओर जानेवाले आवरण चार हैं—प्राणमय कोश (प्राणवायु का आवरण) मनोमय कोश (मन का आवरण) विज्ञानमय कोश (बुद्धि का आवरण) और आनन्दमय कोश (आनन्द का आवरण)। इनमें प्रथम स्थूलतम है तथा अंतिम सूक्ष्मतम है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए (निर्गुण आत्मा के निराकार ब्रह्म में तदात्मता के लिए) स्थूल आवरणों को अलग करना आवश्यक है। चूँकि उसे आध्यात्मिक दृष्टि से अपने मूल स्थान (परम सत्ता) की ओर इन स्तरों एवं पर्तों को हटाकर जाना है अतः साधक की चेष्टा कुछ-कुछ उस मछली की तरह है जो स्रोत के उद्गम-स्थल की खोज में धारा से उलटी होकर तैरती चलती है।[१] इसी आध्यात्मिक यात्रा को प्रत्यावर्तन की यात्रा कहते हैं

---

१ *मीन मत चढ़कर उलटीधार मकरगत पकड़ा अपना तार।*

जिसे कबीर ने 'उलटी चाल' नामक शब्द से अभिहित किया है और तलवार की धार पर चलना-जैसा कठिन बतलाया है[२]। रज्जब ने संत उसी को माना है जो साधारण संसारिकों के विपरीत उलटी चाल चले[३]। इसी चीज को यारी ने 'उलटी बाढ़' शिवदयाल ने 'उलटी धार' कहा है। नाम भेद होते हुए भी बात सभी की एक ही है। इस 'उलटी चाल' से ही परमतत्त्व का दर्शन होना संतों ने सुलभ एवं निश्चित माना है। इस चाल से चलने पर यात्रा के अंत में साधक दूध पानी की तरह मिल जाता है[४]।

दृष्टि का उलटना—आँखों को, अधिकांश संतों ने, आध्यात्मिक साधना-अभ्यास के प्रस्थानबिन्दु (बेस प्वायन्ट) के रूप में स्वीकार किया है। आँख के तिल (ज्योति बिन्दु) को राधास्वामी मत में आत्मा का स्थान माना गया है। तुलसी साहब ने भी शिष्यों को उपदेश दिया है कि 'वहाँ' पहुँचना हो तो आँखों के पुतली-मार्ग से

---

२. *कहै कबीर कठिन यह करनी जैसे खंडे धारा।*
उलटी चाल मिलै परब्रह्म को सो सतगुरु हमारा॥

३. *उलटा चलै सो औलिया सूधा गति संसार।*
जन रज्जब यों जानि लै इनका यही विचार।

४. कबीर ने कहा है—

कबिरा धारा अगम की सद्गुरु दई लखाय।
उलटि ताहि सुमिरन करो स्वामी संग मिलाय॥

प्रत्यावर्तन की यात्रा—शरीर धारण करने के पश्चात् भौतिक उपकरणों द्वारा विशुद्ध आत्मतत्त्व इस तरह घेर लिया जाता है कि उसे अपने मूलस्वरूप का प्रत्यक्षीकरण करना मुश्किल हो जाता है। अपने उद्‌गम-स्थल (सूक्ष्म ब्रह्म) की झाँकी पाने के लिए वह विकल है; किन्तु तह पर तह इतने आवरण उसके ऊपर हैं कि उनका भेदन कर दृष्टि को उन्मुख करना कठिन हो जाता है। ज्यों-ज्यों शरीर विकसित होता जाता है, स्थूल उपकरणों में वृद्धि आती जाती है और आत्मा की मूल शुद्ध स्थिति पर पर्तें पड़ती जाती हैं। औपनिषदिक दर्शन ने आध्यात्मिक दृष्टि से शरीर के विभिन्न व्यापारों को भिन्न-भिन्न कोशों में बाँटा है। उत्तरोत्तर स्थूल से सूक्ष्मता की ओर जानेवाले आवरण चार हैं—प्राणमय कोश (प्राणवायु का आवरण) मनोमय कोश (मन का आवरण) विज्ञानमय कोश (बुद्धि का आवरण) और आनन्दमय कोश (आनन्द का आवरण)। इनमें प्रथम स्थूलतम है तथा अंतिम सूक्ष्मतम है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए (निर्गुण आत्मा के निराकार ब्रह्म में तदात्मता के लिए) स्थूल आवरणों को अलग करना आवश्यक है। चूँकि उसे आध्यात्मिक दृष्टि से अपने मूल स्थान (परम सत्ता) की ओर इन स्तरों एवं पर्तों को हटाकर जाना है अतः साधक की चेष्टा कुछ-कुछ उस मछली की तरह है जो स्रोत के उद्‌गम-स्थल की खोज में धारा से उलटी होकर तैरती चलती है।[१] इसी आध्यात्मिक यात्रा को प्रत्यावर्तन की यात्रा कहते हैं

---

१ *मीन मत चढ़कर उलटीधार मकरगत पकड़ा अपना तार।*

जिसे कबीर ने 'उलटी चाल' नामक शब्द से अभिहित किया है और तलवार की धार पर चलना-जैसा कठिन बतलाया है[२]। रज्जब ने संत उसी को माना है जो साधारण संसारिकों के विपरीत उलटी चाल चले[३]। इसी चीज को यारी ने 'उलटी बाढ़' शिवदायाल ने 'उलटी धार' कहा है। नाम भेद होते हुए भी बात सभी की एक ही है। इस 'उलटी चाल' से ही परमतत्त्व का दर्शन होना संतों ने सुलभ एवं निश्चित माना है। इस चाल से चलने पर यात्रा के अंत में साधक दूध पानी की तरह मिल जाता है[४]।

दृष्टि का उलटना—आँखों को, अधिकांश संतों ने, आध्यात्मिक साधना-अभ्यास के प्रस्थानबिन्दु (बेस प्वायन्ट) के रूप में स्वीकार किया है। आँख के तिल (ज्योति बिन्दु) को राधास्वामी मत में आत्मा का स्थान माना गया है। तुलसी साहब ने भी शिष्यों को उपदेश दिया है कि 'वहाँ' पहुँचना हो तो आँखों के पुतली-मार्ग से

---

२. *कहै कबीर कठिन यह करनी जैसे खंडे धारा।*
उलटी चाल मिलै परब्रह्म को सो सतगुरु हमारा॥

३. *उलटा चलै सो औलिया सूधा गति संसार।*
जन रज्जब यों जानि लै इनका यही विचार।

४. कबीर ने कहा है—
कबिरा धारा अगम की सत्गुरु दई लखाय।
उलटि ताहि सुमिरन करो स्वामी संग मिलाय॥

प्रवेश करो। आधुनिक हिप्नोटिज्म जाननेवाले आँखों की प्रभविष्णुता पर विश्वास करते हैं। संतों ने अनेक स्थलों पर अन्तर्मुखी साधना के लिए 'आँखों को उलटने' का आदेश दिया है। दादू ने कहा है—

जहाँ जगतगुरु रहत हैं तहाँ जे सुरति समाय।
दोनों नैना उलट करि कौतुक देखै जाय॥

रज्जब ने कहा कि शून्य के विस्तार की ओर आँखें उलट कर देखो तो तुम्हें 'वह' सब जगह दिखलाई पड़ेगा—'उलट नैन वे सुन्न विस्तर, जहाँ-तहाँ दीदार है।'

यह भी कहा जाता है कि मरने के समय जिस तरह आँखों की पुतलियाँ उलट जाती हैं उसी तरह पुतली को ऊपर करके साधक जब भ्रूमध्य (आज्ञाचक्र का स्थान जिसे त्रिकुटी कहते हैं) में ध्यान लगाता है तो वहाँ ब्रह्म की सूक्ष्म झाँकी प्राप्त होती है। कुछ ने 'निरति' को ही 'दृष्टि का उलटना' माना है, पर इनकी संख्या बहुत कम है। इस मत के माननेवालों के अनुसार संसारिक माया के बन्धन इतने जोरशोर से कसते जाते हैं कि दर्शन मात्र से उन पर लुब्ध होने से कोई अपने को रोक नहीं सकता, अतः उत्तम मार्ग यही है कि आँखों को उन मोहक वस्तुओं से दूर रखा जाय और उन्हें अन्तर्मुख करके दिव्य झाँकी प्राप्त की जाय[५]। सुन्दरदास के मतानुसार आराध्य के दिल में

---

५. *जो कुछ इन नयनन लखि आई, सो सब माया लखब कहाई।*
दिव्य दृष्टि करि उलटि समाई, लखै अलेख लखै तिन पाई॥

रहते हुए भी उलटी आँखों से देखे विना उसका सहज-दर्शन संभव नहीं है—'है दिल में दिलदार सही, अँखिया उलटी करि ताही चितइए।'

इस क्रिया का योगाभ्यास के त्राटक से बहुत संबन्ध है; किन्तु कुछ लोगों ने इसका अभिप्राय आध्यात्मिक अन्तर्मुखीकरण भी समझा है। संतमत में राधास्वामी सम्प्रदाय में इसकी चर्चा बहुत मिलती है। अन्य संतों ने इसका यों ही अनायास कभी-कभी उल्लेख कर दिया है। कबीर ने भी इस पर विशेष बल नहीं दिया है।

त्रिकुटी—योग में व्यवहृत 'त्रिकुटी' शब्द का तात्पर्य दोनों भौंहों के बीच में नासिकामूल के ऊपर के स्थान विशेष से है जहाँ 'आज्ञा' नामक चक्र की स्थिति मानी गयी है। यह स्थान साधना की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वैष्णव भक्त भी इस स्थान की श्रेष्ठता स्वीकार कर चंदन-तिलक से इसे शीतल रखने की चेष्टा करते हैं। इस स्थल की महत्ता इसलिए है कि यही स्थान सगुण एवं निर्गुण अर्थात् भौतिक एवं आध्यात्मिक लोगों की मिलन-भूमि है[६]। यहीं से साधक भौतिक लोक को छाड़कर आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। योगियों ने इस दो दल युक्त त्रिकुटी[७] को गगन कहा है और

---

६. *दरिया देखै दोइ पख त्रिकुटी संधि मंझार।*
निराकार एकै दिशा एकै दिशा अकार॥

७. *त्रिकुटी मद्धे मूरत दरसै दो दल दरपन माँही।—गरीबदास।*

उपनिषदों की बातों में स्वर मिलाकर संतों ने इसे काशी[८] का प्रतीक मान लिया है। इस 'झिलमिल-झिलमल त्रिकुटी' के पास संत वीरू का लाल बाँसुरी बजाता रहता है—'त्रिकुटी के तीर तीर बाँसुरी बजावे लाल।' इस त्रिकुटी को कबीर ने असंख्य ताराओं की चमक

---

८. *जाबालोपनिषद् में इस तीर्थ की बड़ी महत्ता बतलाई गई है। दत्तात्रेय सांकृति से कहते हैं—'जो अपने भीतर वर्तमान इस आत्मतीर्थ का परित्याग करके बाहर के तीर्थों में भटकता रहता है वह हाथ में रखे बहुमूल्य रत्न को त्यागकर काँच खोजता फिरता है। योगी पुरुष अपने आत्मतीर्थ में अधिक श्रद्धा और विश्वास रखने के कारण जलभरे तीर्थों और काष्ठादि से निर्मित प्रतिमाओं की शरण नहीं लेते। महामुने! बाह्यतीर्थ से श्रेष्ठ आंतरिक तीर्थ है। आत्मतीर्थ ही महातीर्थ है, उसके सामने और सभी तीर्थ निरर्थक हैं। शरीर के भीतर रहनेवाला दूषित मन बाह्यतीर्थों में गोते लगाने मात्र से शुद्ध नहीं होता, जैसे मदिरा से भरा हुआ घड़ा ऊपर से सैकड़ों बार जल से धोआ जाय तो भी वह अपवित्र ही रहता है, किन्तु अपने भीतर होनेवाले जो विषुव-योग (उत्तरायण-दक्षिणायन काल और सूर्यचन्द्रमा के ग्रहण) हैं उसमें नासिका और भौंहों के बीच में स्थित वाराणसी (काशी) आदि तीर्थों में भावना द्वारा स्नान करके मनुष्य शुद्ध हो सकता है।'—*

जाबालोपनिषद् ४।४८-५६.

के बीच बिजली की ज्योति के रूप में देखा है और बुल्ला साहब ने भी काले-काले बादलों के बीच बिजली के प्रकाश में ही उसका दर्शन किया है।

इस त्रिकुटी को काशी मानकर संतों ने इसके घाट पर स्नान करना आवश्यक समझा है[९]। सुषुम्ना से होती हुई कुंडलिनी शक्ति जब अन्य चक्रों को पारकर आज्ञाचक्र (भ्रूमध्य स्थित, त्रिकुटी स्थान) के पास आती है तो उसकी लौकिक यात्रा समाप्त हो जाती है और उसके बाद सहस्रार एवं आनन्द का लोक मिलता है। बुल्ला ने कहा है कि बनारस की गंगा में स्नान करना छोड़कर हमें उस काशी में स्नान करना है जो हमारे शरीर के भीतर वर्तमान है। इस काशी में स्नान करके ही साधक शून्यलोक में जाता है जहाँ उसे अनाहतनाद सुनाई पड़ता है। इसी त्रिकुटी को ही 'गगन' भी कहते हैं जिसे कबीर बार-बार याद करते हैं[१०]। 'साधो गगन घटा घहरानी' कहते हुए कबीर उस गगन-मंडल की बात करते हैं जहाँ सदा अमृत की वृष्टि होती है, सुख का साम्राज्य बिखरा रहता है और सुषुम्ना अमृतरस से अपने को भरती रहती है। प्राणवायु त्रिकुटी में पहुँच गया है, कुंडलिनी जाग्रत हो गई है और साधक साधना की मंजिल को

---

९. *दादू काया अंतर पाइया त्रिकुटी केरे तीर।*
सहज आप अलखाइया व्याप्या सकल सरीर॥

१०. *उलटि पवन चक्र षट बेधा मेरुदंड रसपूरा।*
गगन गरजि मन सुन्न समाना बाजी अनहद तूरा॥—कबीर

विहँसते नयनों से देखकर उल्लसित हो रहा है।''

त्राटक—योगमार्ग में आँखों को एक निश्चित विन्दु पर देरतक टिकाने और चित्त की एकाग्रस्थिति के पूर्वाभ्यास के लिए अनेक प्रकार के उपाय काम में लाए जाते हैं जिन्हें त्राटक कहते हैं। आरंभ में योगी किसी दूरस्त वस्तु को केन्द्र मानकर कुछ देर तक बिना पलक गिराए देखने का अभ्यास करता है, फिर उस विन्दु विशेष को देखकर आसन्बद्ध बैठा योगी अपने शरीर को हिलाता है, किन्तु सदा उसकी आँखें उस नियत विन्दु पर ही टिकी रहती हैं। हिलते शरीर के साथ भी दृष्टि की एकाग्रता जब सिद्ध हो जाती है तब यही क्रिया सूर्य आदि के सामने बैठकर की जाती है जिससे दृष्टि में सबलता आती है। वर्तमान युग में भी प्राकृतिक चिकत्सा से रोगों का इलाज करने-वाले त्राटक की विधि से आखों के असाधारण रोगों को दूर कर देते हैं। त्राटक-विधि मुख्यतः आँखों से संबन्धित है और योगमार्ग में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

भँवर गुफा—हृदय को कमल मान लेने के बाद आत्मस्थ परमात्मा को उसका भ्रमर मान लेने में संतों को विशेष कठनाई नहीं हुई। इस सूक्ष्म भ्रमर के सूक्ष्म-निवास-स्थान को रहस्यमय शब्द द्वारा बोध

---

११. *अवधू गगन मंडल घर कीजै।*
अमृत झरै सदा सुख उपजै बंकनालि रस पीजै॥
मूल बाँधि सर गगन समाना सुखमन पोत लागी।
काम क्रोध भया पलीता, तँह जोगण जागी॥—कबीर

कराने के लिए 'भ्रमर गुफा' (भँवर गुफा) नाम देने में भी उन्हें विशेष श्रम नहीं करना पड़ा होगा। योग मार्ग में इस शब्द को सहस्रार के समानान्तर रखकर देखा गया है। सहस्रार चक्र, जिसके पास-पड़ोस से अनहद की झंकार सुनाई पड़ती है,—की रहस्यात्मकता को उद्घोषित करने के लिए उसे ही भँवरगुफा कहना संत काव्य में समीचीन समझा गया। कबीर आदि निरगुनियों ने सहस्रारचक्र या अनाहतचक्र को ही भँवरगुफा मना है।

शरीर में चक्रों एवं योगपरक विशेष-विशेष स्थानों को बांटते समय विस्तार से चौदह लोकों की कल्पना की गई है। भँवरगुफा का स्थान दसवाँ है[१२]। इस स्थान के बाद से भी अगम-अकह लोक में पहुँचने की तीन-चार सीढ़ियाँ शेष रह जाती हैं। इस भँवरगुफा के पूर्व का लोक 'महासुन्न'[१३] है जो सहस्रकमल, त्रिकुटी आदि के ऊपर है[१४]। यह अष्टकमलों का स्थान है। बाद का लोक भँवरगुफा है—यहाँ का अधिदेव 'सोऽहंपुरुष' है। सूक्ष्मता यहाँ घनीभूत हो जाती है। भँवरगुफा के पूर्व की स्थितियों को बाह्यपरक माना गया है। सूक्ष्म-

---

१२. *सातवँ सोम कपार मँह कहा तो दसवँ दुआर।*
जो वह पँवरि उघारै सो बड़ सिद्ध अपार॥—जायसी

१३. *हद छाड़ि बेहद गया किया सुन्न असनान।*
मुनिजन महल न पावई, तहाँ किया विसराम॥—कबीर

१४. *नवौ खंड नव पौरी और तँह बज्र केंवार।*
चारि बसेरे सौं चढ़ै सत सौं उतरे पार॥—जायसी

लोक की सर्वोच्चता की ओर भँवरगुफा से ही यात्रा आरंभ होती है। इस गुफा में 'सोऽहं' शब्द की प्रधानता है और वीणा-सी झंकार निरंतर सुनाई पड़ती रहती है। आत्मा यहाँ सोलह सूर्यों का प्रकाश प्राप्त कर लेती है और चिन्तमय होकर ब्रह्म में लीन होने के आनन्द को प्राप्त करने लगती है[१५]। इसी स्थल से दसवाँ द्वार खुल जाता है और साधक तुरीयावस्था को प्राप्त कर परम शांति का अनुभव करता है।

बहुतों ने इसे 'शून्य' समझने की गलती की है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, 'भँवरगुफा' 'शून्य' से आगे की और ऊँची चीज है।

---

१५. *महर्षि पतंजलि 'विभूतिपाद' नामक परिच्छेद में समाधि-अवस्था के परिणाम स्वरूप चित्त की स्थिति के संबन्ध में कहते हैं—*

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयो चित्तस्य समाधि परिणामः ॥

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः ॥

—योगदर्शन ३ । ११-२१

—'सर्वप्रकार के विषयों का चिंतन की वृत्ति का क्षय हो जाना और किसी एक ही ध्येय विषय का चिंतन करनेवाली एकाग्रतावस्था का उदय हो जाना चित्त का समाधि-परिणाम हैं। उसके बाद फिर जब शांत होनेवाली और उदय होनेवाली दोनों ही वृत्तियाँ एक-सी हो जाती हैं तब चित्त के एकागृता-परिणाम की स्थिति आती है।'

गौतमबुद्ध ने बहुत पहले 'सर्वं शून्यं सर्वं क्षणिकं' कहकर शून्यवाद की प्रतिष्ठा की थी जिसमें सृष्टि के खोखलेपन की भावना ही तीव्र थी। उनके अनुसार जगत के मूल में आत्मा या ब्रह्म की नित्यता निहित नहीं है। संसार की असारता पर बल देते हुए गौतम ने 'शून्य' का प्रयोग परमतत्त्व की सूक्ष्मता एवं अवाङ्गमनसगोचरता के लिए भी किया होगा। बौद्धधर्म की महायान शाखा में यह 'शून्य' निश्चित रूप से परमसत्ता को बोध कराने के लिए ही प्रयुक्त किया जाने लगा और सिद्धों के यहाँ इसी अर्थ में अनेक वर्षों तक स्वीकृत रहा। नागार्जुन ने 'शून्य' का व्यवहार ब्रह्म की अगम्य स्थिति सूचित करने के लिए किया था[१६] किन्तु हठयोगप्रदीपिका में इसे ब्रह्मरंध्र, सुषुम्नानाड़ी, तथा अनाहत-चक्र आदि विभिन्न अर्थों में स्वीकार किया गया। गोरखनाथ ने इसे ब्रह्मरंध्र के अलावे समाधि-अवस्था का भी

---

१६. इस लोक की महत्ता के संबन्ध में जायसी—

सुन्नहि माँझ इन्द्र ब्रह्मंडा, सुन्नहिं तें टीके नवखंडा।
सुन्नहि तें उपजे सब कोई, पुनि बिलाइ सब सुन्नहि होई॥
सुन्नहि सात सरग उपराहीं, सुन्नहि सातो धरती तराहीं।
सुन्नहि ठाट लाग सब एका, जीवहि लागि पिंड सगरे का॥
सुन्नम सुन्नम सब उपराई, सुन्नहि महँ सब रहे समाई।

—अखरावट

१७. *अबरन बरन घाम नहिं छाम, अबरन पाइए गुरु की साम।*
टारी न टरै आवै न जाई, सुन्न सहज महि रह्यो समाई॥-जायसी

पर्याय माना। कबीर ने जहाँ-तहाँ ब्रह्मरंध्र के अर्थ में इसको स्वीकार किया है पर 'शून्यलोक' के बारे में बोलते हुए उन्होंने सदा अगम-अकह लोक के माध्यम को ही ध्यान में रखा है जिसके बीच में 'भँवरगुफा' स्थित है। कहीं-कहीं संतकाव्य में शून्य को 'आकाश' अर्थ में भी ग्रहण किया गया है। आकाश जैसे सर्वव्याप्त है वैसे ही शून्य भी—इसलिए शून्य से अलख-अनाम ब्रह्म की सर्वव्यापकता का भी संकेत लिया जा सकता है। इस 'शून्य' अर्थ में ही 'खसम' शब्द का प्रयोग मिलता है जो योगियों के 'गगनोपम'-सा है। इसी धरातल पर शून्य को ब्रह्म का प्रर्याय मान लेने की उदारता भी दिखलाई गई है। एक बात और ध्यान में रखने की है कि संतों का 'सून्न' या 'सहज' योगियों की सहजावस्था से नितान्त भिन्न है।

कौल—कौल शब्द 'कुल' से बना है जिसका अर्थ है कुंडलिनी शक्ति। जो व्यक्ति सहस्रार चक्र में स्थित योगिराज शंकर (अकुल) के साथ उसका योग करा देते हैं उन्हें ही कौल कहते हैं। प्रारंभ में कौल होना बड़ी साधना का काम था और उनके कुलाचार (कुंडलिनी के साथ किए गए व्यवहार) भी कठोर अन्तर्संघर्ष के कारण बड़ी श्रद्धा से देखे जाते थे। बाद में पंचमकार (मांस, मद्य, मत्स्य, मुद्रा, मैथुन) जिनके तांत्रिक अर्थ साधन को पुष्ट करनेवाले थे, लौकिक अर्थ में ग्रहण किए गए और अनैतिकता तथा भ्रष्टाचार का तूफान आ गया। प्रतीकों के साथ मनमानी करने के फलस्वरूप सिद्धों का क्या रूप हुआ और उसे गोरखनाथ ने इस योग द्वारा सीधे मार्ग पर लाने का कैसा

प्रयास किया इसका विस्तृत विवरण पृ० ३० में दिया जा चुका है। यहाँ इतना ही कहना अभिप्रेत है कि कुंडलिनी शक्ति जागृत कर तांत्रिक साधना में लीन होनेवाले षट्चक्रभेदनोन्मुख योगियों को ही कौल कहा जाता था जिनके भग्नावशेष को आज भी औघड़ के रूप में श्मसान में भटकते हुए लौकिक दृष्टि से घिनौने कर्म करते देखा जा सकता है।

परिशिष्ट (ख)

संतमत के प्रतीक

संतों ने अपनी बातें प्रतीकों के द्वारा ही बोधगम्य बनाने का प्रयास किया है। अलंकारादि जाननेवाला विद्वान जिस तरह रसध्वनि आदि से वचन में वैचित्र्य लाना चाहता है उसी तरह निरक्षर संत साधु-मंडली में प्रचलित प्रतीकों के माध्यम से ही अपनी बातें कहने के अभ्यासी थे। ये प्रतीक आज भले ही दूर के लगें पर उन दिनों संतों की जमायत में ये सब की जुबान पर चढ़े हुए थे और किसी को समझने में विशेष कठिनाई नहीं होती थी। दर्शन-संबन्धी बातें कहते समय, जो मुख्यतः संत-गोष्ठी की चीज थी (कबीर ने ऐसे पदों में संतों सूचक 'संतो' एवं 'साधो' का ही संबोधन किया है, साधारण जनसमुदाय सूचक 'भाई' का नहीं) ये निरगुनिए दार्शनिक प्रतीकों में ही बातें करते हैं जो नाथपंथी योगियों से इन्हें प्राप्त हुए थे। साधारण जनसमुदाय में बोलते समय दार्शनिक प्रतीकों में बोलने के

अभ्यासी संतों के सामने लोकजीवन में बिखरी वस्तुएँ ही आईं और अपने भाव को प्रभावशाली बनाने के लिए इन्होंने तत्कालीन वातावरण से प्रतीकों को चुन-चुनकर लोगों के सामने रखा। दार्शनिक बातें कहते समय भी अव्यक्त को व्यक्त-प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त कर बोधगम्य करने की चेष्टा प्रकर्ष पर दीखती है। इस क्षेत्र के प्रतीक अधिकांशतः नए हैं, संतों के अपने हैं।

योग संबन्धी प्रतीक—

गंगा—इड़ा

जमुना—पिंगला

बंकनालि—सुषुम्ना

सरस्वती—सुषुम्ना

मानसरोवर—शून्य में स्थित वह अमृतकुंड जिससे जीवनमुक्त आत्मा अपनी तृषा बुझाती है।

चंद्रमा—ब्रह्मरन्ध्र की चंद्राकार योनि से सदा अमृत का स्राव होता रहता है जिसे पीने के लिए खेचरी मुद्रा द्वारा योगी कृच्छ साधना करता है। अमृत की बूँदें बरसाने के कारण इस स्थल को चंद्र कहते हैं।

सूर्य—'चंद्र' के विपरीत मूलाधार चक्र में चतुर्दल के मध्य में एक वृत्त है जिससे विष का प्रवाह जारी रहता है। यही विष समग्र शरीर में व्याप्त होकर काया को विषाक्त करता है। विष के ताप एवं चंद्र के शोषक-गुण के कारण इस स्थल को 'सूर्य' कहा गया है।

शिकारी—नाद

घट[1]—शरीर

सर्पिणी—कुंडलिनी

कल्पवेलि—उन्मनी

अरुन्धती—कुंडलिनी

हरिण—अंतःकरण

गज—वायु

वन—शरीर

वाण—शब्द

पृथ्वी—शरीर

पक्षी—मन

त्रिवेणी—ब्रह्मरंध्र

लोक जीवन संबन्धी—दार्शनिक चिंतन की अग्राह्यता को ग्राह्य एवं वोधगम्य वनाने के लिए संतों ने लोकजीवन के उपादानों का सहारा लेकर भावाभिव्यक्ति की। जीवन के अन्तस् में पैठी वस्तुओं को जिन्हें हम प्रतिदिन के दैनिक कर्म में व्यवहार करते हैं प्रत्यक्ष रखकर उनकी आड़ में गंभीर-अबूझ वातों को स्पष्ट करने में कितनी सहूलियत होती है, इसे संत जानते थे। जन-जन के बीच अपनी बातें पहुँचाने-वाले ये संत उनकी दैनिक चीजों के माध्यम द्वारा जटिल तत्वों को

---

१. 'एहि घट चंदा एहि घट सूर, एहि घट बाजे अनहद तूर।'—कबीर
'काया मरम गोसाँई जो घट-घट रहे नित।'—जायसी
'डगमग चाल छोड़ दे गोरी, घट में बसे पिया तोरी रे'।—कबीर
'चौदह भुवन जे तर उपराहीं, ते सब मानुष के घटमांही।'—जायसी

बोधगम्य बनाने के उपाय को काम में न लाकर और भला क्या करते ? जिसे साधारण जनता के बीच अपने विचारों को प्रसारित करना हो, वह सबके जानकारी की चीज ही तो बोलेगा !—यही कारण है कि इन निरगुनियों के दर्शन-संबन्धी असंख्य प्रतीक लोकजीवन से ही संबंधित हैं। दर्शन के अतिरिक्त अन्य लौकिक वस्तुओं को व्यक्त करने के लिए भी इनलोगों द्वारा प्रतीक अपनाए गए हैं जो सर्वसाधारण में प्रचलित हैं और बहुत ही आसान हैं।

ऐसे प्रतीकों में सबसे प्रमुख है नैहर-सासुर-भावनापरक दाम्पत्य-भाव का प्रतीक। इस संसार को नैहर मानकर अगमलोक को पतिगृह मानते हुए संतों ने सदा 'नैहरवा हमका नहि भावे' का गीत गाया है जिसमें कबीर का स्वर सबसे ऊँचा है। परमात्मा से वियुक्त आत्मा उससे दूर रहने में बेचैनी अनुभव करती है अतः उस पितृगृह में मन नहीं लगता। वह बार-बार सोचती है 'नैहरा से जियरा फाटेरे।' तब गौने का दिन आता है, मिलन की आकांक्षा जगती है। यह द्विरागमन मृत्यु का प्रतीक है जिसके फलस्वरूप आत्मा इस जगत को छोड़कर दूसरे लोक में अपने अलक्ष्य स्वामी से भेंट करने जायगी। इस अवसर पर दुलहिन (आत्मा) बहुत साज-सँवार करती है और उल्लसित होकर आगे बढ़ती है। वह 'घूँघट का पट' (माया) खोल देती है। जिस 'चुनरी' (शरीर) को सभी ने गंदा (दागयुक्त) कर दिया था उसको कबीर ने निर्मल रखा है। 'चादर' भी शरीर का ही प्रतीक है और 'चोली' भी आत्मा का 'बाह्य-आवरण'[२] (शरीर) ही है। (विस्तृत विवरण के लिए देखिए पृ० ३४०)

---

२. *दुलहिन अँगिया काहे न धोवाई।*
बालपने की मैली अँगिया विषय दाग परि जाई ॥—कबीर

इन प्रतीकों के साथ-साथ जबतब वात्सल्यभाव के प्रतीक भी कबीर की रचनाओं में दिखलाई पड़ जाते हैं। इनकी संख्या तो कम है, पर महत्त्व की दृष्टि से इनका स्थान नीचा नहीं है। कबीर ने जिस ब्रह्म को किसी दिन 'साँई' कहकर 'हरि मोर पिउ मैं हरि की बहुरिया' का संबन्ध स्थापित किया था वही उनके सामने 'जननी' के रूप में आता है और राम की 'दुलहिन' उसके सामने नन्हा-शिशु बनकर तोतली बोली में उससे निवेदन करती है—

हरि जननी मैं बालक तोरा, काहे न अवगुन बकसहु मोरा।
सुत अपराध करै दिन केते, जननी के चित रहैं न तेते ॥
कर गहि केस करै जो धाता, तऊ न हेत उतारै माता।
कहै कबीर एक बुद्धि विचारी, बालक दुखी दुखी महतारी ॥

इसके अतिरिक्त कबीर ने कहीं राम को मालिक मानकर अपने को उसकी कुतिया[3] कहा है और कहीं अपने को पशु मानकर आराध्य को अहीर माना है। यहाँ अनायास तुलसी के सेवक-सेव्यभवि की याद ताजी हो जाती है।

संतकाव्य के अन्य प्रतीक निम्नांकित हैं—

पक्षी (पखेरू)—प्राण, आत्मा [4]

हंस—ज्ञान, कहीं-कहीं जीवन्मुक्त-आत्मा के रूप में—निर्विकार ज्योतिस्वरूप।

---

३. कबिरा सेवक राम का कुतिया मेरो नाँव।

४. सो पंछी मोहि कोई न बतावै जो बोले घट माँही रे।
अबरन बरन सगन नहि रेखा बैठा प्रेम के छाँहीं रे ॥—कबीर

सुग्गा – जीव [५]
पिंजरबद्धकीर—अविद्या
बिल्ली—काल
बगुला—मायालिप्त मानव [६]
भँवरा–जीव, मन [७]
कमल–सांसारिक भोग
भँवरी–गुरु
मीन–मन की चंचलता
चकई–विरहिणी आत्मा, प्रेमी
पपीहा–साधक (लक्ष्य में तल्लीन)
सर्पिणी–माया
धरती–जड़ माया
वृक्ष—शरीर, सूक्ष्म ब्रह्म [८]
वर्षा—सांसारिक सुख
अंधकार—आवरणरूपिणी माया
तंबूरा—शरीर [९]

---

५. *सुवटा डरपत रहु मेरे भाई, तोहि डराइ देत बिलाई।*—कबीर

६. *हंसा बगुला एक-सा मानसरोवर माँहि,*
बगा ढँढोरे माछरी, हंसा मोती खाँहि।—कबीर

७. *मन भौंरा तँह अरम्भ रहे हैं, सुख को ना अभिलास।*—कबीर

८. अच्छै पुरुष इक पेड़ है निरंजन वाकी डार।—कबीर

९. *साधो यह तन ठाट तंबूरे का।*
ऐंचत तार मरोरत खूँटी निकसत राग हजूरे का॥'—कबीर

हाट—संसार
चर्खा—चित्त (चंचलता सूचक) कालचक्र [१०]
चक्की—सांसारिक भोग
चूल्हा—तृष्णा की आग में जलता मन
सती—आत्मा
चोर—मायालुब्ध चित्त, अंतःकरण की विषयोन्मुख प्रवृत्ति। इसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद आदि पंचविकार सहायक।
बढ़ई—काल
धोबी—गुरु [११]
कपड़ा—शिष्य
साबुन—परमात्मा (सृष्टिकर्त्ता)
बाजीगर—ब्रह्म
बाजी—माया
हीरा—सत्तनाम
मोती—ज्ञान का प्रकाश
दीपक—मन की ज्योति, ज्ञान
बहन—माया [१२]
कुंभ—शरीर
सागर—परमात्मा की अगाधता
बूँद—आत्मा
लहर—सांसारिकता, माया

---

१० *जौं चरखा जरि जाय बढ़ैया ना मरै।*
मैं कातौं सूत हजार चरखुला जिन करै॥—कबीर

११. *'गुरु धोबी सिष कापड़ा साबुन सिरजनहार।'*—कबीर

१२. *'तुम्ह घर जाहु हमारी बहना विष लागै तिहारे नैंना।'*—कबीर

मेंड़—वासना
कुत्ता—अज्ञानी
भैंस—तामसी वृत्तियाँ
दूध—ज्ञान
दही—ब्रह्म
कठपुतली—जीव
सूत्रधार—ब्रह्म
हल्दी—साधक [१३]
चूना–आत्मस्थ ब्रह्म (सतोगुण)-(देखिए–'सुरति–निरति' पृ० ४६६)
सवार—जीवात्मा
सारथी—बुद्धि
लगाम—मन
घोड़े—इन्द्रियाँ
रथ[१४]—शरीर

---

१३. *कबिरा हरदी पिअरी चूना उज्जर भाय।*
राम सनेही यों मिले दूनों बरन गँवाय॥

१४. *रथ-सम्बन्धी यह पूरा का पूरा रूपक कठोपनिषद् में मिलता है—*

आत्मानम् रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयनाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥—

कठोपनिषद् १।३।३-४.

—इन प्रतीकों की संख्या असंख्य है। ऊपर कुछ प्रमुख प्रतीकों की सूची दी गई है जिनके संबन्ध में प्रायः मत-विभिन्नता नहीं है। यहाँ एक बात स्पष्ट देखी जा सकती है कि प्रतीकों को स्वीकार करते समय संतो के सामने कोई निश्चित मानदंड नहीं था अतः जब भी जो चीज सामने आई उसे (सादृश्य के आधार पर) मनोनुकूल प्रतीक मानकर भावाभिव्यक्ति कर दी गई। विषय की बोधगम्यता को जितनी प्रमुखता मिली उतनी प्रतीकों की संतुलनता को नहीं। यही कारण है कि एकही 'हंस' कहीं साधु के रूप में स्वीकृत है, कहीं 'ब्रह्म' और कहीं 'ज्ञान' के अर्थ में एवं जबतब 'आत्मा' और 'हंस कूप' के अर्थ में भी मान लिया गया है। इसी तरह 'शरीर' कहीं तंबूरा बन जाता है, कहीं वृक्ष; कहीं घड़ा, कहीं पुष्प और पिंजड़ा; 'जीव' कहीं पक्षी है, कहीं भ्रमर; कहीं चकई है, कहीं सुग्गा।

कुछ अंक-संबन्धी प्रतीक[१५] भी देखिए—

एक—परब्रह्म। सूक्ष्म होकर भी वह अकेला है, घट-घट में व्याप्त है और एक ही अनेक रूप में पूर्णतः परिव्याप्त है।

दो—जगत और ब्रह्म

तीन—गुण—सात्विक, राजस, तामस

शरीर—स्थूल, सूक्ष्म, कारण।

नाड़ियाँ—इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना (गंगा, यमुना, सरस्वती)।

प्राणायाम—रेचक, पूरक, कुंभक।

---

१५. 'निर्गुण-धारा' पृ०. २४५ से।

लोक—स्वर्ग, मर्त्य, पाताल।

ताप—दैविक, भौतिक, देहिक।

काल—भूत, भविष्यत्, वर्तमान।

देवता—ब्रह्मा, विष्णु, महेश।

चार—अवस्थाएँ—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय।

वेद—ऋक्, साम, यजु:, अथर्व।

पाँच—तत्त्व—पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश, वायु (छिति जल पावक गगन समीरा)।

ज्ञानेन्द्रियाँ—कान (श्रवण) नाक (घ्राण) जीभ (स्वाद) आँख (दृष्टि) त्वचा (स्पर्श)।

कर्मेन्द्रियाँ—वाक्, पाद, पाणि, पायु, उपस्थ।

वायु—(i) स्थूल—प्राण, व्यान, समान, उदान, अपान।

(ii) सूक्ष्म—धनंजय, किकरा, कूर्म, नाग और देवदत्त।

क्लेश—अविद्या, अस्तिमता, राग, द्वेष, अभिनिवेश (योगदर्शन २।३)।

छः—शत्रु—काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर।

चक्र—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, पणिपूरक, आज्ञा, सहस्रार।

शास्त्र—मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक।

तंत्र—मारन, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण, स्तंभन, तारण।

आठ—सिद्धियाँ—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, ईशीत्व, वशित्व।

नौ—निधि—पद्म, महापद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुंद, नील, खर्व ।

नाथ—नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरक्षनाथ, चर्पट, जलंधर और मलयार्जुन ।

चौदह—विद्याएँ[१]—ब्रह्मज्ञान, रसायन, श्रुतिकथा, वैद्यक, ज्योतिष, व्याकरण, धनुर्विद्या, जलसंतरण, संगीत, नाटक, अश्वारोहण, कोकशास्त्र, चौर्यविद्या, चातुर्य ।

पच्चीस—तत्त्व—प्रकृति, पुरुष, महत्, अहंकार, मन, पंचज्ञानेन्द्रियां, पंचकर्मेन्द्रियां, पंचतन्मात्र, पंचमहाभूत ।

इनके अतिरिक्त चौसठ कलाएं, चौरासी आसन आदि ।

सूफी-प्रतीक—ज्ञानमार्गी संतों की तरह प्रेमपंथी संतो ने भी प्रतीकों का सहारा लिया है । ज्ञानियों ने किसी प्रबंध की रचना नहीं की अतः उनके प्रतीकों में यदि कुछ विशृंखलता पायी भी जाय तो वह उतनी बुरी नहीं लगती जितनी धारावारिक कथाओं की असंतुलितता । सूफी काव्य प्रायः सभी प्रतीकात्मक हैं, पर उनका दुर्भाग्य ऐसा है कि सभी दूषणसहित हैं । जायसी की कहानी के प्रतीक कितने पानी में हैं इस पर हम विचार कर चुके हैं । प्रायः सभी सूफी संतों के प्रतीकों की यही कहानी है । जायसी के 'पद्मावत' के प्रतीकों की सूची इस प्रकार है—

---

१. चौसठ दीआ जोय के चौदह चंदा माँहि ।
तेहि घर किसका चानणो जेहि घर गोविन्द नाहि ॥

चित्तौड़—तन

रतनसेन—मन

सिंहल—हृदय (मन)

पदमावती—बुद्धि

नागमती—दुनिया धंधा (माया)

अल्लाउद्दीन—माया

राघवचेतन—शैतान (माया)

हीरामन सुग्गा—गुरु

इस सूची मे कुछ बातें बिल्कुल समझ में नहीं आतीं। मन के दो प्रतीक—सिंहल और रतनसेन—मानने का क्या अभिप्राय है और माया के तीनों प्रतीकों में पार्थक्य क्या है? साधारणतः दर्शन में विद्या और अविद्या रूपों में दो प्रकार की माया मानी जाती है, पता नहीं चलता यह तीसरी माया कौन-सी चीज है? फिर, बुद्धिरूपिणी पद्मावती के साथ रतनसेन (मन) का संयोग हो जाने पर राघवचेतन (माया) विच्छेद कैसे करा देता है और नागमती (माया) तथा पद्मावती के साथ रतनसेन समान रूप से व्यवहार क्यों करता है? फिर, जब दोनों में एक गोरखधंधा (माया) ही है तो दोनों एक ही साथ चिता पर बैठकर भस्म क्यों होती हैं? सच तो यह है कि अल्लाउद्दीन एवं राघवचेतन इन दोनों को मायारूप में कथानक के पूर्वार्द्ध में ही आना उचित था। पद्मावती के प्रेम के सामने नागमती के प्रेम को ही अधिक दिव्य दिखलाकर कवि ने एक और समस्या खड़ी कर दी है। इसी तरह अनेकानेक झमेले सूफी